सहजानंद शास्त्रमाला

आप्त परीक्षा प्रवचन

भाग-1

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

आप्तपरीक्षा-प्रवचन

(१-२ भाग)

प्रवक्ता
अध्यात्म योगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५
क्षु० मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' जी महाराज

सहजानन्द स्वाध्याय मण्डल
ग्रन्थ क्रमांक............................

प्रकाशक
सुमेर चन्द जैन, प्रधान मन्त्री
भारतवर्षीय वर्णी जैन साहित्य मन्दिर
१५, प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)

प्रति १००० सन् १९७३ मूल्य ७ रुपये

सहजानन्द स्वाध्याय मण्डल
ग्रन्थ क्रमांक..........................

आप्तपरीक्षाप्रवचन प्रथमद्वितीय भाग

[प्रथम भाग]

प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थबोधदीधितिमालिने ।
नमः श्रीजिनचन्द्राय मोहध्वांतप्रभेदिने ॥ १ ॥

तत्त्वार्थसूत्रकारके मंगलाचरणमें वन्दनीय आप्तकी परीक्षामें प्रकृत ग्रन्थका निर्माण—जान लिया है समस्त तत्त्वार्थको जिसने ऐसा ज्ञानसूर्यस्वरूप और मोहरूप अंधकारको नष्ट करनेवाले जिन चन्द्रस्वरूप प्रभुको मेरा नमस्कार हो। यह आप्तपरीक्षा ग्रन्थ है। तत्त्वार्थसूत्रकी रचनामें जो मङ्गलाचरण आया है उस मङ्गलाचरणमें हितोपदेश वीतराग सर्वज्ञदेवको नमस्कार किया है। जो मङ्गलाचरण इस प्रकार है :—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये ॥

इसका अर्थ है कि मोक्षमार्गके नेताको, कर्मरूपी पहाड़के भेदनेवालेको और समस्त तत्त्वोंके जाननहारको उन गुणोंकी प्राप्तिके लिए नमस्कार हो। इस मङ्गलाचरणके स्पष्टीकरणके लिए यह आप्तपरीक्षा ग्रन्थ बना है। इस मङ्गलाचरणको सुनकर एक यह जिज्ञासा हो सकती थी कि मोक्षमार्गका नेता यह वीतराग सर्वज्ञ ही कैसे हो सका? अन्य कोई आप्त क्यों नहीं माना गया? तब आप्तकी परीक्षा करना आवश्यक हो गया। आप्तकी परीक्षा होती है आप्तके कहे हुए वचनोंकी मीमांसा करनेसे जिन गुरुवोंने जो–जो वाणी कही है उसपर पूर्वापर विचार करनेसे यदि वह युक्ति और शास्त्रके अविरुद्ध बनता है तो उसे आप्त कहा जा सकता है। जिसके वचनोंसे युक्तिसे भी विरोध आये और स्वयं पूर्वापर विरोधी वचन कहदे तो उसे आप्त न कह सकेंगे। बस इस कुञ्जीके आधारपर आप्तकी परीक्षा की जायगी। उस आप्तपरीक्षा ग्रन्थके प्रारम्भमें श्री विद्यानन्द स्वामीने यह मङ्गलाचरण किया है कि जिसने समस्त तत्त्वार्थको जान लिया है ऐसा ज्ञानसूर्य और जिसने मोह अंधकारको दूर कर दिया है ऐसे जिनचन्द्र सर्वज्ञदेवको नमस्कार हो।

शास्त्रके आदिमें मङ्गलाचरण किये जानेके कारणकी जिज्ञासा—

अब इस मङ्गलाचरणके बाद ग्रन्थके वक्तव्य विषयकी प्रारम्भिक मीमांसापर उतरिये! सर्वप्रथम जिज्ञासा यह है कि जो सूत्रकारने मङ्गलाचरण किया है वह परमेष्ठी प्रभुका स्तोत्र शास्त्रके आदिमें क्यों किया गया ? आप्तका परीक्षण करनेसे पहिले इसपर विचार किया जारहा है कि शास्त्रकार आचार्यने शास्त्रके आदिमें परमेष्ठीका स्तोत्र किस कारणसे किया है ? वैसे तो जो वीतराग आचार्य ग्रन्थ-रचना करते हैं—सभी मनसे, वचनसे, कायसे किसी भी प्रकार परमेष्ठीका स्तवन कर लेते हैं। स्वयं ही मङ्गलाचरणपर आप्तकी परीक्षा करनेके लिए बनाये जा रहे इस ग्रन्थमें परमेष्ठीका स्तवन किया गया है। इस ग्रन्थमें मङ्गलाचरणमें कहा है कि प्रभु सूर्यकी तरह हैं और चन्द्रकी तरह हैं। जैसे सूर्यके उदयमें समस्त पदार्थोंका भली प्रकार प्रकाश हो जाता है इसी प्रकार सर्वज्ञदेवके ज्ञानमें त्रिलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ प्रतिभासित हो गए हैं, ज्ञानमें द्रव्य गुण, पर्याय सभी प्रकट ज्ञात हुए हैं। तो नाना पदार्थोंका प्रतिभास हुआ है उसके लिए यहाँ सूर्यकी उपमा दी गई है। जैसे सूर्य अपनी हजारों किरणों द्वारा पदार्थको प्रकाशित कर देता है इसी प्रकार यह केवलज्ञानरूपी सूर्य अपनी अनन्त किरणों द्वारा समस्त तत्त्वार्थोंका प्रतिभास कर लेता है। ये वीतराग सर्वज्ञदेव चन्द्रकी तरह बताये गए हैं। जैसे पूर्णचन्द्रका उदय अंधकारको भेद देता है, पूर्ण चन्द्रकी किरणें जहाँ छिटक रही हैं वहाँ अंधकार तो नहीं रहता। इसी प्रकार जहाँ भगवानके वीतरागता और स्वच्छता प्रकट हुई है वहाँ मोहरूप अन्धकार न रह सकेगा। चन्द्रकी उपमा देनेका एक कारण यह भी है कि जैसे चन्द्रमा अन्धकारको दूर करता है, साथ ही दिनभरके ग्रीष्मके संतापको भी दूर कर देता है, इसी प्रकार जगतके जीवोंको अनादि कालसे मोहका संताप लग रहा था, उस मोहसंतापको भी समाप्त कर दिया है प्रभुने, इस कारण वे जिनेन्द्र चन्द्रकी तरह हैं। ऐसे अद्भुत सूर्य चन्द्र स्वरूप परमेष्ठीको नमस्कार किया गया है। शास्त्रकारने भी अपने मङ्गलाचरण द्वारा भगवत् परमेष्ठीका स्तवन किया है। तो उस हीकी मीमांसा चलेगी कि शास्त्रके आदिमें परमेष्ठीका स्तोत्र किस कारणसे किया गया है ? इसके समाधानमें कहते हैं:

श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः ।
इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवाः ॥ २ ॥

भगवत्परमेष्ठीके गुणस्तोत्रसे श्रेयोमार्गकी सिद्धि होनेके कारण शास्त्रादिमें मुनिपुङ्गवों द्वारा प्रभुगुणस्तोत्रका विधान—परमेष्ठीके प्रतापसे मोक्षमार्गकी भली प्रकार सिद्धि होती है। इस कारणसे मुनिश्रेष्ठने शास्त्रके आदिमें परमेष्ठीके गुण स्तोत्रको किया है। परमेष्ठीका अर्थ है जो परमपदमें स्थित हो। परमपद है वह जहाँ पूर्णतया वीतरागता प्रकट हो गई हो और सर्वज्ञता भी प्रकट हो गयी हो। ऐसे पदको परमपद कहते हैं। इस परमपदमें स्थित जो परम आत्मा है

उनको भगवत् परमेष्ठी कहते हैं। उनका प्रसाद क्या है ? स्वच्छता। उनका प्रसाद उनको ही आत्मलाभ दे रहा है। पर जो पुरुष ऐसे परमेष्ठीके गुणोंका ध्यान करता है उसका भी मन प्रसन्न हो जाता है। प्रसन्न होनेका अर्थ है स्वच्छ हो जाना। तो भले मनसे उपासना किया गया भक्त प्रसन्न कहा जाता है। वस्तुतः यह प्रसन्नता भक्त की है जो कि भक्तने परमेष्ठीके गुणोंका ध्यान करके अपने आत्मामें निर्मलता प्रकट की है। पर उसके आश्रयभूत होनेके कारण उपचारसे भगवान परमेष्ठीका प्रसाद कहा जाता है, और कृतज्ञ जन इस ही प्रकारसे निरखते हैं। तो भगवान परमेष्ठीके प्रसादसे मोक्षमार्गकी सिद्धि होती है इस कारण मुनिश्रेष्ठने शास्त्रके आदिमें भगवत् परमेष्ठीके गुणोंका स्तोत्र किया है। श्रेयोमार्गका अर्थ है श्रेयका कल्याणका मार्ग।

परनि:श्रेयस व अपरनि:श्रेयसके भेदसे श्रेयके दो प्रकार—श्रेय दो प्रकारके होते हैं (१) परश्रेय और (२) अपरश्रेय। श्रेय, निश्रेयस, मोक्ष, निर्वाण ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं। तो नि:श्रेयस दो प्रकारका कहा गया है—परनिश्रेयस और अपरनिश्रेयस। परनिश्रेयसका अर्थ है उत्कृष्ट कल्याण, जिसके आगे और उत्कृष्टता न रहे अर्थात् पूर्ण उत्कृष्ट है। उस पराकाष्ठारूप कल्याणको परनिश्रेयस कहते हैं। परनिश्रेयस समस्त कर्मोंका मोक्षस्वरूप है। सूत्रकारने भी स्वयं कहा है कि बंधके हेतुओंका अभाव होनसे और कर्मकी निर्जरा होनेसे समस्त कर्मोंका सदाके लिए पूर्णतया छुटकारा हो जानेका नाम मोक्ष है। तो यह परमोक्ष सिद्ध भगवानके कहा गया है। और उस परमोक्षसे पहिले अपरमोक्ष होता है -वह है आर्हंत्यरूप। अरहंत भगवान भी मुक्त कहे जाते हैं। वे अपरमुक्त कहलाते हैं। घातिया कर्मोंका क्षय होनेसे अनन्त चतुष्टय स्वरूपका जो लाभ होता है उसको अपर निश्रेयस कहते हैं। कर्म ८ प्रकारके होते हैं जिनमें ४ घातिया कर्म है और ४ अघातिया कर्म हैं। घातिया कर्म हैं—ज्ञानावरण दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय। जो कर्म ज्ञानको आवृत करे सो ज्ञानावरण है। ज्ञानावरणका क्षय हो जानेसे अरहंत भगवानके अनन्तज्ञान प्रकट हुआ है। जो दर्शन गुणका घात करे वह दर्शनावरण है। इस कर्मके क्षय हो जानेसे अरहन्त देवके अनन्तदर्शन प्रकट हुआ है। जो सम्यक्त्व और चारित्रको बेसुध करदे, मोहित करदे इस आत्माको सम्यक्त्व और चारित्रसे पतित करदे, शिथिल करदे उसे कहते हैं मोहनीय कर्म। मोहनीयकर्मका अभाव होनेसे परम प्रसाद प्रकट हुआ है जिससे वहाँ अनन्त सुखकी व्यक्ति हुई है वीर्यान्तराय कर्म कहते हैं आत्म शक्तिमें विघ्न डालने वाले कर्मको। कर्मके क्षय होनेसे प्रभुके अनन्तवीर्य प्रकट हुआ है। इस प्रकार अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्तिरूप परम आत्माके अपर निश्रेयस कहा जाता है। यद्यपि गुण विकासकी दृष्टिसे सिद्ध भगवन्तमें और अरहंत भगवन्तमें कोई अन्तर नहीं है वह भी स्वच्छ सर्वज्ञ ज्ञानानन्दमय है और अरहंत भगवान भी स्वच्छ सर्वज्ञ और आनन्दमय हैं। फिर भी अघातिया कर्मका सद्भाव

होनेसे शरीरमें रहना, मध्यलोकमें रहना आदिक बाह्य बातें पाई जा रही हैं और सिद्ध भगवन्तमें ये बाह्य सम्पर्क भी नहीं रहे, विशुद्ध केवल आत्मा ही आत्मा परिपूर्ण विकसित है, इस कारणसे सिद्ध भगवानके पदको परनिश्रेयस कहते हैं। और अरहंत भगवानकी अवस्थाको अपरनिश्रेयस कहते हैं।

समस्त कर्म विप्रमुक्त आत्मविशेषकी सिद्धि—इस प्रसङ्गमें यह बात विचारणीय हो जाती है कि क्या किसी आत्म विशेषके समस्त कर्मोंका मोक्ष भी हो सकता है? परनिश्रेयसके लक्षणमें कहा गया है कि जहाँ समस्त कर्मोंका मोक्ष हो जाय उसे परनिश्रेयस कहते हैं। तो क्या कोई आत्मविशेष ऐसा भी अद्भुत प्रबल हो जाता है कि उसके समस्त कर्मोंका क्षय हो जाय? इस मीमांसाका विचार कर रहे हैं कि हाँ कोई आत्मविशेष ऐसा भी हो जाता है कि जिसके समस्त कर्मोंका विप्रमोक्ष होजाता है। इसके समर्थन करने वाले प्रमाण मौजूद हैं। देखिये! युक्तिबलसे अनुमान प्रयोगसे विचार कीजिए। कोई आत्मा विशेष समस्त कर्मोंसे पूर्णतया छुटकारा पा लेता है, क्योंकि समस्त बंधहेत्व भाव अर्थात् सम्वर और निर्जरावान होनेसे। इस अनुमान प्रयोगमें प्रतिज्ञा तो यह की गई है कि कोई आत्मा विशेष समस्त कर्मोंसे छुटकारा पा लेता है, और इसको सिद्ध करनेके लिए साधन यह बताया गया है कि चूंकि वह आत्मा सम्वर और निर्जरावान हुआ है, सम्वर कहते हैं बन्धके कारणोंका अभाव होनेसे। तो सभी कर्मबन्धके कारण उसके दूर हो गए हैं और उसने कर्मनिर्जरा भी की है। तो जहाँ नवीन कर्मोंका आना रुक जाय और सत्तामें रहने वाले कर्मोंकी पूर्णतया निर्जरा हो जाय वहाँ ऐसा अवकाश होता ही है कि एक भी कर्म न रहे। तो समस्त कर्मोंका अभाव होनेका ही नाम परनिश्रेयस है। इस अनुमान प्रयोगके समर्थनमें व्यतिरेक व्याप्तिके अनुसार विचार कीजिए अनुमान प्रयोगमें यह बताया गया है कि कोई आत्मा विशेष समस्त कर्मोंसे छुटकारा पा लेता है क्योंकि समस्त बन्धहेत्व भाव और निर्जरा वाला होनेसे। तो व्यतिरेक व्याप्तिमें साध्यके अभावमें साधनका अभाव बताया जाता है और व्यतिरेक व्याप्ति अनुमान प्रयोगको सिद्ध करनेके लिए पूर्ण समर्थ हुआ करती है। जैसे कोई अनुमान प्रयोग करता है कि इस पर्वतमें अग्नि है धूम होनेसे। तो व्यतिरेक व्याप्ति द्वारा यों बताया जाता है कि जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धूम नहीं होता और यह व्याप्ति अन्वय व्याप्तिसे भी प्रबल है। और, इस व्यतिरेक व्याप्ति द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि यहाँ धूम है इस कारण अग्नि होनी ही चाहिए। इसी तरहकी व्यतिरेक व्याप्ति इस अनुमान प्रयोगमें बताई जा रही है। जो पुरुष समस्त कर्मोंसे छूटा हुआ नहीं है वह समस्त सम्वर निर्जरावान नहीं है, जैसे संसारके प्राणी, इनमें सारे कर्म मौजूद हैं। सम्वर निर्जरा भी नहीं हो रही है, परन्तु कोई आत्मविशेष यदि समस्त बन्धहेत्व भाव और निर्जरा वाले हैं तो वे नियमसे समस्त कर्मोंसे छुटकारा पा लेते हैं।

जीवके बन्धकी सिद्धिमें आशङ्का व उसका समाधान—उक्त अनुमान प्रयोगको सुनकर कोई शङ्काकार यह कह रहा है कि पहिले तो आत्माके बन्धकी सिद्धि ही कर लीजिए। जब पहिले आत्मामें बन्धकी सिद्धि कर सकें तब आगे यह प्रयत्न कीजिए कि कोई आत्मा विशेष समस्त कर्मोंसे छूटा हुआ भी हो जाता है। जब आत्माके बन्ध ही सिद्ध नहीं हैं और बन्धके हेतु ही सिद्ध नहीं हैं तब बन्ध हेतुके अभाव वाला है कोई आत्मा विशेष यह सिद्ध होगा ही कहाँसे ? प्रतिषेध तो तब किया जाय जब कि कोई विधि होती हो। प्रतिषेध सभी विधिपूर्वक ही हुआ करते हैं, तो पहिले यह ही सिद्ध कर लीजिए कि आत्माके साथ बन्ध लगा हुआ है। बन्ध ही सिद्ध नहीं हो रहा है तो जब आत्माके साथ बन्ध ही असिद्ध है तो बन्धका अभाव होनेपर फिर निर्जरा किसकी बताओगे ? क्योंकि निर्जराका स्वरूप कहा गया है—बन्धफलका अनुभव करना सो निर्जरा है। जो जहाँ बन्ध ही सिद्ध नहीं है तो उसका फल अनुभवमें आयगा ही कहाँसे ? तो बन्ध असिद्ध है, बन्धफलका अनुभवन असिद्ध है, तो समस्त कर्मोंकी निर्जरा वाला है कोई आत्मविशेष यह भी असिद्ध हो जाता है तो जब बताये गये अनुमान प्रयोगमें साधन ही असिद्ध हो रहा है, न तो बन्ध हेतुवोंका अभाव सिद्ध है और न कर्मनिर्जरा सिद्ध है। तब फिर असिद्ध साधनसे साध्यकी सिद्धि कैसे की जा सकती है ? कोई भी साधन असिद्ध होता हुआ साध्यकी सिद्धि करनेमें समर्थ नहीं हो सकता है। इस प्रकार इस प्रसङ्गमें शङ्काकारका यह मन्तव्य है कि न बन्ध सिद्ध है न बन्ध हेतुवोंका अभाव सिद्ध है, न कर्मनिर्जरा सिद्ध है। तब कोई आत्म विशेष समस्त कर्मोंसे छुटकारा पा लेता है, यह सिद्ध हो ही नहीं सकता है। शङ्काकारकी उक्त शङ्काका समाधान करनेके लिए आचार्य कहते हैं कि शङ्काकारने यहाँ अपनी आशङ्का बिना विचारे ही की है। शङ्काकारका मंतव्य है कि बन्धहेत्वभाव और कर्मनिर्जरा वाला होना असिद्ध है और इस असिद्धताका मूल कारण बताया है कि आत्मामें बन्ध ही सिद्ध नहीं है। सो यह शङ्का अविचारितरम्य ही है। सो अब यहाँ यही समझा जा रहा है कि बन्धकी सिद्धि प्रमाणसे प्रसिद्ध है। उसके विषयमें अनुमान प्रयोग है कि यह संसारी जीव बन्ध वाला है परतन्त्रता होनेसे। जैसे किसी बड़े दृढ़ सांकलमें स्तम्भसे बंधा हुआ हाथी परतन्त्र है इस कारण वह बन्धवाला है। बड़ा बलशाली हाथी जब किसी शृङ्खलासे किसी पेड़ या स्तम्भमें बाँध दिया जाता है तो वह बन्ध वाला है, यह कैसे समझा गया ? यों कि वह परतंत्र हो गया। इसी प्रकार यह संसारी जीव जब परतंत्र नजर आ रहा है तो उससे सिद्ध होता है कि यह संसारी जीव बन्धवान है। यह बात स्पष्ट समझमें आ ही रही है, क्योंकि इसके देह परिग्रह लग रहा है तो हीन साधनका परिग्रह लगा हुआ होनेसे यह संसारी जीव परतंत्र है यह भली भाँति सिद्ध होता है। जैसे कि कोई काम वेदनाके वेगसे परतंत्र होता हुआ वेश्याके घरका परिग्रह बना लेता है तो ऐसा वह श्रोत्रिय ब्राह्मण भी हो तो वह परतंत्र ही तो कहा जाता है। इसी प्रकार जब देह परिग्रह लगा है तो यह

संसारी जीव भी परतंत्र है।

संसारी जीवके पारतन्त्र्य व बन्धनकी सिद्धि—यहाँ मूल जिज्ञासा यह हुई थी कि शास्त्रकारोंने शास्त्रके आदिमें परमेष्ठीका स्तोत्र किस कारणसे किया है ? उसके समाधानमें बताया गया था कि चूंकि परमेष्ठीके प्रसादसे मोक्ष मार्गकी सिद्धि होती है इस कारणसे मुनिश्रेष्ठने शास्त्रके आदिमें परमेष्ठीके गुणोंका स्तवन किया है। इसी सम्बन्धमें मोक्षके सम्बन्धमें विवरण किया गया था कि मोक्ष दो प्रकारका होता है। परमोक्ष और अपरमोक्ष। परमोक्ष नाम है समस्त कर्मोंसे छुटकारा हो जाने का। तो इस प्रसङ्गको सुनकर शङ्काकारने यह कहा कि समस्त कर्मोंसे किसीका छुटकारा हो जाता है यह बात सिद्ध तो कीजिए। तब इसकी सिद्धिमें अनुमान प्रयोग किया गया था कि कोई आत्मा विशेष सर्व कर्मोंसे मुक्त हो जाता है, क्योंकि किसी आत्म विशेषमें समस्त कर्मोंके बन्ध हेतुओंका अभाव पाया जाता है और कर्मोंकी निर्जरा पाई जाती है। इस अनुमान प्रयोगपर शङ्काकारने यह आपत्ति दी थी कि पहिले यह तो सिद्ध कर लेवें कि जीवोंमें कर्मबन्ध होता है। बन्ध ही जब सिद्ध नहीं है तब बन्धके हेतुओंका अभाव और कर्मका क्षय व निर्जरा सिद्ध करना तो व्यर्थका प्रयत्न है। तब यहाँ बन्धकी सिद्धि की जा रही है कि जीव बन्धनवान है, क्योंकि वह परतन्त्र हो रहा है। जो जो परतंत्र नजर आये समझना चाहिए कि यह बन्धनवान है। जैसे बड़ी मजबूत श्रृंखलासे खम्भेके साथ हाथीको बाँध दिया जाय तो वह परतंत्र नजर आता है, उससे सिद्ध है कि यह बन्धनवान है, तो इसी प्रकार संसारी जीव भी परतंत्र हैं, इस कारणसे वे बन्ध वाले प्रसिद्ध ही हो जाते हैं। अब यह जिज्ञासा होना प्राकृतिक है कि कैसे जानें हम कि ये संसारी जीव परतंत्र हैं ? लोकमें अनेक मनचले पुरुष ऐसे दिख रहे हैं जो किसीके वश नहीं रहना चाहते या नहीं रहते। अपने दिल माफिक स्वतंत्रतासे जो मनमें आया सो ही करते हैं तो वे परतंत्र तो नहीं नजर आये फिर कैसे सिद्ध हुआ कि ये संसारी जीव पराधीन हैं ? उसकी सिद्धि करनेके लिए यह अनुमान दिया गया कि ये संसारी जीव परतंत्र हैं। क्योंकि इनके साथ हीन साधनका परिग्रह जुड़ा हुआ है। जो पुरुष हीन साधनके परिग्रहमें लगाव रख रहे हैं समझना चाहिए कि वे परतंत्र हैं। जैसे बड़े उच्च घरानेका भी कोई ब्राह्मण हो और उसे काम वेदनाके कारण वेश्यागृहका परिग्रह लग गया हो तो चूंकि वह हीन स्थान है, वेश्या घर जघन्य जगह है, तो हीन स्थानमें रुचि कर लिया, हीन स्थानका परिग्रह लगा लिया तो उससे सिद्ध है कि यह ब्राह्मण अब पराधीन हो गया है। तो ऐसे ही इन संसारी जीवोंकी भी बात समझिये कि चूंकि इसने हीन स्थानका परिग्रह बनाया है इस कारण ये सभी संसारी जीव परतंत्र हैं।

शरीरकी हीनस्थानरूपता—हीनस्थान क्या चीज है ? शरीर। अहो, इस जीवके लिए शरीरका सम्बन्ध होना कलंक है, हीन साधन है। जैसे शरीरके सम्बन्धके

कारण ही जीवकी बरबादी हो रही है, यह मोही जीव इस शरीरको पाकर अहंकार ममकार करता है। इस शरीरको निरखकर ऐसा अनुभव करता है कि यह मैं हूं और संसारमें बड़ा श्रेष्ठ हूं, अपनेको बड़ा चतुर मानता है और शरीरके साथ बंधा है, फंसा है, यह कितनी परतंत्रता है और यह कितनी बरबादी है, इसका भी कुछ ख्याल नहीं रख रहा है। तो हीन स्थान है शरीर, और शरीरका परिग्रह रखने वाले ये संसारी जीव हैं। यह बात प्रसिद्ध ही है। अब इसीका सम्बन्ध रखने वाली एक जिज्ञासा होती है कि यह शरीर हीन स्थान कैसे कहा जा रहा है ? जिसे हीन स्थान का परिग्रह बताकर जीवको परतंत्र कहा जा रहा वह शरीर हीन स्थान किस तरह है ? उसकी सिद्धि करनेके लिए एक अनुमान प्रयोग सुनो ! शरीर हीन स्थान है, क्योंकि यह आत्माके दुःखका कारणभूत है। जो जो बात आत्माके दुःखका कारणभूत हो वह इसके लिए हीन स्थान है। जैसे कारागृह। कोई पुरुष कैदमें रहे तो वह कैद चूंकि उसके लिए दुःखका कारण है इस कारण वह हीन स्थान है। शरीर दुःखका कारण है यह बात प्रसिद्ध नहीं है। जगतमें सब जीवोंपर दृष्टि डालकर परख लीजिए कि सभी जीव इस शरीरके कारण ही दुःखी हो रहे हैं। इन्हीं मनुष्योंको देखिये ! शरीर लगा है तब क्षुधा तृषा रोग आदिक अनेक प्रकारकी आपत्तियाँ इस जीवपर आती हैं और उन आपत्तियोंमें इस जीवको क्लेश सहना पड़ता है। मानो किसीके पुण्योदय है, भूख प्यास आदिककी वेदनायें शान्त करनेकी बड़ी अच्छी सुविधायें हैं। अनेकों बार खाना पीना मनमाने ढङ्गसे रहना आदिकी सुविधायें हैं उसको भी जब किसी प्रकारका रोग हो जाता है तो वह उस रोगसे परेशान रहा करता है। कैसा ही कोई पुण्यवान पुरुष हो उसको भी ये रोग आदिककी अनेक व्याधियां हैरान कर डालती हैं। बड़े बड़े पुण्यवन्त पुरुष भी इन रोगोंके शिकार होते पाये गए हैं। तो यह शरीर दुःखका ही कारण रहा। और, मानो कोई समय ऐसा व्यतीत हो कि कोई रोग ही न हो तो भी शरीरको निरखकर जो माने कि यह मैं हूं उसके कारण माने कि यह मेरी माता है, पिता है पुत्र है, शत्रु है, मित्र है, आदिक, ऐसा अन्य लोगोंमें ममकार करने लगा। अब जहाँ इसको ममता उत्पन्न हुई वह उसके आधीन हो गया। उसकी सेवा खुशामदके लिए अपनी सारी जिन्दगी लगाने लगा। तो दुःखका कारण यह शरीर बना ना। न होता शरीर तो क्यों ऐसा अहंकार ममकार करता यह? और फिर दुःखका हेतुभूत है यह शरीर। इसको अधिक क्या बताया जाय ? कहाँ तो यह आनन्द धाम ज्ञानमात्र यह हरम पवित्र आत्म द्रव्य जो किसी शरीरके बन्धनमें यह जन्मे मरे, फिर जन्में मरे, उन सब भवोंमें इस शरीरके साथ रहा करता है। यह शरीर दुःखका कारणभूत है, इस कारणसे यह हीनस्थान है। ऐसा हीनस्थान शरीर जिसका परिग्रह लग गया वह पुरुष परतंत्र है।

देवोंके शरीरकी भी हीनास्थानरूपता—अब यहाँ कोई शङ्काकार कहता

है कि यहाँ यह बताया जारहा है कि शरीर हीनस्थान है दुःखका कारणभूत होनेसे। लेकिन यह बात सब जगह ठीक नहीं बैठती। देखो! देवोंका शरीर जो वैक्रियक शरीर है, जिनको हजारों वर्षोंमें भूख-प्यास लगती है, सो उनके कण्ठसे अमृत झर जाता है और वे तृप्त हो जाते हैं, उनके शरीरमें हाड़, खून आदिक नहीं हैं, उनको शारीरिक रोग नहीं हुआ करता है। तो ऐसा बढ़िया शरीर देवोंको मिला हुआ है वह तो दुःखका कारण नहीं बन रहा। तब उक्त अनुमान प्रयोगमें जो हेतु दि-ा है वह पक्षमें अव्यापक है अर्थात् शरीर हीनस्थान है दुःखका कारण होनेसे। तो सारे शरीर दुःखके कारण हैं नहीं, सब शरीरोंमें दुःख हेतुपना व्याप नहीं रहा है। तब यह अनुमान असिद्ध हो गया? इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि भली भाँति विचार करके निर्णय करेंगे तो यह प्रमाणसिद्ध पायेंगे कि देवोंका शरीर भी दुःखका कारणभूत है, क्योंकि भले ही वे देव वैक्रियक शरीर वाले होनेसे उनके क्षुधा, तृषा आदिक का दुःख नहीं रहता अथवा खाँसी, ज्वर आदिक रोग वहां नहीं रहते, लेकिन जिस समय उन देवोंका मरण होता है, आयुका क्षय तो उनके भी हुआ करता है, चाहे कितने ही सागरकी आयु हो, लेकिन जब आयुका अन्त होता है तो मरण होता है। तो मरणकालमें उनको कितना दुःख हुआ करता है। वह दुःख यहाँके मनुष्योंके मरण समयके दुःखसे भी कई गुना दुःख है। वे समझ रहे हैं कि मेरा सुन्दर शरीर, वैक्रियक शरीर, रोगरहित शरीर, जहाँ कभी बुढ़ापा नहीं आया करता, ऐसे भले शरीरसे छुटकर अब मुझे गन्दे शरीरमें जन्म लेना होगा। यह नियम है कि देव मर कर मनुष्य या तिर्यञ्च होते हैं, उनको कोई अन्य गति नहीं होती। देव मरकर पुनः देव नहीं होते, तथा देव मरकर नारकी भी नहीं होते। वहाँ भी वैक्रियक शरीर है लेकिन वह अशुभ वैक्रियक है। तो देव मरकर देव नहीं होते, मनुष्य होते हैं। सो देखिये! मनुष्यका और तिर्यञ्चोंका शरीर वही गंदा शरीर है, देव मरकर तिर्यञ्च होगा तो या तो पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च होगा या एकेन्द्रिय। देव मरकर दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय और चार इंद्रिय जीव नहीं होते। एकेन्द्रिय जीव हुए तो जड़की तरह जिन्दगी उनकी गुजरेगी। वृक्ष हुए, खड़े हैं, हिल डुल नहीं सकते, कोई व्यवहार नहीं हो सकता पृथ्वी, जल, आदिक कुछ भी हो गए तो वहाँ भी उनको दुःखी ही रहना पड़ रहा है। और पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च हुए तो हाड़ मांस, खून आदिकके पिण्ड ही तो पायेंगे। मनुष्य हुए तो यहाँ भी हाड़ मांस आदिक अपवित्र शरीर पायेंगे। तो उन देवोंको मरते समय बहुत कठिन दुःख होता है। तब शरीर दुःखका कारणभूत है, यह बात जो कही गई है वह सङ्गत है, पक्षमें अव्यापक हेतु नहीं है। इसके अतिरिक्त अन्य भी बात समझिये कि उन देवोंके भी जब शरीर लगा हुआ है तो शरीरमें आपा बुद्धि करनेमें और वहाँ की देवांगनाओंको ये मेरी देवांगनायें हैं इस तरहकी बुद्धि रखनेसे उनको प्रसन्न करनेमें कितना आकुल व्याकुल होना पड़ता है। एक शरीरका ही रोग तो नहीं है, पर मानसिक दुःख तो उनको बहुत अधिक है। एक दूसरेकी सम्पत्तिको

देखकर देव वहां झूरता रहता है। क्यों यह झूरना बना हुआ है? यों कि शरीरको मानते कि यह मैं हूं और उसके सम्बन्धमें यह चिन्तन होता कि मेरेको ऋद्धि कम है, इसके कितनी अधिक है तो ये सारे मानसिक क्लेश भी तो इस शरीरके सम्बन्धसे हुए। तो यह शरीर दुःखका कारणभूत है, यह बात भली प्रकार सिद्ध है।

बन्धकी सहेतुकताकी सिद्धि—अब यहाँ निर्णय रखिये कि शरीर दुःखका कारणभूत है इस कारण वह हीन स्थान है, और हीन स्थानभूत शरीरका इस आत्मा को परिग्रह लगा हुआ है। इस कारणसे यह आत्मा परतंत्र है और परतंत्र होनेसे यह बन्धवान है यह सिद्ध हो जाता है। इस तरह यह प्रसिद्ध हुआ कि संसारी आत्मा बन्धवान है। जब जीवोंकी बन्धवत्ता सिद्ध हो गयी तब आगे यह बात भी सिद्ध हो जायगी कि कोई आत्मा विशेष ऐसा है कि जिस के बन्धके हेतुवोंका अभाव है और बन्धकी निर्जरा अथवा कर्मकी निर्जरा हो रही है, इस प्रकार जब सम्वर और निर्जरावान कोई जीव होता है, यह सिद्ध होता है तो यह सिद्ध होना स्वाभाविक ही है कि फिर कोई आत्मा समस्त कर्मोंसे छूटा हुआ हो जाता है। बस जो सब कर्मोंसे विप्रमुक्त है उसीको कहते हैं परमुक्त। उसका होगया पद विश्रेयस, इस तरह संक्षेपसे बन्धकी सिद्धि की गई जहाँ बन्ध सिद्ध हो गया वहाँ यह भी सिद्ध हो जायगा कि बन्धके हेतु भी कोई हुआ करते हैं, क्योंकि यदि बन्धको अहेतुक मान लिया जायगा तब बन्ध नित्य हो बैठेगा। जो-जो पदार्थ अहेतुक होते हैं वे पदार्थ नित्य हो जाया करते हैं। जीवकी सत्ता अहेतुक है, जीवकी सत्ताको किसीने बनाया नहीं है। तो सिद्ध है कि यह जीव नित्य है। जो कार्य अहेतुक होता है वह नित्य हुआ करता है। ऐसा अन्य दार्शनिकोंने भी कहा है कि जो सत् है किन्तु कारण रहित है वह नित्य होता है। सत् है तो उसकी सत्ता सिद्ध होगयी। अब कारण उस का कुछ है नहीं। तो जिसका कारण कुछ नहीं है उसका विनाश फिर कैसे होगा? विनाश हुआ करता है कारण वाले कार्यका। कारण खतम हो गया या विपरीत कारणका योग हो गया तो उसका विनाश हो जाता है। तो जो सत् है और कारण रहित है वह नित्य हुआ करता है, ऐसा नाना दार्शनिकोंने भी कहा है। सो यदि वह बन्ध अहेतुक मान लिया जायगा तो यह नित्य बन बैठेगा। इस तरत यह सिद्ध हुआ कि संसारी जीवमें बन्ध लगा हुआ है, और जब बंध होता है तो उसका कोई कारण भी हुआ करता है।

बन्धके हेतुओंका निर्देश—अब जरा कारणपर विचार करियेगा कि बन्ध के कारण क्या हुआ करते हैं? बन्धके कारण ५ प्रकारके होते हैं। (१) मिथ्या दर्शन, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग। ये ५ बंधके कारण हैं और किस तरह कारण बनते हैं इसको स्पष्ट समझनेके लिए जरा बन्धके बारेमें कुछ विशेष जानकारी कीजिए। बन्ध संक्षेपसे दो प्रकारका कहा गया है (१) भाव

बन्ध और (२) द्रव्यबन्ध । आत्माके साथ किन्हीं विषय विपरीत भावका बन्धन लग जाय वह तो कहलाता है भावबन्ध और आत्मद्रव्यके साथ कुछ अन्य कार्माण द्रव्योंका सम्बन्ध लग जाय उसको कहते हैं द्रव्यबन्ध । यह आत्मा अनादि, अनन्त, अहेतुक ज्ञायक स्वरूपमय है, याने आत्माके सत्त्वके ही कारण आत्मामें क्या स्वरूप बसा हुआ है, यह कोई यदि परखेगा तो उसको यह परिचय मिलेगा कि यह आत्मा एक ज्ञान-प्रकाश स्वरूप है और यह ज्ञानज्योति सहज है, आत्माके सत्त्वका प्राणभूत है, यही तो इस आत्माका सर्वस्व है । अब ऐसे पवित्र ज्ञान भावके साथ जो रागद्वेष तथा क्रोधादिक कषाय अज्ञानभावोंका बन्धन है जुट गया है यह कहलाता भावबन्ध । तो यह भावबन्ध क्रोध, मान, माया, लोभ रागद्वेष, अज्ञानरूप है तो ऐसा क्रोधाद्यात्मक भावबन्ध भली भाँति परिचयमें आ जायगा, क्योंकि इस बन्धनमें तो पड़े हुए हैं । यदि कोई आत्मा अपने उस भावबन्धको निरखेगा तो समझ जायगा कि हाँ मेरे साथ भाव का विकट बन्धन जुड़ा हुआ है । कहाँ तो मैं ज्ञान भावस्वरूप और कहाँ मेरे साथ ये क्रोधादिक कषायें, विषयभाव घुल मिल करके जुट गए । कितना विकट भावबन्धन है, ऐसा क्रोधाद्यात्मक भावबन्धका कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, और कषाय है । तथा अज्ञानरूप भावका बन्धन भी जीवके साथ है । जहाँ क्रोधाद्यात्मक भावबन्ध तो रहा नहीं, किन्तु केवल ज्ञान प्रकट नहीं हुआ है उसके पहिले तो वह अज्ञान कहलाता है औदयिक अज्ञान, ज्ञानकी कमी । अल्पज्ञता, तो अल्पज्ञताकी स्थिति भी एक बन्धन है । तो ऐसा अज्ञानरूप बन्ध होता है योगके कारण । इस तरह भावबन्ध मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगके कारण हुआ करता है ।

मिथ्यादर्शन हेतुक भावबन्ध—अब यह समझियेगा कि क्रोधाद्यात्मक भावबन्धका हेतु मिथ्या दर्शन किस प्रकार है ? वह यों है कि मिथ्यादर्शनका सद्भाव होनेपर क्रोधाद्यात्मक भावबन्ध होता है और मिथ्यादर्शनका अभाव होनेपर क्रोधाद्यात्मक भावबन्ध नहीं होता है । यहाँ मिथ्यादृष्टि जीवोंके क्रोधाद्यात्मक भावबन्धकी चर्चा समझियेगा । अज्ञानी जीवोंका विपरीत धारणा वाला जो क्रोधाद्यात्मक भावबंध हुआ है, वह मिथ्या दर्शनके कारणसे हुआ है । मिथ्यादर्शनमें इस जीवने यह श्रद्धान किया कि यह विषय क्रोधादिक करनेका है । जो पदार्थ क्रोधादिक किए जाने योग्य नहीं हैं उनमें यह श्रद्धा बनी है इन मिथ्यादृष्टि जीवोंकी यह मामला तो क्रोध करनेक योग्य ही है और इस सम्बन्धमें जो मैं क्रोध कर रहा हूँ सो मैं बड़ी चतुराईका काम कर रहा हूं । यहाँ तो क्रोध किया ही जाना चाहिये था । इस तरह पर परिणतियों को निरखकर उनमें क्रोध किया ही जाना चाहिए, इस तरहकी श्रद्धा मिथ्यादर्शन है और इस मिथ्यादर्शनके कारण ये मिथ्यादृष्टि जीव क्रोधाद्यात्मक भावोंसे बन्ध रहे हैं । इस तरह क्रोधाद्यात्मक भावबन्धका कारण मिथ्या दर्शन सिद्ध हो जाता है । क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक किये जानेका जो साधन नहीं है उस साधनमें क्रोधा-

ठिक किए जाने ही चाहियें ये क्रोधादिकके विषय ही हैं, इस रूपसे जो श्रद्धान होता है वह विपरीत अभिप्राय है। इस विपरीत अभिप्रायरूप मिथ्यादर्शनको सभी लोग भावबन्धका हेतु मान जायेंगे। तो ऐसे मिथ्यादर्शनके सद्भाव होनेपर द्रव्य-क्रोधादिक बन्ध हुआ करते हैं और ऐसे द्रव्य क्रोधादिक बन्धरूप अन्तरङ्ग कारणके होनेपर, भाव-बन्धका सद्भाव सिद्ध ही है अर्थात् मिथ्यादर्शनके होनेपर द्रव्य क्रोधादिकका भी बंध है और भाव क्रोधादिकका भी बन्ध है। और जब मिथ्यादर्शनका अभाव हो जाता है तो तदनुकूल भाव क्रोधादिकका बन्ध नहीं होता। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि भाव-बन्ध मिथ्यादर्शन हेतुक है।

अविरति, प्रमाद, कषाय व योग हेतुओंसे होने वाले भावबन्ध— अब मिथ्यादर्शन हेतुक बन्धसे जो और हीन बन्ध हैं वे बन्ध अविरति हेतुक बताये गए हैं। मिथ्यादर्शनके होते संते जिस प्रकारका भावबन्ध होता है उस भावबन्धकी कथा नहीं कह रहे किन्तु मिथ्यादर्शनका अभाव होनेपर और अविरति भावका सद्भाव होनेपर जिस प्रकारका भावबंध हो सकता है ऐसे मिथ्यादर्शन हेतुक भावबन्धसे हीन बंध वाला भावबन्ध अविरत हेतुक हुआ करता है। जिस जीवको सम्यग्दर्शन हो गया ऐसे ज्ञानी जीवके भी कोई अप्रकृष्ट भावबन्ध हुआ करता है। वह भावबन्ध अविरति भावके होनेपर जाना ही जा रहा है और उससे हलका भावबन्ध प्रमाद हेतुक हुआ करता है। जिस पुरुषके मिथ्यादर्शन नहीं रहा अविरतिभाव नहीं रहा, किन्तु विरत हो गया है ऐसे व्रती पुरुषके प्रमाद होनेपर भावबन्धकी उपलब्धि पाई जाती है। तो यह भावबंध प्रमाद हेतुक कहलाया और इस भावबन्धसे भी अप्रकृष्ट भावबन्ध कषाय हेतुक होता है। जिस जीवके सम्यग्दर्शन हो गया और विरत भी हो गया प्रमादरहित भी हो गया। सप्तम गुण स्थान अथवा इससे और ऊपरके गुणस्थानोंमें है तो उसके मिथ्या-दर्शन अविरति और प्रमाद ये तीनों कारण नष्ट होनेपर भी कषायका सद्भाव तो पाया ही जा रहा है। उस कषायके सद्भावमें भावबन्ध होता है, उससे और हीन भाव बन्ध अज्ञानरूप कहा जाता है। अर्थात् जहाँ कषायें भी दूर हो गईं क्षीणमोह हो गया, ऐसे १२ वें गुणस्थानमें भी चूंकि केवलज्ञान तो अभी हुआ नहीं, तो केवलज्ञान न होने तक अज्ञानभाव कहा जाता है। अज्ञान भाव औदायिक अज्ञान भाव है। यहाँ मिथ्याज्ञानरूप अज्ञान भावकी बात नहीं कह रहे। तो ऐसे अज्ञानरूप भावबन्ध क्षीण-कषाय जीवके भी होता है। यह भावबन्ध योग हेतुक हो रहा है। इस तरह योगके सद्भावमें यह हीन भावबन्ध हो गया है। अब यहाँ विचारणीय बात एक यह है कि सयोग केवली भी क्षीणकषाय है अर्थात् कषाय उनके नहीं रहे तो मिथ्यादर्शन, अवि-रति, प्रमाद, कषाय, इतने कारण न होकर योग कारण तो है ही। तो क्या वहाँ भी अज्ञानरूप भावबन्ध है? विचार करनेपर विदित होगा कि जहाँ केवलज्ञान उत्पन्न हो गया है वहाँ अज्ञानरूप भावबन्ध नहीं कहा जा सकता। ये केवली भगवान तो जीवन-

मुक्त हैं। इनके अपरनिश्रेयस हो गया है, इनको तो मुक्त ही कहा जाना चाहिए। तो इस तरह क्रोधाद्यात्मक भावबन्ध ५ प्रकारके कारणोंसे होता है। यह बात भली भांति बता दी गई है।

बन्धहेतुओंकी हीनाधिकता व द्रव्यबन्धका परिचय—अब इतना कथन सुननेके पश्चात् यह न समझ बैठें कि इस तरह यह भावबन्ध एक-एक कारणसे ही होता है। इसके लिए यह जान लेना चाहिए कि जो मिथ्या दर्शन हेतुक भावबन्ध है वह सभी कारणों द्वारा हो रहा है। जो अविरतिहेतुक भावबन्ध है वह मिथ्यादर्शन हेतुक नहीं हो रहा किन्तु प्रमाद, कषाय और योगके कारणसे भी हो रहा है। इस तरह पूर्व पूर्व बन्धके होनेपर उत्तर उत्तरके बन्ध कारणका सद्भाव रहता ही है। जैसे कि जो कषाय हेतुक बन्ध है वह योग हेतुक तो होगा ही। तथा जो प्रमाद हेतुक बन्ध है वह योग और कषाय दोनों हेतुओंके द्वारा भी होगा। जो अविरति हेतुक भाव बन्ध है वह योग कषाय और प्रमाद इन कारणोंके द्वारा भी होगा और मिथ्यादर्शन हेतुक भावबन्ध है, वह शेषके सभी हेतुओं द्वारा भावबन्ध होता है। इस तरह मिथ्या-दर्शन, अविरति, प्रमाद कषाय और योग इन ५ प्रकारके प्रत्ययोंकी बन्ध हेतुता है ही, पर इसकी सामर्थ्यसे अज्ञान भी बन्धका कारण कहलाता है तो जो अज्ञान भावबंध का कारण बताया गया है वह अज्ञान केवल क्षीण कषाय होनेपर ही हो सो नहीं, किन्तु वह औदयिक अज्ञान मिथ्यादर्शनके होनेपर भी है और आगे केवलज्ञान होनेसे पहिले सर्वत्र है। इस तरहसे बन्धको ६ कारणों द्वारा भी कहा गया है। इस तरह बन्ध दो प्रकारके बताये गए हैं १ भावबन्ध और २ द्रव्यबन्ध। द्रव्यबन्ध कहलाता है कार्माण वर्गणाके परमाणुओंका आत्माके साथ बन्ध हो जाना। परमाणु परमाणुओं का परस्परमें बन्ध हो जाता है और वहाँ निमित्त होते हैं जीवके मिथ्यादर्शन आदिक भाव। तो भावबन्ध भी मिथ्यादर्शन अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन कारणों द्वारा हुआ करत है. इस विषयमें अनुमान प्रयोग भी किया जा सकता है कि द्रव्यबन्ध मिथ्यादर्शन आदिक कारणों द्वारा होता है क्योंकि बन्ध होनेसे। जैसे कि भावबन्ध मिथ्यादर्शन आदिक कारणोंसे होता है उसी प्रकार द्रव्यबन्ध भी मिथ्यादर्शन आदिक भावोंके होनेपर होता है। इस तरह द्रव्यबन्ध भी मिथ्यादर्शनादि हेतुक है यह सिद्ध हुआ। इस तरह बन्धकी संसारी जीवोंमें प्रसिद्धि हुई। और बन्धके कारण भी प्रसिद्ध हो गए।

सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय, व अयोग होनेपर मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाय योगहेतुक बन्धका अभाव--अब यह बतलाते हैं कि बन्धके कारणोंका कहीं अभाव भी हो जाता है। इस प्रसङ्गमें मूल चर्चा यह थी कि कोई आत्मा विशेष समस्त कर्मोंसे मुक्त हो जाता है क्योंकि कहीं बन्धके हेतुओंका अभाव और कर्मोंकी निर्जरा पाई जाती है तो इस ही हेतुके सर्व अङ्गोंको सिद्ध करनेके लिए

इस प्रकरणमें प्रथम तो यह बताया है कि संसारी जीवोंके बंध होता है। फिर बताया है कि संसारी जीवोंके बन्धका कारण है, अब बतला रहे हैं कि किसी आत्मविशेषमें बन्धके कारणोंका अभाव हो जाता है। बन्धके कारणोंके प्रतिपक्षभूत सम्यग्दर्शनादि भावोंका सद्भाव हो गया है। जैसे कि जब सम्यग्दर्शन हो जाता है तो मिथ्यादर्शन हट जाता है। मिथ्यादर्शन था भावबन्धका कारण। तो मिथ्यादर्शनका प्रतिपक्षभूत सम्यग्दर्शन भावका जब अभ्युदय होता है तो मिथ्यादर्शन दूर हो जाता है क्योंकि मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन ये परस्पर सप्रतिपक्षी भाव हैं। मिथ्यादर्शन रहनेपर सम्यग्दर्शन नहीं होता। सो यह बात जीवमें अनादिसे चली आ रही थी। अब काल-लब्धिसे अन्तरङ्ग विशुद्धि आदिक कारणोंसे जब सम्यग्दर्शन प्रकट होता है तो वहाँ मिथ्यादर्शन नहीं ठहर सकता। जैसे कि उष्ण स्पर्शके होनेपर शीतस्पर्श नहीं ठहर सकता क्योंकि ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। इसी तरह सम्यग्दर्शनके होनेपर मिथ्यादर्शन हट जाता है। तो देख लीजिये कि बन्धका कारणभूत मिथ्यादर्शनका अभाव हो गया ना! तो जिस तरह सम्यग्दर्शनके होनेपर मिथ्यादर्शन दूर होजाता है यों ही विरतिभावके होनेपर अविरतिभाव भी निवृत्त हो जाता है क्योंकि यह भी सप्रतिपक्ष भाव है। जब तक अविरतिभाव चल रहा था तब तक जीवके विरतिभाव नहीं हो सक रहा था। अब विरतिभावका अभ्युदय हो गया है तो अविरतिभाव नहीं ठहर सकता। अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण कषायके अनुदय होनेपर आत्मा की विशुद्धि बढनेपर विरतिभाव प्रकट हो जाया करता है। तो वहां अविरतिभाव न रहा जो कि भावबन्धका हेतु बन रहा था। तो इस तरह बन्ध हेतुका अभाव हुआ। जब आत्माके अप्रमादकी परिणति होती है तो वहाँ प्रमादभाव नहीं ठहरता। ये दोनों भाव भी परस्पर विरुद्ध हैं। जीवके जब तक प्रमादभाव चल रहा था तब तक प्रमाद हेतुक भाव बन्ध हो रहा था। प्रमाद भावके समाप्त होनेपर तद्धेतुक भावबन्ध भी समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार जब अकषाय भाव आता है तो कषायहेतुक भावबंध नहीं होता। कषायें दश गुणस्थान तक पायी जाती हैं। १० वें गुणस्थानके अन्तमें बचे हुए सूक्ष्म लोभकषायका भी अभाव हो जाता है। उसके बाद यह जीव अकषाय कहलाता है। तो ऐसी अकषाय अवस्था आनेपर कषाय हेतुक भावबन्ध नहीं हो रहा। तो यहाँ भी यह सिद्ध हुआ कि बन्धके हेतुका अभाव हो गया। इस प्रकार जब अयोग अवस्था आती है तब योग हेतुक भावबन्ध नहीं हुआ करता। इस तरह बन्धहेतुवोंके अभाव होनेपर बन्धका भी अभाव हो जाता है। इस हीको सम्बर कहते हैं। जो आगे कर्म न आयें उसका नाम सम्बर है। इसको सूत्रजीमें कहा है—'आश्रवनिरोधः सम्बरः' तो इस तरह बन्ध हेतुवोंका सर्वथा अभाव हो जाता है, यह बात प्रमाणसे सिद्ध हो गयी।

सुत्रोक्त गुप्ति समिति आदि भावोंकी सम्यग्दर्शनाद्यात्मकता होनेसे

रत्नत्रयभाव द्वारा समस्त बन्ध हेत्वभावकी सिद्धि—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि आश्रवका निरोध सम्वर है और वह सम्वर बताया गया है गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्रसे। तो सूत्रकारका स्वयं सिद्धान्त भी है जिसके विषयमें सूत्र भी कहा गया है—स गुप्तिसमिति धर्मानुप्रेक्षापरीक्षापरीषहजयचारित्रैः। तो इस तरह यह सिद्ध हुआ कि सम्वर इन कारणोंसे हुआ करता है। सम्यग्दर्शन आदिकके कारणोंसे संवर नहीं बताया गया। फिर यहाँ सम्यग्दर्शन आदिकके कारण मिथ्यादर्शन आदिक दूर होते और उन बन्ध हेतुवोंके अभाव होनेसे सम्वर होता, यह बात कैसे कही जा रही है ? इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं। सूत्रकारके उस कथन में जहाँ कि बताया गया है कि सम्वर, गुप्ति, समिति आदिक भाव द्वारा होता है और इस कथनमें जहाँ कि कहा जा रहा है कि सम्यग्दर्शन आदिकके होनेपर सम्वर होता है। इन दोनों कथनोंमें किसी भी प्रकारका विरोध नहीं है, क्योंकि गुप्ति समिति आदिक भाव सम्यग्दर्शन आदिक रूप ही होता है। कहीं भी गुप्ति आदिक भाव सम्यग्दर्शनसे रहित न मिलेंगे। और, जहाँ सम्यग्दर्शन है वहाँ सम्यग्ज्ञान तो है ही, और किसी न किसी अंशमें चारित्र भी है। प्रमादरहित होना, कषायरहित होना, योगरहित होना ये सब चारित्रके ही तो भाव हैं। इस तरह सिद्ध हुआ कि रत्नत्रयके अभ्युदयसे सम्वर होता है। तो इस कथनमें किसी भी प्रकारका दोष नहीं है। यहाँ तक इस प्रकरणमें यह सिद्ध किया गया कि कोई संसारी जीव बन्धवान हुआ करते हैं और उनका यह बन्ध मिथ्यादर्शन आदिक हेतुवोंसे हुआ करता है। और किसी आत्मविशेषमें सम्यग्दर्शन आदिकका अभ्युदय होनेसे मिथ्यादर्शनादि बन्ध कारण हट जाया करते हैं। इस तरह कोई आत्मविशेष ऐसा होता है कि जिसमें समस्त कर्म हेतुवोंका अभाव हो जाता है। कोई आत्मा विशेष समस्त कर्मोंसे छूट जाता है। इस साध्यकी सिद्धि करनेमें जो हेतु दिया गया था उसका आधा अंश प्रमाणसे सिद्ध कर दिया। हेतुमें कहा गया था कि किसी आत्मा विशेषमें समस्त कर्मबन्ध हेतुओंका अभाव हो जाता है और सर्व कर्मोंका क्षय हो जाता है। तो इस तरह बंध हेतुवोंका अभाव सिद्ध करके अब कर्मक्षयकी बात कही जा रही है।

किसी आत्मविशेषके समस्तकर्मक्षयकी सिद्धि—किसी आत्मामें पूर्वमें उपार्जित किए हुए कर्म समस्त रूपसे निर्जीर्ण हो जाते हैं, क्योंकि जो कर्मबन्ध था उस का अन्तमें विपाक हुआ करता है। तो अनुमान प्रयोग यहाँ यह बना कि किसी आत्मा में समस्तरूपसे पूर्वबद्धकर्म निर्जीर्ण हो जाते हैं, क्योंकि वे पूर्व उपार्जित कर्म विपाकांत हैं अर्थात् उनके अन्तमें विपाक होता है। इस ही अनुमान प्रयोगको व्यतिरेक व्याप्ति द्वारा पुष्ट कर रहे हैं कि जो निर्जीर्ण नहीं हुआ करते वे विपाकांत भी नहीं हुआ करते। जैसे काल (समय) कभी खतम नहीं होता कि समयका अत्यन्त विपाक भी नहीं हुआ करता, लेकिन ये कर्म तो अन्तमें विपाक वाले ही हुआ करते हैं इस कारण

से ये कर्म निर्जीर्ण हो जाते हैं। कर्मोंका अन्तमें विपाक हुआ करता है यह बात असिद्ध नहीं है। यह भी अनुमान प्रमाणसे सिद्ध हो जाता है। वह प्रयोग इस प्रकार है कि कर्म विपाकांत होता है, क्योंकि फलावसान होनेसे। इसका अन्तमें फल प्राप्त होता है, इसलिए इसका विपाक हो जाता है। जैसे धान्य आदिक। धान्यवृक्ष उगे तो उनका अन्तमें फल सो निकलता है और जब फल निकल आया तो वे वृक्ष सूख जाते हैं। उनका विपाक हो जाता है इसी प्रकार कर्मोंका भी फल जीवोंको प्राप्त होता है। तो उससे सिद्ध होता है कि कर्मोंका विपाक आ गया। और जब कर्मोंका विपाक सिद्ध हो गया तो कर्म निर्जीर्ण हो जाते हैं, यह बात भी भली भांति सिद्ध हो जाती है। अब यदि यहाँ यह सोचा जाय कि कर्म निर्जीर्ण नहीं होते अथवा उनका फल प्राप्त नहीं होता तब तो कर्मको नित्य हो जाना पड़ेगा। जिसका फल न होवे विपाक न आये वह तो सदाकाल ही रहा करेगा। जैसे कि कालका कोई फल या विपाक नहीं होता, तो यह काल धारा अनन्त काल तक ही चलती रहती है, पर कर्मों में यह बात नहीं है। कर्म नित्य नहीं हुआ करते, क्योंकि यदि कर्म नित्य हो जायें तो कर्मोंका सदैव फलानुभव होगा, पर ऐसा नहीं है, उनका फल होता है और विपाक होता है, इस कारणसे कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है। अब जिस आत्मामें विशेष कर्मों का सम्वर हो रहा हो और कर्मोंकी निर्जरा चल रही हो तो उसका कोई समय ऐसा अवश्य ही आ जाता है कि जहाँ सर्व कर्मोंका अभाव हो जाता है। बस यहाँ बंध हेतुवोंका अभाव होगा और पूर्वबद्ध कर्मोंका क्षय हो जायगा वहाँ समस्त कर्मोंका क्षय होना प्रसिद्ध ही है। इस तरह कोई आत्मा समस्त कर्मोंसे मुक्त हो जाता है यह बात प्रमाणसे सिद्ध हो जाती है।

परमेष्ठीके प्रसादसे निश्श्रेयस मार्गकी सिद्धि होनेसे शास्त्रादिमें परमेष्ठीगुणस्तोत्रकी संगतता—किसी आत्मामें पूर्वबद्ध समस्त कर्म निर्जीर्ण हो जाते हैं, क्योंकि वे कर्म विपाकांत हैं: इस अनुमान प्रयोग द्वारा यह सिद्ध हुआ कि कहीं कर्मोंकी निर्जरा अवश्य होती है। अब देखिये ! जैसे आत्मा विशेषमें नये कर्म तो आये नहीं और वहाँ हो गया पूर्वबद्ध कर्मोंका समस्तरूपसे निर्जरण तो उसका फल यह होगा कि उस आत्मविशेषमें समस्त कर्मोंका अभाव होकर कर्मोंका पूर्णतया क्षय हो ही जायगा। तो जहाँ समस्त कर्मोंका पूर्णरूपसे अभाव हो जाता है और इस ही कारण कर्मके कार्यभूत शरीरादिक भी नहीं रहते हैं उसे कहते हैं परनिश्रेयस, और जहाँ अरहंत अवस्था है, सशरीर भगवान हैं वहाँ कहलाता है अपरनिश्रेयस: तो इस तरह दो प्रकारके निश्रेयस हुए, पर निश्रेयस और अपरनिश्रेयस, इस निश्रेयसका मार्ग सिद्ध होता है परमेष्ठीके प्रसादसे। तो निश्रेयसका मार्ग क्या है ? यह आगे भी कहा जायगा और संक्षेपमें यह समझ लीजिए कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र यह निश्रेयसका मार्ग है, उस मार्गकी सिद्धि, प्राप्ति, भली प्रकार उसकी जानकारी ये

सब परमेष्ठीके प्रसादसे होते हैं, इसी कारण सूत्रकारोंने शास्त्रके आदिमें परमेष्ठीके गुणोंका स्तवन किया है। इस प्रसङ्गमें मूल प्रश्न यह था कि सूत्रकारोंने शास्त्रके आदिमें परमेष्ठीका स्तवन किस कारणसे किया है। उसका समाधान यह हुआ कि चूंकि परमेष्ठीके गुणस्तवनसे कल्याण मार्गकी सिद्धि होती है, इस कारणसे सूत्रकारों ने शास्त्रके आदिमें परमेष्ठीका गुणस्तवन किया है। अब परमेष्ठीका अर्थ देखिये ! परमेष्ठी तो अरहंत भगवान परमेष्ठी हैं। क्योंकि उनके प्रसादसे परमागमके अर्थका निर्णय होता है। प्रभु अरहंत देवकी दिव्यध्वनि खिरती है और उस मूल ध्वनिके विस्तारमें लोग तत्त्वार्थका निर्णय करते हैं। तो जितना जो कुछ आगम है उसका मूल कारण परपरमेष्ठी अरहंत भगवान हैं। उसके बाद अपरपरमेष्ठी गणधरदेव आदिक हैं, दिव्यध्वनिको झेलकर जिन्होंने उस वाणीका विस्तार किया, पृथक पृथक शब्दरचना द्वारा जीवोंको सम्बोधा वे अपर परमेष्ठी कहलाते हैं। तो अपर परमेष्ठी गणधर देव आदिकसे भी परमागमके अर्थका निर्णय होता है। इस तरह अपर परमेष्ठी गणधरदेव आदिकके द्वारा परमागमकी शब्द रचना हुआ करता है। और वह शब्द संदर्भ द्वादशांगके रूपमें होता है। इस तरह पर परमेष्ठी और अपरमेष्ठी द्वारा परमागमके अर्थ शब्द और लिपिकी सिद्धि होती है। तो शिष्यजनोंको अथवा कल्याणार्थी पुरुषोंको परमार्थकी प्राप्ति परपरमेष्ठी और अपरपरमेष्ठी द्वारा हुई है। और उनसे फिर उनके शिष्योंको परमाश्रयके अर्थका बोध होता है, इस तरह गुरु पूर्व क्रम से गुरुओंसे शिष्योंने और उन शिष्योंसे अन्य शिष्योंने, इस तरह क्रम परम्परासे आचार्योंने परमागमका अर्थ पाया। इस तरह यहाँ यह सिद्ध होता है कि इस समस्त श्रेयोमार्गकी जानकारीका मूल तो अरहंत परमेष्ठी हैं इसी कारण परमेष्ठीके गुण-स्तवन किए गए हैं कि उनसे हमारे मोक्ष मार्गकी सिद्धि हुई है और उनसे ही हमें मोक्षमार्गमें बढ़नेका बल प्राप्त होता है। इस तरह परमेष्ठीके प्रसादसे जो प्रधान लक्षण भूत मोक्षमार्ग है उसकी सिद्धि हुआ करती है।

परमेष्ठीके प्रसादका विवरण—अब परमेष्ठीका प्रसाद क्या है उस प्रसाद के सम्बन्धमें वर्णन करते हैं। प्रसाद परमेष्ठियोंका यही है कि उनके जो विनेय शिष्य हैं उन शिष्योंके प्रसन्न मनके वे विषय रहा करते हैं। अर्थात् भक्तजन प्रसन्न मनसे उपासना करते हैं तो प्रसन्न मनसे उपासना किए गए भगवान प्रसन्न कहलाते हैं। तो प्रसन्न मनके विषयमें होना ही परमेष्ठीका प्रसाद है। वैसे त जो वीतराग सर्वज्ञदेव हैं, रागद्वेष न होनेके कारण उनके तृप्तिरूप प्रसाद हुआ करता है और न कभी क्रोधादिक सम्भव है। जिससे स्वयं वीतराग मुनीशोंमें यह घटाया नहीं जा सकता कि वे प्रसन्न हो गए हैं। जब वीतराग हुए तो न उनमें हर्ष आयगा न संतोष, तृप्तिके भाव भी नहीं आते और न क्रोधादिकके भाव आते। वे तो रागद्वेष रहित होकर सदा ज्ञाता दृष्टा मात्र रहते हैं। हाँ उन परमेष्ठी अरहंत देवके आराधक पुरुषोंके द्वारा प्रसन्न मन

वे उपासना किए गए भगवान प्रसन्न कहलाते हैं। जैसे कि प्रसन्नमनसे कोई रसायन औषधिका सेवन करे तो रसायनके सेवनसे उसका फल आरोग्य जब पा लेता है तो फिर ऐसा कहता है कि—इस औषधिके प्रसादसे हम लोगोंको आरोग्य प्राप्त होता है। अब वे बतलायें कि वह रसायन अचित्र औषधि है, उसमें प्रसाद कहाँसे आयगा ? तब जैसे औषधि सेवन करके यह कहा जाता है कि औषधिके प्रसादसे हमको आरोग्य मिला है, इसी प्रकार प्रसन्न मनसे भगवानकी उपासना की गई और उसके फलमें पुण्यबन्ध हुआ सुख सुविधा प्राप्त हुई अथवा श्रेयोमार्गकी जानकारी हुई, धर्ममार्गमें लगे, तब यह कहा जाता है कि भगवानके प्रसादसे हमको श्रेयोमार्गकी प्राप्ति हुई है। इस तरह परमेष्टीके प्रसादसे सूत्रकारोंको श्रेयोमार्गकी सिद्धि हुई है। इस कारण यह कहना युक्त ही है कि शास्त्रके आदिमें परमेष्ठीका गुणस्तवन करना ही चाहिए।

परमेष्ठीगुणस्तोत्रके प्रयोजनका निर्णय—अब परमेष्ठीका गुणस्तवन किसलिए किया जाता है ? इस सम्बन्धमें मूल बात कह दी गई कि चूंकि भगवानके प्रसादसे हमको धर्ममार्गकी प्राप्ति हुई है अथवा कल्याण हुआ है इस कारणसे शास्त्रके प्रारम्भमें परमेष्ठीका गुणस्तवन किया जाता है। इस सम्बन्धमें कोई लोग यह कहते हैं कि मङ्गलके लिए भगवानका गुणस्तवन किया जाता है। तो उनसे यह पूछना चाहिए कि मङ्गलके लिए परमेष्ठीका गुणस्तवन किया जाना मानते हो तो यह बतलाओ कि परमेष्ठीके गुणस्तवनसे साक्षात् मङ्गल होता है या परम्परासे मङ्गल प्राप्त होता है ? यहाँ मङ्गलका अर्थ कुछ लोककल्याण मान लीजिए अथवा मुक्ति मान लीजिए। तो साक्षात् मङ्गल तो परमेष्ठीके गुणस्तवनसे नहीं होता, क्योंकि यदि परमेष्ठीके गुणस्तवनसे साक्षात् मङ्गल हो जाय तो जैसे ही भगवानकी स्तुति की या नमस्कार किया तो तुरन्त ही मोक्ष हो जाना चाहिए। पर किसी भी जीवके प्रभुके नमस्कार करते ही मुक्ति नहीं हुई है। तो साक्षात् मङ्गलके लिए परमेष्ठीका गुणस्तवन नहीं हुआ अथवा वह गुणस्तवन साक्षात् मङ्गलके लिए नहीं है। यदि कहो कि परमेष्ठीका स्तवन परम्परा मङ्गलके लिए हैं तो इसमें किसी भी प्रकारकी आपत्ति नहीं है। हाँ, परमेष्ठीका गुणस्तवन होता है भगवानके गुणोंपर ध्यान होता है, अपने स्वरूपकी दृष्टि होती है तब आत्मतत्त्वकी उपासनाके बलसे कर्मक्षय होता है और मुक्ति प्राप्त होती है। तो यों भगवानके गुणस्तवनसे परम्परया मङ्गल प्राप्त हो इसमें कोई आपत्ति नहीं है। होता ही है ऐसा—जब परमेष्ठीका गुणस्तवन किया जाता है तो भगवानके आत्मामें विशुद्धि विशेष प्रकट होती है और जब विशुद्ध परिणाम अधिक प्रकट हुए तो इस स्तवन करने वाले पुरुषके विशेष धर्म सिद्ध होता है। और जहाँ विशेष धर्मका उदय हुआ तो अधर्म नष्ट हो जाता है। और फिर जहाँ अधर्म कर्म नहीं रहे उससे फिर सुखकी प्राप्ति होती है। मङ्गलका अर्थ है--मंगं सुखं लाति इति मंगलं। जो सुखको उत्पन्न करे सो मङ्गल है। सो भगवानकी गुणस्तुति

करनेसे उत्तम सुख उत्पन्न होता है। तो यों परम्परासे गुणस्तवन द्वारा मङ्गल प्राप्त होता है, इसमें किसी भी प्रकारकी आपत्ति नहीं है अथवा भगवानके गुणस्तवनसे आत्मामें शुद्धि प्रकट हुई और शुद्धि प्रकट होनेसे पापोंका क्षय हुआ तो यह पापरूप मङ्गल भी इस स्तवन करने वालेके बन गया। मङ्गलका अर्थ भी यही है—मं पापं गालयति इति मंगलं—जो मलको, पापको, कर्मको ध्वस्त करदे उसे मङ्गल कहते हैं। यदि भगवानका स्तवन करनेसे अधर्मरूप मलका परम्परासे ध्वंस हो जाता है यह बात सङ्गत ही है। किन्तु साक्षात् मङ्गल मिले सो बात नहीं होती, याने परमेष्ठीके गुणों का स्तवन करनेसे तुरन्त ही सब कार्य नष्ट हो जायें और मोक्षलाभ हो जाय, सो बात नहीं होती है। अब रही परम्परा मङ्गल प्राप्तिकी बात कि भगवानके गुणस्तवनसे परम्परासे मङ्गल प्राप्त होता है। तो परम्परासे मङ्गलकी प्राप्ति तो सत्पात्र दानसे जिनेन्द्र भगवानके पूजन आदिकसे भी प्राप्त हो जाता है। तब यह तो सिद्ध नहीं हुआ कि भगवानके गुणस्तवनसे ही वह मङ्गल प्राप्त होता है। परम्पराकी प्राप्ति गुणस्तवनसे भी हो जाती है, जिनेन्द्रके पूजन आदिकसे भी होती है, सत्पात्रके दान करनेसे भी होती है। तब गुणस्तवन मङ्गलके लिए है, ऐसा नियम नहीं बनता। गुणस्तवनका प्रयोजन मङ्गल प्राप्ति नहीं है, किन्तु श्रेयोमार्गकी सिद्धि है। गुणस्तवन से एक ज्ञानप्रकाश होता है और मोक्ष मार्गकी जानकारी बन जाती है। अब शङ्काकार यदि यह कहे कि हम तो मङ्गलका यह अर्थ करते हैं कि मंग मायने है मोक्षमार्ग की प्राप्तिसे उत्पन्न हुआ प्रसमसुख उस प्रसम सुखको जो प्रदान करे उसे मङ्गल कहते हैं। वह प्रशम सुख जिसके द्वारा आये वह है परमेष्टीका गुणस्तोत्र। तो इस तरह परमेष्ठीके गुणस्तवनसे मङ्गल प्राप्त हो गया। अथवा मङ्गलका हम अर्थ करेंगे कि जो मोक्षमार्गकी सिद्धिमें बाधा करने वाला मल है पाप है उसको जो गला देवे सो मङ्गल है। इस तरहका अर्थ करके फिर यह सिद्ध कर लेंगे कि परमेष्ठीका गुणस्तवन मङ्गलके लिए होता है। तो इसके उत्तरमें यह समझना चाहिए कि ऐसा कहनेमें भी कोई बाधा नहीं है, क्योंकि परमेष्ठी भगवानके गुणस्तवनसे परम्परया यह बात सिद्ध होती है अथवा उसी समय मोक्षमार्गमें बाधा देने वाले कर्म दूर हो सकते हैं और उस समय मोक्षमार्गकी जो प्राप्ति हुई है, रत्नत्रयकी जानकारी हुई है उससे जो एक प्रसम सुख उत्पन्न हुआ है याने कषाय न करनेसे अपने आप आत्मामें जो सहज सुख उत्पन्न होता है सो होता ही है, इसमें भी किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं है। इस तरह यह बात भी जो ग्रन्थान्तरमें कही है, युक्त हो जायगी कि शुरूमें अथवा बीचमें अथवा अंतमें बुद्धिमान पुरुषोंके लिए मङ्गल करना ही चाहिए। तो उन कार्योंमें विघ्न न रहे इसकी सिद्धिके लिए जिनेन्द्र भगवानका गुणस्तवन किया जाता है। इस तरह यह बात सिद्ध हुई कि परमेष्ठीके गुणस्तवन करनेसे मोक्ष मार्गकी सिद्धि होती है। सो इसी कारण शास्त्रके आदिमें मङ्गलाचरण किया जाता है।

परमेष्ठीगुणस्तोत्रकी मंगलरूपता व मंगलार्थता—अब शङ्काकार कहता

है कि इस तरह तो यह सिद्ध होगा कि भगवानका गुणस्तवन स्वयं मङ्गल है, किन्तु मङ्गलके लिए नहीं है । याने जब परमेष्ठीका गुणस्तवन किया और गुणस्तवन करने से पाप गल गया, विघ्न दूर हो गया प्रणय सुख उत्पन्न हो गया तो यह गुणस्तवन स्वयं मङ्गल बन गया । उसे 'मगलके लिए है" यह न बताना चाहिए । इसके उत्तरमें कहते हैं कि देखिये ! भगवानके गुणोंकी स्तुति स्वयं मंगलरूप भी है और वह मंगल के लिए भी बनती है । मंगल शब्दके अर्थपर दृष्टि दी जाय जिस अर्थ वाला मंगल है वह मंगल माना जायगा तो वह मंगल अन्य अर्थ वाले मंगलके लिए समर्थ होता है । जैसे जब मङ्गलका यह अर्थ किया कि जो मलका गलन करदे नष्ट करदे, पापका ध्वंस करदे वह मङ्गल कहलाता है । तो जिनेन्द्र भगवानका स्तवन पापोंको नष्ट करने वाला है इस तरह वह मङ्गलरूप है, और उस मङ्गलका कार्य यह भी हुआ कि मंग अर्थात् सुखको जो ला देवे । तो पापका क्षय होनेसे सुख उत्पन्न हुआ । तो देखो ! वह मङ्गल स्वरूप होकर मङ्गलके लिए बन गया । अब दूसरी प्रकार भी निरखिये ! जब मङ्गलका यह अर्थ किया जायगा कि जो मङ्गको उत्पन्न करे सो मङ्गल है । तो सुख-दायकपना अर्थ करनेपर यह मङ्गल स्वयं मङ्गल बना अर्थात् जिनेन्द्र भगवानका गुण-स्तवन सुख देने वाला है । इस तरह वह स्तवन स्वयं मङ्गल बना । पर वह मङ्गल पापके नास करनेके लिए समर्थ होता है तो उस समय वह पाप गालनरूप मङ्गलके लिए बना करता है । अब तीसरा प्रकार भी देखिये ! अब दोनों अर्थ वाला मङ्गल है यह जिनेन्द्र स्तवन, यह संकल्पमें रखेंगे तब अन्य मङ्गलके लिए यह मङ्गल बन जाता है । अन्य मङ्गल क्या ? जो पुरुष मोक्षमार्गमें लगा हुआ है । तो जिस क्षणका परि-णाम है वह मंगलरूप है और उस परिणामके बाद फिर विशुद्ध परिणाम भी तो होगा । तो वह और उत्कृष्ट विशुद्ध आत्मा भी मांगलिक है, तो उत्तरोत्तर मंगल अर्थात मंगलके लिए बनाया जा रहा है, तो यों पर अपर मंगलकी संतति सिद्ध होती है । इस तरह भगवान जिनेन्द्रका गुणस्तवन स्वयं मंगलरूप होकर उत्कृष्ट मंगलके लिए समर्थ हो जाता है ।

परमेष्ठीगुणस्तोत्रके प्रधान प्रयोजनका अन्तिम शंका समाधान पूर्वक निर्णय—अब इस प्रसंगमें कोई जिज्ञासु यह कहता है कि परमेष्ठीका गुणस्तवन शिष्टाचारके परिपालनके लिए किया जाता है या निर्विघ्न स बगुण परिपूर्ण हो जाते हैं इस सिद्धिके लिए किया जाता है । इस जिज्ञासुका अभिप्राय यह है कि शास्त्र बनाते समय शास्त्रकी आदिमें जो मंगलाचरण किया जाता है, परमेष्ठीके गुणोंका स्तवन किया जाता है सो वह शिष्ट आचरणके पालनके लिए किया जाता, याने सभ्य पुरुषों को शास्त्ररचनेसे पहिले कोई मंगलाचरण किया जाना चाहिए, ऐसी सभ्यताका उसके तकाजा है, उसकी पूर्तिके लिए गुणस्तवन किया जाता है । यह शङ्काकारका अभिप्राय है कि परमेष्ठीके गुणोंका स्तवन इसलिए किया जाता है कि कहीं नास्तिकताका दोष

न लग जाय। अर्थात् यह ईश्वरको मानने वाला है, प्रभुको ध्याने वाला है यह बात बनी रहे। कहीं यह प्रभुका द्वेषी है यह सिद्ध न हो जाय, ऐसे नास्तिकताके दोषको दूर करनेके लिए गुणोंका स्तवन किया जाता है, अथवा शंकाकारका यह आशय है कि जिस शास्त्रको रचनेके लिए बैठे हैं वह शास्त्र बिना विघन बाधाके परिपूर्ण हो जाय इसके लिए मंगलाचरण किया जाता है, ऐसे इन ३ प्रकारोंका उद्देश्य रखकर जिज्ञासु यह अपनी आशंका रख रहा है कि परमेष्ठीके गुणोंका स्तवन तो इन तीन बातोंके लिए है श्रेयोमार्गकी सिद्धिके लिए गुणस्तवन बतानेकी बात संगत नहीं बैठती। और लोकमें भी सभी प्राणी यह समझ जाते हैं कि यह सभ्यताका पालन किया गया है। उन जिज्ञासुवोंसे केवल इतना ही कहना पर्याप्त है समाधानमें कि यहाँ भी यह नियम नहीं बना सकते कि गुणस्तवन ही शिष्टाचार पालनके लिए समर्थ है या नास्तिकताके परिहारके लिए या निर्विघन शास्त्र समाप्तिके लिए समर्थ है क्योंकि ये तीनों बातें तपश्चरणसे भी सिद्ध हो जाती हैं।

भगवद्गुणस्तोत्रके प्रयोजनका प्रकरण—प्रकरण यह चल रहा था कि कुछ लोग यह मानते हैं कि भगवानके गुणोंका स्तवन शिष्टाचारके पालनके लिए किया जाता है अथवा नास्तिकताके दूर करनेके लिए किया जाता है अथवा निर्विघ्न रूपसे शास्त्रकी समाप्ति हो जाय इसके लिए किया जाता है। इन शङ्काकारोंका अभिप्राय श्रेयोमार्गकी सिद्धिका प्रयोजन खण्डित करता है। उनके इस व्यक्त अभिप्रायसे यह जाहिर होता है कि उनका मंतव्य यह है कि भगवान परमेष्ठीका गुणस्ववन मोक्षमार्गकी सिद्धिके लिए नहीं किया जाता है किन्तु इन तीन प्रयोजनोंसे किया जाता है। उन शङ्काकारोंके अभिप्राय समीचीन नहीं हैं क्योंकि ऐसा आशय रखने वाले ये शङ्काकार भी यह बात ऐसी ही है, ऐसा नियम नहीं बना सकते। शिष्टाचारके पालन आदिक प्रयोजनोंके लिए ही परमेष्ठीका गुणस्तवन है, इस तरहका नियम इस कारण नहीं बना सकते कि इन प्रयोजनोंकी सिद्धि तो तपश्चरणादिक अन्य बातोंसे भी हो जाती है। कोई यहाँ यह सन्देह न करे कि तपश्चरण आदिक शिष्टाचार पालन आदिकके लिए नहीं होता, क्योंकि जो तपश्चरण किया जाता है वह भी शिष्टाचारके पालनके लि भी हो सकता है, नास्तिकताका परिहार करनेके लिए भी हो सकता है और जो स्वाध्याय आदिक कार्य शुरू किया है या शास्त्ररचना आदिका कार्य शुरू किया है उसकी निर्विघ्न पूर्तिके लिए भी तपश्चरण सम्भव हो सकता है। तब यह नियम न बना सके ये शङ्काकार कि भगवान परमेष्ठीका गुणस्तवन ही शिष्टाचार पालन आदिकके लिए होता है।

भगवद्गुणस्तोत्रका प्रयोजन मात्र शिष्टाचारपरिपाल्नादि माननेपर स्तोत्रकी अनिमियतताका प्रसङ्ग—यहाँ शङ्काकार यह कहता है कि नियमसे हमारी बात सिद्ध न हो सकी तो मत हो, पर अनियमसे अर्थात् एवकार लगाये बिना

तो यह बात सिद्ध हो जायगी कि भगवान परमेष्ठीका गुणस्तवन शिष्टाचार पालन आदिकके लिए होता है। एवकार न लगायेंगे कि गुणस्तवन शिष्टाचार पालनके लिए ही होता है या शिष्टाचार पालनके लिए भगवत् गुणस्तवन ही होता है। हम किसी ओर एवकार न लगायेंगे, यों सामान्यतया कहेंगे तो यों अनियमसे तो सिद्ध होजायगा कि भगवान परमेष्ठीका गुणस्तवन शिष्टाचार पालन आदिकके लिए कहा गया है। इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि यदि अनियमसे यह बात मानते हो तो मान लो, लेकिन नियम तो सिद्ध न हो सका कि शास्त्रकी आदिमें शास्त्रकारोंको भगवत्गुणस्तवन करना ही चाहिए। तो यहाँ बात नियमकी चल रही थी। जिसका नियम बन सके उस बातके कहनेमें बल हुआ करता है। भगवत् परमेष्ठीका गुणस्तवन श्रेयोमार्गकी सिद्धिके लिए होता है। यह तो नियमके अन्तर्गत किसी न किसी प्रयोगमें आजाता है। पर शङ्काकारके आशयके अनुसार तो यह भी नियम न बन सकेगा कि शास्त्रकारोंको फिर शास्त्रकी आदिमें भगवान परमेष्ठीका गुणस्तवन करना ही चाहिए!

शास्त्ररचनाके आदिमें परमेष्ठीगुणस्तोत्रकी अवश्यम्भाविता—यहाँ कोई शङ्काकार यह कहे कि नियम नहीं बनता है तो मत बनो और शास्त्रकी आदिमें शास्त्रकारोंको भगवत्गुणस्तवन करना ही चाहिए, यह नियम नहीं होता है तो यह भी मत हो, क्योंकि ऐसा सम्भव है कि किन्हीं ग्रन्थोंमें वह मंगलाचरण नहीं भी किया जाता है। परमेष्ठीका गुणस्तवन शास्त्रकी आदिमें नहीं भी किया जाता है। तो इस शंकाके समाधानसे यह जानना चाहिए कि कोई भी शास्त्रकार किसी भी शास्त्रका प्रारम्भ करता हो तो नियमसे उसके किसी न किसी रूपमें भगवानके गुणस्तवनकी प्रवृत्ति होगी ही। चाहे निबद्ध मंगलाचरण किया जाय अर्थात् पदोंमें बाँध करके, स्वयं रच करके मङ्गलाचरण किया जाय या पदोंमें ही बाँधकर स्वयंका रचा हुआ न हो, ऐसा कुछ किया जाय, वचनसे किया जाय, मनसे किया जाय। विस्तारसे करे कोई मंगलाचरण या संक्षेपसे करे, शास्त्रकारोंके द्वारा प्रभुस्तवन शास्त्रकी आदिमें अवश्य ही किया जाता है। और यह ऋषी सन्तोंकी स्वाभाविक प्रकृति है। उसे कौन रोके? यदि शास्त्रके आदिमें किसी भी रूपमें गुणस्तवन न किया जाय, ख्याल तक भी न किया जाय मनसे भी प्रभु गुण न सोचा जाय, ऐसी स्थिति यदि किन्हींके बनती है तो उनमें फिर साधुता ही नहीं रहती क्योंकि प्रभुकृत उपकारका इसने विस्मरण कर दिया। किसी भी रूपमें प्रभुके गुणोंका स्मरण ही नहीं हो रहा है। ऐसे जड़बुद्धि वाले कोई लेखक भले ही लेखक नाम धरायें पर उनमें साधुता नहीं रह सकता। जो साधु होगा वह किए हुए उपकारको भूल नहीं सकता। सज्जन पुरुषोंकी वह रीति है कि वे कृत उपकारका विस्मरण नहीं करते। तो कोई भी शास्त्रकार जब किसी शास्त्रकी रचना करने बैठता है तो जिसके उपदेशकी परम्परासे यह ज्ञान मिला है जिस ज्ञानको शास्त्र शब्दोंमें निबद्ध करना चाह रहा है। अपना उपयोग सही ठिकाने

लगानेके लिए और उपचारतः परजीवोंके उपकारके लिए जो भी शास्त्र रचना प्रारम्भ करेगा उसको प्रभुका गुणस्तवन वचनसे हो, कायसे हो, मनसे हो, किसी भी प्रकार हो, हुए बिना रहेगा नहीं।

स्वगुरुस्मरणमें भी परमेष्ठी गुणस्तोत्रका समर्थन—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि अपने गुरुका स्मरण पूर्वक शास्त्र रचना कर ली जायगी क्योंकि जिस गुरुने पढ़ाया है साक्षात् उस गुरुका स्मरण करले, उनकी उपासना करले तो उससे ही कृतज्ञता बन जायगी और शास्त्रके सही रचयितापनेका नाम पा लिया जायगा। तो इस समाधानमें सुनो ! प्रकृत बात ही तो समर्थित की गई। प्रकरण यह था कि परमेष्ठीके गुणोंका स्तवन शास्त्रकी आदिमें किया जाता है। यहाँ शङ्काकार कह रहा है कि शास्त्रके आदिमें अपने गुरुका स्मरण कर लेगा कोई। तो सुनो ! अपने गुरुका स्मरण करना ही तो परमेष्ठीका स्तवन है, क्योंकि अपने गुरु भी तो परमेष्ठीमें ही अन्तर्गत हैं। तो अपने गुरुको गुरुरूपसे स्मरण किया किसी शिष्यने, तो वह भी परमेष्ठीका गुणस्तोत्र ही सिद्ध होता है यों अधिक विस्तार और विवाद करना व्यर्थ है, यह युक्तिसिद्ध बात है। शास्त्रकार इतना कृतज्ञ होता है कि वह शास्त्र रचनेके समय शास्त्रके प्रारम्भमें प्रभुगुणस्तवन, परमेष्ठी गुणस्तवन करता ही है। अब वह गुणस्तवन चाहे विस्तारका हुआ हो अथवा संक्षेपका हुआ हो, और कभी शास्त्रके आदिमें गुणस्तवनका श्लोक भी न दिया गया हो तो भी प्रथम ही प्रथम जो शब्द लिखे गए होंगे उन्हीं शब्दोंमें ध्वनित हो जाता है प्रभुका गुणस्तवन अथवा वचनसे कर लिया होगा। कोई भी साधु सज्जन पुरुष अपने गुरुका विस्मरण नहीं कर सकता है। गुरुका विस्मरण करने वाला पुरुष बुद्धिमें आगे बढ़ ही नहीं सकता है, उसका ज्ञान व्यक्त हो ही नहीं सकता है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हुआ कि परमेष्ठीका गुणस्तवन श्रेयोमार्गकी सिद्धिके लिए होता है। जैसे कि दूसरी कारिकामें कहा गया है कि मोक्षमार्गकी सिद्धि परमेष्ठीके प्रसादसे होती है, इस कारण शास्त्रके आदिमें मुनिश्रेष्ठ परमेष्ठीके गुणोंका स्तवन किया करते हैं।

सूत्रकारके मंगलाचरणका अवतरण—यों सामान्यतया परमेष्ठीके गुणस्तवन की अनिवार्यता बताकर अब आगे परमेष्ठीका गुणस्तवन क्या है, जिस गुणस्तवनको सूत्रकारोंने शास्त्रकी आदिमें किया है। ये समस्त ग्रन्थ सूत्रकारके एक मंगलाचरणकी पुष्टिमें बनाये गए हैं। तो उस हीका मंगलाचरण अब यहाँ पूछा जा रहा है कि वह परमेष्ठीका गुणस्तवन कौनसा है ? इस प्रश्नपर अब ग्रन्थकार तत्त्वार्थसूत्रकारका सूत्ररचनाके आदिमें हुआ मंगलाचरण बताते हैं—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥ ३ ॥

आप्तवन्दनाका प्रयोजन—सूत्रकार आचार्यने मंगलाचरणमें कहा है कि मोक्षमार्गके नेता कर्मरूपी पर्वतके भेत्ता और सकल तत्त्वोंके ज्ञाता प्रभुको उन गुणोंकी प्राप्तिके लिए नमस्कार करता हूं। इस वाक्यमें युक्तिके आधारपर अनुमान प्रयोग भी होता है। मैं इन तीन विशेषणोंसे युक्त प्रभुको क्यों वन्दना करता हूं। उसका हेतुरूप बनता है तद्गुण लब्धियर्थित्वात् अर्थात् उन गुणोंकी प्राप्तिका अर्थी होनेसे। जो जिन गुणोंकी प्राप्तिका इच्छुक होता है वह उसको वन्दना करता हुआ देखा गया है। जैसे कि शास्त्र विद्याका गुण चाहने वाला पुरुष शास्त्रविद्याके जानकारका अभिवादन करता है और शास्त्रविद्याके प्रसङ्गकी उपासना करता है। इसी प्रकार जो जिस विद्याका चाहने वाला है वह उस विद्यावान और उस विद्याके प्रसंगकी उपासना करते हैं। तो यह मैं भी इन तीनों गुणों की प्राप्तिका इच्छुक हूं अर्थात् मोक्षमार्ग पर लगूं और दूसरे जीव भी मोक्षमार्गपर चलें। कर्म पहाड़को मैं नष्ट करूं और समस्त तत्त्वों का जाननहार मात्र रहूं। ऐसा मैं इच्छुक हूं। तो जो मोक्षमार्गके प्रणेता हैं, कर्म पहाड़के भेदने वाले हैं, समस्त तत्त्वोंके जानकार हैं उन प्रभुको वन्दन करता हूं। इस नीतिके अनुसार शास्त्रकारने शास्त्रके प्रारम्भमें स्तवन किया है और श्रोताजनोंने और उसके व्याख्याता पुरुषोंने परमेष्ठीका इन गुणोके द्वारा स्तवन किया है। परमेष्ठी दो प्रकारके हैं–पर और अपर उत्कृष्ट परमेष्ठी तो वे हैं जो पूर्ण वीतराग हैं और सर्वज्ञ हैं और जो एक देश वीतराग हैं तथा आत्मज्ञ हैं अवधिज्ञान, मन: पर्याय ज्ञानके भी धनी हैं वे अपर परमेष्ठी कहलाते हैं। इन परमेष्ठियोंको इन तीन विशेषणोंके द्वारा स्तवन करता हूं। इन परमेष्ठियोंके प्रसादसे मोक्षमार्गकी सिद्धि हुआ करती है। संस्तवन करनेका प्रयोजन मोक्षमार्गकी संसिद्धि है। क्यों स्तवन किया जा रहा है? इसका समाधान है कि उनके प्रसादसे मोक्षमार्गकी सिद्धि होती है। वह मोक्षमार्गकी सिद्धि कैसे होती है? तो सिद्ध परमेष्ठीके ध्यान द्वारा साधक पुरुष अपने आपमें आत्मानुभूतिके लिए बढ़ता है। यों उनके प्रसादसे मोक्षमार्गकी संसिद्धि होती है। अरहंत परमेष्ठीकी तो साक्षात् दिव्यध्वनि भी सुननेमें आती है। उनका साक्षात् दर्शन भी प्राप्त होता है। जिनकी मुद्राके दर्शनसे, दिव्यध्वनिके श्रवणसे मोक्षमार्गकी प्रगति होती है। आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठीके सत्संगसे, उनके उपदेशके श्रवणसे श्रेयोमार्गकी प्रगतित होती है, इस कारणसे परमेष्ठीका स्तवन किया है और परमेष्ठी के स्तवनका प्रयोजन यह भी है कि जो उनमें गुण हैं उन गुणोंकी प्राप्तिका इच्छुक यह स्तवन करने वाला है। अब उक्त मंगलाचरणमें जो तीन प्रकारके विशेषण दिये गए हैं वे भगवान सूत्रकारने क्यों कहे हैं? उन विशेषणोंसे कौनसे इष्टकी सिद्धि है अथवा कौनसे अनिष्टका परिहार है? बुद्धिमान पुरुष जो भी कार्य करता है उसमें प्रयोजन दो होते हैं। इष्टकी सिद्धि और अनिष्टका परिहार। तो तीन विशेषणोंके द्वारा जो भगवानका स्तवन किया गया है तो उन तीन विशेषणोंमें कौन सी असाधारणता है? क्यों इन तीन विशेषणोंके द्वारा स्तवन किया गया है इस प्रकारकी आशंका

होनेपर उन तीन विशेषणोंके देनेका प्रयोजन कहते हैं।

इत्यवधारणं प्रोक्तं विशेषणमशेषतः।
पर-सङ्कल्पिताप्तानां व्यवच्छेदप्रसिद्धये ॥ ४ ॥

मङ्गलाचरणकथित तीन विशेषणोंकी प्रयोजकता—उक्त मङ्गलाचरण में जो तीन असाधारण विशेषण दिए गए हैं वे विशेषण दूसरोंके द्वारा कल्पना किए गए आप्तोंका निराकरण करनेकी प्रसिद्धिके लिए दिए गए हैं अर्थात् अन्य एकान्तवादियों द्वारा जो माने गए देव हैं उन देवोंमें वास्तविक देवत्व नहीं है, क्योंकि उनमें मोक्षमार्गका प्रणेतापन, कर्मपहाड़का भेत्तापन और सकल तत्त्वोंका ज्ञातापन नहीं पाया जाता। तो कल्पना किए गए अन्य आप्तोंके व्यवच्छेदके लिए ये तीन असाधारण विशेषण कहे गए हैं। विशेषवादियों द्वारा, क्षणिकवादियों द्वारा एवं अन्य एकान्तवादियों द्वारा जो कल्पित किए गए आप्त हैं उनका समस्तरूपसे व्यवच्छेद बतानेके लिए तीन असाधारण विशेषण आचार्योंने कहे हैं, क्योंकि उनके माने गए ईश्वर आदिकमें ये तीन विशेषण सम्भव नहीं होते, क्योंकि उनमें बाधक प्रमाण मौजूद है। भगवान चार घातिया कर्मोंके नष्ट करने वाले वीतराग सर्वज्ञदेवमें ही उन तीन विशेषणोंके सद्भावको सिद्ध करने वाले प्रमाण बनते हैं। इस कारण ये असाधारण विशेषण अनिष्ट परिहारके लिए बताये गए हैं। अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि अन्य एकान्तवादियोंने जो आप्त माना है उनके आप्तपनेमें क्या दूषण है जिससे कि उनके आप्तपनेका निराकरण करनेके लिए ये असाधारण विशेषण कहे गए हैं? और दूसरी बात यह बतायें कि इस तरहका अन्य योग व्यवच्छेद करनेसे परमेष्ठीको जो सिद्ध किया है उनमें आप्तपना निश्चित् किया है सो उनको आप्तपना निश्चित् करनेसे कौनसी बात प्रतिष्ठित बनती है? याने अन्य ईश्वरको आप्तपनेका व्यवच्छेद किस दूषणके बलपर किया है? तथा उनका निराकरण करके जो एक महात्मा परमेष्टियोंको आप्तरूपसे निश्चित् किया है तो उसमें क्या प्रतिष्ठा की जा रही है? यदि अन्य महेश्वर आदिकको भी आप्त मान लिया जाय तो क्या दूषण आता है और अरहंत परमेष्ठीको आप्तरूपसे सिद्ध कर लिया तो कौन सा लाभ मिल जाता है? इस प्रकारकी शङ्का होनेपर ग्रन्थकार आचार्य महोदय आगेकी कारिका में इस शङ्का का समाधान करते हैं।

अन्ययोगव्यवच्छेदान्निश्चिते हि महात्मनि।
तस्योपदेशसामर्थ्यादनुष्ठानं प्रतिष्ठितम् ॥ ५ ॥

अन्ययोगव्यवच्छेद होनेसे विशेष्यका दृढ़निर्णय होनेके कारण विशे-

षणोंकी सार्थकता—अन्ययोगका व्यवच्छेद होनेसे किसी महात्मामें आप्तपनेका निश्चय हो जाता। और उस प्रभुके उपदेशकी सामर्थ्यसे प्रतिष्ठा होती है कर्तव्यकी, प्रश्न यह किया गया था कि सूत्रकारने जो मङ्गलाचरण किया है कि मोक्षमार्गके नेता कर्मपहाड़के भेदने वाले सर्व तत्त्वोंके ज्ञाताको मैं उनके गुणोंकी प्राप्तिके लिए नमस्कार करता हूं। इस मङ्गलाचरणमें इन तीन विशेषणोंसे प्रशंसा करनेका प्रयोजन क्या है ? उसका उत्तर यह दिया गया है कि इन तीन गुणोंके उपदेशसे यह निश्चय हो जाता है कि जिसमें तीन गुण न हों वह तो प्रभु नहीं है और जहाँ ये तीनों गुण पाये जायें वह प्रभु है। तो अन्य योगका व्यवच्छेद हो अर्थात् अन्य कुदेवमें आप्तपना मान लिया जाय, ऐसा यहाँ अन्य योगव्यवच्छेद है। उससे तो निश्चय होता है कि अरहत सर्वज्ञ वीतराग ही महान आत्मा हैं। दूसरा प्रश्न यह था कि अन्ययोग व्यवच्छेद करके किसी एक महान आत्मामें आप्तपना निश्चय करनेपर करना क्या पड़ा है ? क्यों इतना श्रम किया जा रहा है ? उसका भी समाधान इस कारिकामें आया कि जब निर्णय हो जाता है कि सत्य आप्त है तब उसके उपदेशके माध्यमसे भव्य जीव अपने शान्तिके काममें लग जाते हैं। तो चारित्रकी प्रतिष्ठा तब ही हो पाती है जब चारित्रमें उत्कृष्ठ प्रसिद्ध हुए किसी महान् आत्माका उपदेश प्राप्त हो। इस तरह मङ्गलाचरणके दो प्रयोजन हैं— एक तो सत्य आप्तका निर्णय करना, दूसरा - सत्य आप्तका निर्णय करके उसके उपदेशके अनुसार अपना संयम बनाना।

प्रकृत विशेषणोंकी अन्ययोगव्यवच्छेदकत्व प्रयोजकता यहाँ शङ्काकार कहता है कि दूसरे देवोंका खण्डन किया। उनका खण्डन किए बिना भी तो भगवान परमेष्ठीके तत्त्वोपदेशका अनुष्ठान प्रतिष्ठाको प्राप्त हो ही जाता है, फिर अन्य देवके देवत्वका योगव्यवच्छेदका काम क्यों करना पड़ा ? अर्थात् अन्य देवका खण्डन मत कीजिए ! किन्तु अपने माने गए, भगवान अरहंतके माने गए उपदेशपर चलें, आपका कार्य हो ही जायगा, फिर अन्ययोग व्यवच्छेदकी क्या जरूरत है ? वीतराग सर्वज्ञदेव का जो उपदेश है वह अविरुद्ध उपदेश है, सही उपदेश है, उस उपदेशपर लग जायेंगे, अन्य देवोंके देवत्वके निराकरणसे क्या प्रयोजन है ? तो अन्ययोगव्यवच्छेदके बिना भी जब तत्त्वोपदेशके बलसे नियमका अनुष्ठान बन सकता था तो वहाँ जो यह प्रयोजन बताया जा रहा है कि ३ विशेषण जो दिए गए हैं वे अन्य योगके व्यवच्छेद करनेके लिए दिए गए हैं, यह कथन युक्त नहीं जचता। अब इसके समाधानमें कहते हैं कि शङ्काकारका आशय यह था कि अन्य देवके मिथ्यापनको जाहिर न करे, उनके देवत्वका खण्डन न करे, उनमें यह विशेषण नहीं, ऐसा बयान न करें और अपने माने हुए सर्वज्ञकी वाणीके अनुसार चलें तो यह भला था, क्योंकि यह कथन अविरुद्ध कथन है। और, दूसरे देवोंका निराकरण न करना पड़े। यद्यपि शङ्काकारका अभिप्राय सज्जनताकी निगाहसे ठीक जच रहा हो, लेकिन प्रसङ्ग तो यह है कि बिल्कुल

सत्य और असत्य देवोंका निर्णय किए बिना किसीके उपदेशपर निशंक होकर चलना बन नहीं सकता। जब यह दृष्टिगत हो रहा है कि किसी संतका कहा हुआ वचन और तरह है, किसीका और तरह है, तो उनमें निर्णय तो करना ही पड़ेगा कि वास्तविक तत्त्व कौन सा है। और, वास्तविक तत्त्वका निर्णय करने जब चलेंगे तो यह निश्चय करना होगा कि यह सत्य वक्ता है और यह रागी वक्ता है। बस, यह निर्णय तो इन तीन विशेषणोंमें पड़ा हुआ है। तो परस्पर विरुद्ध आगमका प्रणयन हो जाने से तत्त्वका निश्चय नहीं बन सकता। फिर तो यह दृष्टि बनानी होगी कि चाहे किसी का भी कहा हुआ शास्त्र हो, सभीपर चलना चाहिए! तो तत्त्वका निश्चय कहाँ हुआ? वे सब शास्त्र तो परस्पर विरोध डालने वाले हैं। तो परस्पर विरुद्ध आगमका प्रणयन होनेसे तत्त्वका निश्चय नहीं बन सकता है और ऐसी स्थितिमें उन समस्त शास्त्रोंमेंसे कोई एक यह ही शास्त्र ठीक है, इसका उपदेश प्रमाणभूत है, यह निश्चय तो नहीं किया जा सकता; और जब उपदेशकी प्रमाणताका निश्चय नहीं हो सकता तो उससे फिर अनुष्ठानकी प्रतिष्ठा भी नहीं बन सकती याने उस उपदेशमें जो कुछ करनेको कहा गया है वह किया ही जायगा, किया ही जाना चाहिए या कल्याणार्थी जन उसे करने लगेंगे, ऐसा कोई व्यवहार नहीं बन सकता है। इस कारणसे इन तीन विशेषणोंके द्वारा आप्तकी वन्दना करना युक्तिसङ्गत है।

कर्तव्यपथपर चलनेके लिए उपदेशके सत्यत्व व असत्यत्वके निर्णयकी आवश्यकता—अब शङ्काकार कहता है कि मोक्षके उपायका कुछ भी कर्तव्य बताये कोई उसके उपदेशमें तो कोई विवाद करता ही नहीं है और न उन वक्ताओंको कोई विवाद रहता है। तब अरहंतके उपदेशकी तरह ईश्वर कपिल आदिकके भी उपदेश हों तो उन उपदेशोंसे भी कर्तव्यकी प्रतिष्ठा तो हो ही जाती है। अर्थात् संसारके संकटोंसे मुक्ति पानेके विचारके प्रसङ्गमें जिन-जिन संतोंने उपदेश दिया है वे सब अनुष्ठानके योग्य हैं। ५ पापोंका सब त्याग बताते हैं, जीवघातका सब परिहार कराते हैं तो उनके उपदेशोंमें कमी क्या रही? जो करना चाहिए, खोटी आदतोंसे हटना चाहिए, अच्छे संस्कारोंमें लगना चाहिए यह ही तो सब कहा करते हैं। फिर अन्य योगव्यवच्छेद करके परमेष्ठियोंका निश्चय किया जा रहा है। सो ऐसा क्यों किया जा रहा है? अथवा अन्यका निराकरण करके किसी एकका परमेष्ठीपना निश्चित कैसे हो सकता है? जब सभी मोक्षका उपदेश करते हैं और वे सभी अनुष्ठानके योग्य हैं, पापोंसे सभी निवृत्ति करने वाले हैं तब वहां *अन्य योगव्यवच्छेद* भी उचित नहीं जचता और अनुष्ठान, संयम, व्रत, विधान आदिक भी सभीके उपदेशके अनुसार प्रतिष्ठा पा रहे हैं। उक्त शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि इस प्रकारकी शङ्का करनेवाले पुरुष भी विशेषज्ञ नहीं हैं। यदि यों ही कबूल कर लिया जाय कि अरहंतके उपदेशसे भी मोक्षके उपायकी बात मिलती है और अन्य देवोंके उपदेशसे भी मोक्षके उपायकी

बात मिलती है तब उसमें अन्ययोगव्यवच्छेदकी क्या जरूरत है ? और, किसी एकके परमेष्ठीपनेके निश्चयकी भी क्या आफत पड़ गई है ? ऐसा कहने वाले लोग समझदार नहीं हैं। इस तरह तो समीचीन उपदेश और मिथ्या उपदेशमें कोई विशेषता ही न रहेगी। फिर तो कोई जो कुछ कहे, सभी कुछ मान लिया जाना चाहिए। यह उपदेश सत्य है यह उपदेश मिथ्या है, ऐसा निर्णय किए बिना कोई भी पुरुष निःशंक होकर कल्याणके मार्गमें लग नहीं सकता।

वक्ताके निर्दोषित्वकी परख होनेपर उपदेशमें स्वतः प्रामाण्य—उपदेश की सत्यता और असत्यताका निर्णय कैसे होगा ? वह होगा युक्तियोंसे परख होनेपर और उनके वक्ताओंकी निर्दोषता विदित होनेपर। वक्ताके वचन, वक्ताकी निर्दोषता ध्यानमें आनेसे उपदेश स्वतः प्रमाणभूत हो जाता है। तो समीचीन और मिथ्या उपदेशका निर्णय बनाये रहनेके लिए आवश्यक है कि हम सत्य वक्ताका निर्णय करें। उस ही निर्णयके प्रसङ्गमें तीन विशेषणोंसे कहकर आप्तको नमस्कार किया गया है। सूत्रके जितने भी कथन किए गए हैं वे सब सांसारिक सङ्कटोंसे मुक्ति पानेके लिए किए गए हैं। ज्ञानविज्ञान बढ़ाकर परस्पर चर्चा करते रहनेके लिए संतोंका ग्रन्थनिर्माण नहीं होता। उनके ग्रन्थोंका एक उद्देश्य रहता है कि संसारके सब सङ्कटोंसे सदाके लिए निवृत्ति हो जाय और इतना महान कार्य करनेके लिए सम्यक ज्ञान और सच्चे निर्णयकी आवश्यकता होती ही है। सम्यग्ज्ञान समीचीन वक्ताके उपदेशके निमित्तसे प्राप्त होता है। तब यह निर्णय करना आवश्यक हुआ कि समीचीन वक्ता कौन है ? सूत्रकारके मङ्गलाचरणमें यह सब ध्वनित होता है कि जो स्वयं मोक्षके मार्गमें लगा हुआ हो और उस मोक्षके मार्गमें अन्तिम मंजिलपर पहुंचा हो ऐसा परम पुरुष मोक्षमार्गका नेता कहलाता है और उसके उपदेशसे ही भव्य जीव निःशंक होकर उस कर्तव्यमें लगा करते हैं, ऐसी स्थिति तब ही प्राप्त होती है जबकि कर्मोंका विनाश हो जाता है। उनका स्वरूप होता है इतना निर्मल कि समस्त तत्त्व अपने आप उनके ज्ञानमें ज्ञात होता रहता है। यों इन तीन विशेषणोंसे युक्त भगवान के इन गुणोंकी प्राप्तिके लिए सूत्रकारोंने अभिनन्दन किया है।

विशेषवादसम्मत मोक्षमार्गानुष्ठानका विशेषवादियों द्वारा समर्थन—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि विशेषवादियों द्वारा माना गया जो आप्त है आगम प्रसङ्ग है उसका जितना भी मोक्षमार्गके सम्बन्धमें अनुष्ठानका उपदेश है वह तो युक्त ही है, क्योंकि इसमें कोई बाधक प्रमाण नहीं आता है। उनका उपदेश है कि श्रद्धाविशेषसे सहित सम्यग्ज्ञान जो कि वैराग्यका निमित्तभूत है वह सम्यग्ज्ञान जब उत्तम सीमाको प्राप्त हो जाता है तो वही तो निश्रेयसका हेतु होता है अर्थात् लोकमें जो सर्वोपरि कल्याण है, मुक्ति है उसका कारण बन जाता है, अर्थात् सम्यग्ज्ञान ही एक

वैराग्यका उत्कृष्ट निमित्त होता है। उत्कृष्ट सीमाको प्राप्त होता हुआ सम्यग्ज्ञान ही मोक्षका हेतु है और इसके सम्बन्धमें यह भी खुलासा किया गया है कि श्रद्धान कहलाता क्या है ? श्रद्धान विशेष वह क्या है जिससे युक्त होकर सम्यग्ज्ञान परम निश्रेयस का हेतु बनता है। वह श्रद्धाविशेष है उपादेय तत्त्वोंमें उपादेयरूपसे और हेय तत्त्वोंमें हेयरूपसे श्रद्धान करना कि पदार्थ जो तत्त्व ग्रहण करने योग्य हैं उनमें उपादेय बुद्धि होना और जो पदार्थ हेय हैं उन हेय तत्त्वोंमें हेयबुद्धि होना बस यही श्रद्धान कहलाता है. और सम्यग्ज्ञान किसे कहते हैं इसको भी विशेषवादमें यह बताया गया है कि जो पदार्थ जिस तरह अवस्थित हैं उनको उस प्रकारसे जान लेना उसका नाम सम्यग्ज्ञान है और वैराग्य क्या चीज है ? जो सम्यग्ज्ञानके मूलपर अपना विस्तार बनाता है, जिसका सम्यग्ज्ञान हेतु है ऐसा वह वैराग्य है रागद्वेषका विनाश हो जाना। तब इन सबका अनुष्ठान क्या कहलाया ? रागद्वेषका विनाश हो, यथावस्थित पदार्थका ज्ञान हो, उपादेयमें उपादेयरूपका अभिप्राय बने आदिक समस्त प्रक्रियावोंका अनुष्ठान किया गया है वह भी अनुष्ठान है। उस सम्यग्ज्ञानकी भावनाका अभ्यास होना अथवा वैराग्यका, ज्ञानका, श्रद्धानका ज्ञानाभ्यास होना. यही अनुष्ठान है। तो उस उपदेशमें श्रद्धान, ज्ञान और वैराग्य बताया है। और तीनोंकी भावनाका अभ्यास करना इसका अनुष्ठान बताया गया है। सो देखिये ! इस मोक्षमार्गके अनुष्ठानका जो उपदेश किया गया है वह न प्रत्यक्षसे बाधित है और न अन्य प्रमाणसे। इस मोक्षमार्गके अनुष्ठानका उपदेश प्रत्यक्षसे यों बाधित नहीं कि जो जीवनमुक्त पुरुष है वे तो प्रत्यक्ष द्वारा जीवन मुक्तिका अनुभव कर लेते हैं। देखिये ! मोक्ष और मोक्षमार्ग, मोक्षमार्गका अनुष्ठान, इन सबकी चर्चा चल रही है। विशेषवादके अनुसार। यह सब प्रत्यक्ष सिद्ध बात है। जो जीवनमुक्त हुए हैं वे प्रत्यक्ष द्वारा अपनी जीवनमुक्तिका अर्थात् अपर निःश्रेयसका अनुभव कर लेते हैं। तो इस निःश्रेयसके उपायका अनुष्ठान प्रत्यक्षसे बाधित नहीं है और जो छद्मस्थ जीव हैं वे रागद्वेषके अभावसे उसका अनुमान करते हैं। यों अनुमान से भी बाधा नहीं आती हैं। वे यों अनुमान कर लेते कि जिस जीवमें हर्ष और विषाद नहीं रहे रागद्वेष नहीं रहे वे जीवनमुक्त हैं, उनको निश्रेयस प्राप्त हो गया है। तो लो अनुमानसे भी विशेषवादके निश्रेयस मार्गोपदेशमें कोई बाधा न आई और आगम की बात देखें तो यह उपदेश प्रकट दिया ही गया है कि जीवित अवस्थामें भी विद्वान राग और द्वेषसे मुक्त हो जाते हैं, ऐसा विशेषवादमें स्पष्ट लिखा हुआ है। जीवन्नेवहि विद्वान् संहर्षायासाभ्यां विमुच्यते। तो अनुमान और आगमसे भी मोक्षमार्गके अनुष्ठान में कोई बाधा नहीं आई। इन सब प्रमाणोंसे भी यह सिद्ध हुआ कि मोक्षमार्गका अनुष्ठान ज्ञान श्रद्धाविशेष और वैराग्यके उपायसे चलता है। इस ही अनुष्ठानमें जीवनमुक्तिकी तरह परममुक्ति भी सम्भव होती है। जीवनमुक्तिका अर्थ है शरीरसहित स्थितिमें मुक्ति होना, परममुक्तिका अर्थ है कि शरीर भी न रहे ऐसी परममुक्ति हो। जन्म मरण बिल्कुल न रहे तो जीवनमुक्ति, जिस प्रकार अभी सिद्धि की गई है उस

प्रकार परममुक्ति भी सिद्ध हो जाती है तब कोई भी प्रमाण उक्त उपदेशमें बाधक नहीं है, क्योंकि जो उपदेश दिया गया है विशेषवादमें उससे विपरीत विरुद्ध अर्थ कोई भी प्रमाण व्यवस्था नहीं बना सकता। सभी प्रमाण प्रत्यक्ष अनुमान आदिक सभी इसी उपदेशका समर्थन करते हैं। जैसा कि विशेषवादके सिद्धान्तमें उपदेश किया गया है।

ज्ञेय विषयोंके विपरीत ज्ञानमें निःश्रेयसोपायकी असंभवता बताते हुए उक्त आशंकाका समाधान—उक्त शङ्काके द्वारा सिद्ध करनेका यह अभिप्राय है शङ्काकारका कि जब विशेषवाद आदिक अन्य मतोंमें भी अपने माने हुए आप्तका उपदेश सही बनता है तब उनका व्यवच्छेद करनेके लिए मङ्गलाचरणमें तीन विशेषण दिए हैं, यह कथन कैसे युक्त बन सकता है? अब इस शङ्काका समाधान करते हैं। शङ्काकारकी उक्त शङ्का सीधे सुननेमें बड़ी भव्य लग रही है किन्तु उसपर जब विचार किया जाय तो यह शङ्का विचार सह नहीं सकती अर्थात् विचार करनेपर इस शङ्काका उच्छेद हो जायगा। उपदेशमें जो यह बताया है कि उपादेयमें उपादेयरूपसे बुद्धि होना श्रद्धा विशेष है, यह कथन भी ठीक है। जैसा जो पदार्थ अवस्थित है उसका उस प्रकारसे ज्ञान कर लेना यह भी समीचीन है और राग द्वेषका प्रक्षय होना वैराग्य है। ये सब बातें समीचीन हैं पर मूलमें विपरीतता तो यह बसी हुई है, कि श्रद्धा विशेषमें जो विषय बनाया जाता है, जिस तरहसे पदार्थोंके स्वरूपकी श्रद्धा करायी जाती है उन पदार्थोंका उस तरह स्वरूप तो नहीं है। जिस बातको अभी उक्त शङ्कामें छुआ ही नहीं गया है उस बातपर दृष्टिपात कीजिए! श्रद्धा विशेषका लक्षण किया है ठीक है, सम्यग्ज्ञानका लक्षण बताया है ठीक है, वैराग्यका भी लक्षण ठीक है, पर श्रद्धामें जो बात वह लायगा कि वस्तुका स्वरूप इस प्रकार है, भेदरूप है, अभेदरूप है जिस तरहसे वह लायगा वह विषय तो सही नहीं बैठता। यह कहना तो उपयुक्त है कि जो पदार्थ जिस रूपसे अवस्थित है उसका उस रूपमे परिज्ञान कर लेना सम्यग्ज्ञान है पर उस रूपसे बताये नहीं, उल्टे रूपमें प्रतिपादन करे तो ज्ञान सम्यग्ज्ञान तो न रहा। ज्ञानका लक्षण तो भला किया पर ज्ञानमें जो विषय बनाया जाता है विशेषवादमें वह विषय तो खुरा नहीं उतरता अर्थात् जैसा ज्ञानने सोचा है वैसा पदार्थमें स्वरूप तो नहीं पाया जाता, इस कारण उक्त उपदेश समीचीन नहीं हो पाता है। विशेषवादमें बताया गया है कि पदार्थ ६ होते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। ये ६ पदार्थ तो उपादेय हैं और वे सदात्मक हैं, सद्भावात्मक हैं तथा प्रागभाव प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव ये असदात्मक हैं। इस तरह इन सब पदार्थोंकी जैसी व्यवस्था विशेषवादमें वर्णन की है उस प्रकार उनकी स्वरूप सिद्धि तो नहीं होती है क्योंकि प्रथम तो यह देख लीजिए कि द्रव्यादिक जो ६ पदार्थ बताये गए हैं उनको सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं मिलता। ६ पदार्थ तो तब

ही कहलायेंगे ना कि वे ६ स्वतंत्र एक एक हों और एक दूसरेसे भिन्न भिन्न हों तब ही तो उनकी संख्या ६ कही जा सकेगी। लेकिन उन छहोंमें एक समवाय नामका पदार्थ तो इस तरह विशेषवादमें माना गया है कि वह एक है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष इन सबसे भिन्न है, किन्तु जिस प्रकार समवाय माना गया है एक उस तरह द्रव्य गुण आदिकसे भिन्न एक हो गुण द्रव्यादिकसे भिन्न एक हो, कर्म अन्य पदार्थोंसे भिन्न एक हो सामान्य उन सबसे भिन्न एक हो, विशेष उन सबसे भिन्न एक हो ऐसा तो माना ही नहीं गया है, फिर द्रव्यादिक ६ पदार्थ वहाँ कैसे सिद्ध हो जावेंगे ? इसको स्थूल विधिसे यों समझ लीजिये कि द्रव्य एक नहीं माना गया है, किंतु ६ माने गए हैं। तो ६ पदार्थोंकी संख्या कैसे सही हो जायगी ? गुण भी २४ माने हैं, एक कहाँ रहा ? कर्म ५ माने गए हैं, यह भी एक न रहा, सामान्य भी पर सामान्य अपर सामान्य आदिक अनेक व्यवस्थाओंमें व्यवस्थित किया गया है। विशेष भी विविध माने गए हैं वे तो स्पष्ट ही हैं। तो द्रव्यादिक ६ पदार्थ जैसे वर्णित किए गए हैं वैसे सिद्ध तो नहीं हो रहे। तो ज्ञानमें जो बात बतायी है वह उस तरह है नहीं। अतः इस ज्ञानके अनुकूल श्रद्धा, ज्ञान, अनुष्ठान निःश्रेयसका साधक कैसे हो सकता है ?

द्रव्य पदके अर्थ होनेके नाते द्रव्यके एकत्वकी असिद्धि—अब विशेषवादी कहता है कि जो समाधानमें यह आपत्ति बताई कि समवायकी तरह द्रव्य एक नहीं होता, सो सुनो ! द्रव्यपदका अर्थ है पृथ्वी, जल, अग्नि वायु, आकाश, काल दिशा, आत्मा और मन। ये ९ द्रव्य होते हैं। तो द्रव्य पदार्थ एक कैसे नहीं होता ? ये जो ९ द्रव्य हैं ये तो द्रव्य पदके अर्थ हैं, मायने द्रव्य पदके द्वारा क्या क्या ज्ञात होता है वह भेदरूप सूचित होता है। हैं तो वे सब द्रव्य ही। तो द्रव्य पदार्थ एक सिद्ध हो जाता है। उत्तरमें कहते हैं कि वाह ! कह भी रहे हैं कि द्रव्य पदका अर्थ ये ९ द्रव्य हैं और फिर कहते हो कि द्रव्य पदका अर्थ एक रहा। अरे लक्षणसे पहिचाननेके लिए किए गए तो वे ९ फिर द्रव्य पदार्थ एक कैसे रह गया ? शायद यह कहो कि सामान्य और संज्ञाके नामसे द्रव्य पदार्थ एक कहलायगा। यद्यपि द्रव्य ९ हैं फिर भी सामान्य रूपसे वह द्रव्य है और सबका द्रव्य द्रव्य नाम है। द्रव्य शब्दसे भी बोला जाता है इस कारणसे द्रव्य पदार्थ एक हो जायगा। इस तरह यदि विशेषवादी ऐसा प्रतिपादन करें द्रव्य पदार्थको एक सिद्ध करनेके लिए तो सुनो ! ऐसा कहनेमें भी द्रव्य पदार्थ सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि सामान्य जो संज्ञा बनायी तो सामान्य संज्ञा मो सामान्यवानको विषय करेगा। याने सामान्य संज्ञा है द्रव्य। तो इस सामान्य संज्ञा सामान्यवानको विषय करनेसे अब ९ पदार्थ ग्रहणमें नहीं आये। सामान्य संज्ञासे सामान्यवान ग्रहणमें आया और उस द्रव्यपदका अर्थ तो यदि सामान्यपद मान लेते हो तब तो उस द्रव्य शब्दसे विशेषमें परिणति नहीं हो सकती। यदि यह मानकर चलो कि द्रव्य एक सामान्य संज्ञा है और उस सामान्य संज्ञासे उस द्रव्यसे उन पृथ्वी आदिक ९ पदार्थोंका

ग्रहण होना है। तो सामान्यसंज्ञा सामान्यवानको विषय करे उसका अर्थ सामान्य पदार्थ बने तो विशेषमें कैसे परिणति बन सकती है। और, इस तरह द्रव्य पदार्थ एक सिद्ध भी नहीं हो सकता है। यदि वह सामान्यसंज्ञा विशेषमें प्रवृत्त होने लगे तो द्रव्य पदार्थ एक कहाँ रहा? वे तो ६ हो गए। पृथ्वी आदिकमें द्रव्य यह जो संज्ञा है वह द्रव्यत्व सामान्यके सम्बन्धके कारणसे है। तब वहाँ द्रव्यत्व एक रहा, पर कोई द्रव्य एक नहीं कहलाया। द्रव्य ऐसी जो संज्ञा हुई है वह विशेषवादकी पद्धतिके अनुसार द्रव्यत्वके सम्बन्धसे हुई है। तो द्रव्यत्व सामान्यका उनमें सम्बन्ध है इसलिए उसका नाम द्रव्य पड़ा है। तो इस तरह एक तो द्रव्यत्व कहलाया, द्रव्य तो एक नहीं कहलाया। फिर ६ पदार्थ हैं सद्भूत हैं आदिक वर्णन करेंगे वह सङ्गत कहाँ होगा? तो जो वैशेषिकने कहा कि श्रद्धा ज्ञान और अनुष्ठानसे निश्रेयसकी प्राप्ति होती है सो यह शब्द तो बड़ा भला है, लेकिन ज्ञानसे जाना क्या जाता है? जो कुछ ज्ञेय बना है विशेषवादमें वह वस्तु स्वरूपके अनुरूप नहीं है। तब मिथ्याज्ञानसे और मिथ्याज्ञानके अनुरूप अनुष्ठानसे निश्रेयसकी प्राप्ति कैसे हो सकेगी? प्रथम तो यह विरुद्ध जंच रहा है कि ६ पदार्थ माने हैं मगर पदार्थ ६ कहाँ हैं? सामान्य तक भी एक नहीं है। केवल समवायको एक माना है? तब फिर द्रव्यगुण आदिक ये एक कैसे कहला सकते हैं?

द्रव्यलक्षणके एकत्वसे द्रव्यके एकत्वकी असिद्धि—शङ्काकार कहता है कि द्रव्यका लक्षण तो एक है, क्यों द्रव्यकी आलोचनामें इतना बढ़कर चल रहे हों। द्रव्य एक है क्योंकि द्रव्यका लक्षण एकसे इस तरहसे द्रव्य पदार्थ एक है, यों सिद्ध हो जायगा। इसके उत्तरमें कहते हैं कि द्रव्यका लक्षण यदि एक है तो रहो, उसमें हमें कोई आपत्ति नहीं दिया करते, द्रव्य पदार्थ तो वह न बन जायगा। द्रव्य लक्षण एक होनेसे द्रव्य पदार्थ एक नहीं बना करता। यदि द्रव्य लक्षणको एक होनेसे द्रव्य पदार्थ एक मान लिया जाता है तो क्या द्रव्य लक्षण हीका नाम द्रव्य पदार्थ है सो तो है नहीं द्रव्य लक्षण जुदी बात है। द्रव्य पदार्थ जुदा पदार्थ है। तो यह कहकर पूर्वक्षणको पुष्ट करना युक्त नहीं है कि द्रव्य लक्षण एक है। द्रव्य लक्षणके एक होनेसे द्रव्य पदार्थ भी नहीं बन जाता, क्योंकि द्रव्य पदार्थ तो लक्ष्य है और लक्ष्य द्रव्य यदि कुछ नहीं है, द्रव्य लक्षण ही द्रव्य पदार्थ बन जाय तो जब लक्ष्य कुछ नहीं तो लक्षण कुछ भी नहीं हो सकता है, इस लिए द्रव्य लक्षण जुदी चीज हो और, उस द्रव्य लक्षणके द्वारा जैसी चीज है वह लक्ष्यभूत पदार्थ जुदी चीज है। विशेषवादमें ऐसा माना है कि पृथ्वी आदिक तो लक्ष्य है और द्रव्यका लक्षण किया गया है कि क्रियावान हो गुणवान हो और समवायी कारण हो। तो अब यहाँ यह देखिये ! कि लक्ष्य तो अनेक हैं और यहाँ लक्षण एक ही प्रयुक्त किया गया है तो अनेक लक्ष्योंमें एक लक्षण कैसे प्रयुक्त हो गया क्योंकि लक्षण तो प्रतिव्यक्तिमें भिन्न भिन्न रहता है। जो ही द्रव्य लक्षण पृथ्वी

में हो वही तो जल आदिकमें नहीं हो सकता, क्योंकि द्रव्यका लक्षण तो असाधारण रूपको लिए हुए होगा। तो यह कथन भी सहसा विरुद्ध जचता है कि पृथ्वी आदिक तो लक्षण है और उन सबका लक्षण एक है। वस्तुतः जितने भी पदार्थ हैं उनके लक्षण उतने ही पाये जायेंगे। भले ही जातिकी अपेक्षा उनको एक सामान्यरूपसे कह दिया जाय लेकिन जिनमें सामान्य धर्म है, साथ ही विशेष धर्म भी होता है। तो प्रत्येक पदार्थ अपने अपने विशेष धर्मके नहीं है। भिन्न-भिन्न ही हुआ करते हैं।

लक्षणकी साधारणासाधारणतया बताकर भी उससे द्रव्यके एकत्वकी सिद्धि—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि द्रव्यका लक्षण जो पृथ्वी आदिकका बताया है सो पृथ्वी आदिक गुण आदिकसे भिन्न होते हैं, इस कारण वह द्रव्य लक्षण असाधारण धर्म हैं और पृथ्वी आदिक ६ में वह लक्षण समानतासे पाया जाता है ऐसा भी साधारण धर्म है याने द्रव्यका जो लक्षण कहा गया है वह न एकान्तसे साधारण है और न एकान्तसे असाधारण है। पृथ्वी आदिक ६ द्रव्य गुणकर्म आदिकसे निराले हैं, इस दृष्टिसे तो उनमें असाधारण धर्म पाया जा रहा है। असाधारण धर्मका यह काम है कि वह अन्यका व्यवच्छेद बनेगा। याने अन्य पदार्थोंसे निराला वह दिखायगा इस दृष्टिसे तो वह असाधारण धर्म है और पृथ्वी आदिक ६ में वह पाया जाता है इसलिए वह साधारण धर्म है। यदि यों साधारण असाधारण दो धर्म न माने जायें तो लक्षणमें जो अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषके निराकरणकी बात कही जाती है वह कैसे सिद्ध होगी? असाधारण और साधारण दोनों प्रकारकी बातें मानी जानेपर ही अव्याप्ति अतिव्याप्तिके निराकरणकी विधि बनती है, समस्त लक्ष्यभूत व्यक्तियोंमें व्यापक जो एक लक्षण है उसे बताना सो अव्याप्तिका परिहार है। तो साधारण धर्मकी दृष्टिसे ही तो यह बताया जा सका है कि यह लक्षण समस्त लक्ष्योंमें रहता है। तो वह लक्षण साधारण हुआ ना, इसी प्रकार अलक्षणसे वह लक्षण अलग है याने यह लक्षण अलक्षणमें नहीं जाता है ऐसा कोई बताये, तब ही तो अतिव्याप्तिका परिहार होता है सो इसमें असाधारण धर्मकी बात आ गयी अर्थात् यह लक्षण अलक्षणसे अलग है। तो यह इसमें असाधारणता पाई गई। इस तरह जितने लोग लक्ष्य लक्षणके जानने वाले हैं सब समझते हैं कि लक्षणमें असाधारणपना और साधारणपना हुआ ही करता है। तो इसका भी जो द्रव्यलक्षण कहा है उसमें भी साधारणपना और असाधारणपना रहेगा ही! अब इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि लक्षणमें असाधारण और साधारण दोनों विधियोंसे मान लिया जाय तो एक द्रव्य पदार्थ तो सिद्ध नहीं होता, क्योंकि द्रव्य लक्षणसे भी अन्य कोई लक्ष्यभूत एक द्रव्य पाया ही नहीं जाता है, क्योंकि अब तो द्रव्य लक्षणसे द्रव्य पदार्थको मान लिया है। एक द्रव्य पदार्थ तो सिद्ध नहीं हो सकता।

उपचरित एकत्वसे पारमार्थिक एकत्वकी असिद्धि—अब यहाँ वैशेषिक

कहते हैं कि पृथ्वी आदिक ९ द्रव्य तो हैं किन्तु उन ९ द्रव्योंमें एक द्रव्य लक्षण रहता है इस कारण उस एक द्रव्य लक्षणके योगसे एक द्रव्य पदार्थ कहलाने लगेगा। समाधानमें कहते हैं कि इस तरहका कहना केवल उपचार मात्र रहेगा। जैसे कोई कहता है कि पुरुष लाठी है, यह लाठी पुरुष है अथवा किसी पुरुषको पुकारते हैं कि ऐ लाठी ! याने वह पुरुष लाठी लिए हुए था तो लाठीके सम्बन्धसे उस पुरुषको यह लाठी इस नामसे कह दिया, तो क्या सचमुचमें वह पुरुष लाठी हो गया ? लाठी तो नहीं हुआ किन्तु व्यवहार इस तरहका प्रसिद्ध है ही। तो इसे कहेंगे उपचार कथन ! अथवा जैसे कोई अमरूद बेचने वाला ही पुरुष सड़कपर चला जा रहा है तो उसे लोग यही कहकर पुकारते हैं कि ऐ अमरूद, इधर आवो ! बुलाया पुरुषको पर अमरूद कहकर, क्योंकि अमरूदका सम्बन्ध है, अतः उपचारसे अमरूद रख लिया। यों उपचारसे कुछ नाम रख लेनेपर वास्तवमें वह वही नहीं बन गया। इसी तरह पृथ्वी जल, अग्नि आदिक पदार्थ ९ ही विशेषवादमें और एक लक्षणके सम्बन्धमें एक कहे जा रहे हैं तो यह तो उपचार मात्र रहा। स्वयं तो एक न रहा, स्वयं तो वे ९ पदार्थ हो गए। अथवा ९ की भी क्या बात कहें—जितनी तरहकी पृथ्वी हैं, जितने उसके कण-कण हैं उनपर दृष्टि दें तो पृथ्वी भी नाना हैं। तो एक द्रव्य पदार्थकी व्यवस्था नहीं बनती, तब यह कहना कि ६ पदार्थ हैं और उनका इस तरहसे ज्ञान करना, श्रद्धान करना भी निश्रेयसका मार्ग है। तो ज्ञेय पदार्थ जब सही ज्ञानमें न आया तो वह ज्ञान निश्रेयसका मार्ग कैसे बनेगा ?

द्रव्योंमें द्रव्यलक्षणके एकत्वकी भी असिद्धि—अब दूसरी बात सुनो ! जो यह कहा है कि द्रव्य लक्षण एक है और उस एक द्रव्य लक्षणके सम्बन्धसे द्रव्य पदार्थ ९ कहलाते हैं तो लक्षण भी तो एक नहीं है। स्वयं विशेषवादमें यह कहा गया है कि पृथ्वी आदिक ५ क्रियावान द्रव्योंमें ही क्रियावत्, गुणवत् समवायि कारण द्रव्य है, इस प्रकारका लक्षण घटित होता है। द्रव्य ९ माने हैं, उनमें आकाश, आत्मा कहाँ क्रियावान हैं ? वे तो निष्क्रिय माने गए हैं– तो क्रियावान जो पृथ्वी आदिक ५ पदार्थ हैं उनमें ही तो द्रव्यका लक्षण गया। निष्क्रिय, आकाश, काल, दिशा और आत्मा, ये चार पदार्थ माने गए हैं, उनमें क्रियावानपना घटित नहीं होता है। तो लो लक्षण भी एक न रहा सबका। अब इन ४ पदार्थोंमें यह लक्षण बना कि गुणवत समवायि कारणं द्रव्यं —जो गुणवान है और समवायि कारण है सो द्रव्य है। तो लक्षण एक न रहा, लक्षण दो हो गए।। कुछ हैं क्रियावान द्रव्य और कुछ हैं निष्क्रिय द्रव्य। तो लक्षण दो हो गए। फिर यह कहना कैसे सही रहा कि एक द्रव्य लक्षणके योगसे ९ द्रव्य पदार्थ एक ही कहलाते हैं। अब तो संक्षेपसे संक्षेप भी करेंगे तो यह कहना पड़ेगा कि दो द्रव्य लक्षणोंके सम्बन्धसे दो ही द्रव्य पदार्थ होते हैं।

द्रव्यलक्षणत्वके योगसे द्रव्यलक्षणके एकत्वकी व द्रव्यलक्षणके एकत्व

से द्रव्यके एकत्वकी सिद्धिके प्रयासकी विडम्बना— अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि दोनों ही द्रव्य लक्षणोंमें एक द्रव्य लक्षणत्व तो पाया ही जा रहा है याने द्रव्य-लक्षण दो हैं पर उनमें द्रव्यलक्षणत्व तो एक है। यदि पहिले द्रव्यलक्षण है कि क्रियावान गुणवान समवाय कारण है तो यह भी तो द्रव्यलक्षण ही है। दूसरा द्रव्य लक्षण है गुणवान समवाय कारण द्रव्य कहलाता है। तो यह भी द्रव्यलक्षण है। तो जैसे ९ द्रव्योंमें एक द्रव्य लक्षण होनेसे एक कह रहे थे तो वहाँ यह विरोध किया समाधानकर्ताओंने कि द्रव्य लक्षण एक कहाँ पाया जा रहा है ? दो द्रव्य लक्षण हैं सो अब यों समझ लेना चाहिए कि दो द्रव्य लक्षण भी द्रव्य लक्षणत्वके सम्बन्धमें एक द्रव्य लक्षण कहलाने लगेंगे। तो यों द्रव्य लक्षणत्वके सम्बन्धसे दोनों द्रव्य लक्षण एक द्रव्य लक्षण कहलाये और एक द्रव्य लक्षणके सम्बन्धसे ९ पदार्थ एक पदार्थ कहलाये। अतः उक्त मान्यतामें किसी भी प्रकारका दोष नहीं आता है। जैसे कि विशेषवाद सम्मत चर्चा की गई थी। समाधान—एक द्रव्य लक्षणत्वके सम्बन्धसे द्रव्य लक्षण एक कहलायेंगे और फिर उस द्रव्य लक्षणके सम्बन्धसे ९ द्रव्य पदार्थ एक कहलायेंगे। ऐसा माननेमें दोष है क्योंकि उन दो द्रव्य लक्षणोंमें रहने वाला वह एक द्रव्य लक्षणत्व है क्या चीज ? जैसे कि पदार्थ ६ बतलाये हैं—द्रव्य गुण, कर्म सामान्य, विशेष, समवाय। तो यहाँ जो द्रव्य लक्षणत्व कह रहे हो वह कौनसा पदार्थ है ? वह सामान्य तो है नहीं क्योंकि सामान्य तो द्रव्य गुण कर्मके आश्रय होता है और द्रव्य लक्षण द्रव्य है नहीं, क्योंकि द्रव्य लक्षणको द्रव्य मान लेनेपर फिर द्रव्यसे भिन्न कोई द्रव्य लक्षण न बनेगा। द्रव्य लक्षणको तो द्रव्य मान बैठे तो द्रव्य लक्षण अब कुछ न रहा तो द्रव्य लक्षणके बिना द्रव्य पदार्थ लक्ष्यभूत सिद्ध कैसे हो सकेगा ? तो यों द्रव्य लक्षणको ही द्रव्य मान लिया तो अपने आपके वचनका विघात हो जाता है, अपने ही मतका विनाश हो जाता है। तो द्रव्यलक्षणत्व सामान्य पदार्थ तो न रहा।

गुणात्मकरूपसे कल्पित द्रव्यलक्षणत्वके भी योगसे द्रव्यलक्षणके एकत्व की व द्रव्यलक्षणके एकत्वसे द्रव्यके एकत्वकी सिद्धिके प्रयासकी विडम्बना

यदि कहो कि द्रव्यलक्षणत्वको गुण कहा जा सकता तो गुण भी नहीं है। गुणका भी लक्षण यह किया गया है वैशेषिक सूत्रोंमें कि जो द्रव्यके आश्रय हो, स्वयं गुणरहित हो, संयोग तथा विभागमें निरपेक्ष कारण हो उसे गुण कहते हैं, तो यह गुण लक्षण भी उसमें नहीं पाया जाता सूत्र है उनका "एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्ष कारणम्" तो यह गुणका लक्षण द्रव्यलक्षणत्वमें नहीं पाया जाता, इस कारण द्रव्य-लक्षणत्वके योगसे द्रव्य लक्षणमें एक कहनेकी बात कपोलकल्पित है। यहाँ कोई तत्त्व ही नहीं, पदार्थ ही नहीं, केवल बात ही बात बनाई जा रही है। शङ्काकार कहता है कि द्रव्य लक्षण ज्ञानरूप है। अतः उसे गुण मान लेना चाहिए। याने जो द्रव्य लक्षण बताया गया है एक तो यह क्रियावत् गुणवत् समवायी कारण, दूसरा यह गुणवत

समवायी कारण तो ये दोनों द्रव्य लक्षण ज्ञानरूप हैं, इन शब्दोंके बोलते ही कुछ ज्ञान होता है और उस ज्ञान द्वारा हम फिर बोध करते हैं तो ज्ञानरूप होनेसे उन दोनों द्रव्यलक्षणोंको गुण मान लिया जाना चाहिए। इसके समाधानमें कहते हैं कि यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि यदि उन दोनों लक्षणोंको ज्ञानरूप मान लिया जायगा तो पृथ्वी आदिकमें उनका रहना असम्भव हो जायगा, क्योंकि पृथ्वी आदिक ८ द्रव्य अचेतन हैं और उनमें ज्ञान तो पाया नहीं जाता और द्रव्य लक्षण है ज्ञानरूप तो उनमें ज्ञान नहीं पाया जाता सो इसका अर्थ यह हुआ कि द्रव्यलक्षण ही नहीं पाया जाता, क्योंकि अब इन दोनों द्रव्य लक्षणोंको ज्ञानरूप मान लिया गया है। ज्ञानरूप दोनों द्रव्य लक्षण अब पृथ्वी आदिक अचेतन द्रव्योंके असाधारण धर्म नहीं हैं। अब तो द्रव्य लक्षण केवल आत्मामें ही पहुंच सकेगा। क्योंकि ज्ञानका अधिकरण आत्मा ही है। तो द्रव्य लक्षण ज्ञानरूप है और ज्ञान गुण है। इस तरह द्रव्य लक्षणोंको गुण बताना ठीक नहीं है। शङ्काकार कहता है कि जैसे द्रव्य लक्षणमें एकत्व ज्ञानात्मक होनेसे सिद्ध किया जा रहा था और वह यदि सिद्ध नहीं हो सकता है तो द्रव्य लक्षणको शब्दात्मक मान लीजिए। तो यों शब्दात्मक दो द्रव्य लक्षणोंमें गुणपना सिद्ध हो जायगा। और इस तरहसे भी गुणपना सिद्ध होनेसे एकपना होनेमें द्रव्य लक्षण है वह ९ द्रव्योंके संकेतपर भी एक ही द्रव्य कहलायगा। समाधानमें कहते हैं कि द्रव्य लक्षणोंको शब्दात्मक मानकर भी गुणपना सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसमें भी जो दोष ज्ञानात्मक द्रव्य लक्षण माननेपर दिये गये थे। वे सभी दोष शब्दात्मक द्रव्य लक्षणके माननेपर आते हैं, इस कारण द्रव्य लक्षणोंको गुणपना नहीं सिद्ध कि जा सकता है।

द्रव्यलक्षणको कर्मपना मानकर शंकाकारकी इष्टसिद्धिकी विपरीतता

जिस प्रकार द्रव्य लक्षणोंसे न एक द्रव्यपना सिद्ध होता है न गुणपना सिद्ध होता है और इसी तरह कर्मपना भी सिद्ध नहीं होता है क्योंकि वह द्रव्यलक्षण क्रियारूप नहीं है। कर्मका लक्षण यह बताया गया है कि जो एक एक ही द्रव्यके आश्रय है और स्वयं निर्गुण है यथा संयोग विभागमें अन्य किसी कारणकी अपेक्षा न रखते हुए भी सामान्य कहलाता है। तो इन दोनों द्रव्य लक्षणोंमें कर्मका यह लक्षण घटित नहीं होता है। यह द्रव्य लक्षण न तो एक ही द्रव्यके आश्रय है और द्रव्य लक्षणमें गुणपने की बातका विरोध तो यहाँ कहा ही गया। शेष भी जो कुछ चिन्ह बताये हैं कर्मका वह चिन्ह द्रव्य लक्षणमें नहीं पाया जाता है। कर्म तो एक परिणति है, किन्तु द्रव्य लक्षण तो कुछ भी चीज नहीं है, इस कारणसे द्रव्य लक्षणको कर्ममय बताकर उन्हें एक सिद्ध किया जाय और उस एक द्रव्य लक्षणके सम्बन्धसे द्रव्यको एक कहा जाय, यह कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता। यदि द्रव्य लक्षणोंको एक द्रव्य कहा जायगा तो एक एक द्रव्य लक्षण कहलाया। तो जैसे ९ द्रव्य बताये हैं यों द्रव्य लक्षण भी ९ तरह

का हो जायगा। फिर तो द्रव्य लक्षणको दो बताना अथवा एक बताना किसी भी प्रकार सम्भव न हो सकेगा। और जब द्रव्य लक्षण एक या दो सम्भव नहीं हो सकते तो उन दो द्रव्य लक्षणोंमें एक द्रव्य लक्षणत्वकी व्यवस्था बनाकर एकत्वकी व्यवस्था करना भी विवेक रहित कदम है। सारांश यह है कि कार्य तो एक एक द्रव्यके आश्रय जुदा जुदा ही रहता है और इसी कारणसे उसे एक द्रव्य कहते हैं। इस कारण यदि द्रव्य लक्षणको एक द्रव्यरूप कर्म मान लिया जाता है पृथ्वी आदिक ये ९ द्रव्य हैं और ९ ही द्रव्योंमें द्रव्य लक्षण घटित हो गया। तो जुदे-जुदे द्रव्य लक्षण हो जानेसे द्रव्य लक्षण ९ हो जायेंगे। जैसे कि जो कर्म जिस वस्तुमें पाया जाता है वह उस वस्तुके सहारे एक कर्म हुआ, लेकिन पदार्थ तो अनेक हैं और उन सब पदार्थोंमें एक-एक कर्म रहते हैं तो यों कर्म अनेक हो जाते हैं। अब यहाँ द्रव्य लक्षणको शङ्काकारने मान लिया कर्मरूप, कर्म रहते हैं प्रत्येक द्रव्यमें जुदे-जुदे। तो जैसे कर्म अनेक हो जाते हैं अथवा ९ द्रव्योंमें जितनेमें कर्म रहते हैं उतनी संख्या द्रव्योंकी है। तो द्रव्य लक्षण भी कर्मकी संख्याके माफिक अनेक हो जायेंगे। तब द्रव्य लक्षण एक या दो नहीं ठहर सकते। तो दो द्रव्य लक्षणोंमें या एक द्रव्य लक्षणमें फिर यह मान्यता सिद्ध नहीं की जा सकती है कि द्रव्य लक्षणके सम्बन्धसे ९ द्रव्य एक द्रव्य पदार्थ कहलाते हैं। और यों एक द्रव्य लक्षणत्व बताकर उन दो द्रव्य लक्षणोंमें एकपना सिद्ध न किया जा सकेगा।

ज्ञेय प्रतिपादनोंकी वस्तु स्वरूपानुरूपता न होनेसे उस ज्ञानसे श्रेयः सिद्धिका अभाव—इस प्रकरणका सारांश यह है कि वैशेषिक मतमें पदार्थ ६ माने हैं। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय। और द्रव्योंको ९ बताया है और उन ९ द्रव्योंमें परस्पर बड़ी विलक्षणता है। आत्मा सचेतन है, अन्य सब पदार्थ अचेतन हैं। दिशा और आत्मा अमूर्त हैं, आकाश अमूर्त है, शेष पदार्थ मूर्तिक हैं। तो इतना परस्पर विरोध है उनमें और उन्हें एक द्रव्य कहा जा रहा है तो जब ज्ञेयपदार्थ जैसा विशेषवादमें बताया गया है वहाँ जब सिद्ध नहीं होते तो उनका ज्ञानकरना और उस ज्ञानके अनुसार अपना मन बनाना यह मोक्षमार्ग कैसे हो सकता है? इस आपत्तिके आनेपर विशेषवादियोंने यह कहा कि द्रव्य यद्यपि ९ हैं लेकिन उनमें द्रव्य लक्षण एक ही पाया जाता है। तो एक द्रव्य लक्षण पाया जानेसे उनको एक कहा है और बताया कि वस्तुत्वके सम्बन्धसे वे ९ द्रव्य एक द्रव्य पदार्थ हैं और उसकी सिद्धिके लिए द्रव्य लक्षणकी बात बताई गई और द्रव्य लक्षणको एक सिद्ध करनेके लिए उनमें द्रव्य लक्षणत्वको बताया गया। तो यह तो सब उपचरितोपचरित हुआ। एक उपचार भी नहीं किन्तु दो तीन बार उपचारसे उपचार बना। जैसे पहिले तो द्रव्य लक्षणत्वके सम्बन्धमें दो द्रव्य लक्षणोंमें एकता सिद्ध करनी पड़ी। जब इस तरह उपचारसे एक द्रव्य लक्षण सिद्ध हुआ तो उस द्रव्य लक्षणके सम्बन्धसे पृथ्वी आदिक

पदार्थको एक द्रव्य पदार्थ माननेकी बात कहनी पड़ी। तो इस तरहकी घुमाफेर करके सिद्ध करनेमें उपचरितोपचरितका दूषण आता है। और, ऐसे दूषणकी स्थितिमें एक वास्तविक द्रव्य पदार्थ कैसे सिद्ध हो सकता है? अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि पृथ्वी आदिक ९ पदार्थोंमें एक द्रव्यत्व सामान्यका सम्बन्ध है। अतः उस द्रव्यत्व सामान्यसे उन द्रव्योंमें एकपना सिद्ध होता है। और यों उनमें एकपना सिद्ध हो जाने पर एक द्रव्य नामका पदार्थ सिद्ध हो जाता है। समाधानमें कहते हैं कि यह शङ्का उक्त शङ्काका ही पिष्टपेषण है, अर्थात् जैसे पिसे हुए आटेको कोई फिर पीसे तो उससे क्या प्रयोजन हल होता है? इसी प्रकार कही हुई शङ्काको फिरसे दुहराये तो उससे क्या हल होता है? वास्तवमें एकद्रव्य पदार्थ सिद्ध होता ही नहीं है। द्रव्यत्व सामान्यका सम्बन्ध जुटाकर उनको एक द्रव्य कहना यह मात्र उपचारसे ही सिद्ध है। वस्तुतः तो जितनेमें परिणमन है, जिसमें कर्म है, जुदे जुदे गुण मौजूद हैं वे तो सब अनेक द्रव्य पदार्थ कहलायेंगे। यहाँ तक विशेषवादमें बताये गए ६ पदार्थोंमें द्रव्य नामक पदार्थों की संख्याका एकपना बताना खण्डित हो गया।

द्रव्यके एकत्वकी तरह गुण कर्म आदिके एकत्वकी भी निराकृतता— जब अनेक द्रव्य पदार्थोंको भी माननेकी बात खण्डित हो गई तो इस ही विवेचनसे २४ गुणोंको एक गुणत्वके सम्बन्धसे एक गुण पदार्थ मानना ५ प्रकारके कर्मोंको एक कर्मत्वके सम्बन्धसे कर्म पदार्थ मानना यह भी खण्डित हो जाता है। जैसे द्रव्यत्वके सम्बन्धसे ९ द्रव्योंको एक द्रव्य कहना मात्र उपचारसे ही बताई गई बात है, इसी प्रकार २४ गुणोंमें गुण कर्मके सम्बन्धसे एक गुणपदार्थ मानना यह भी मात्र उपचारसे है, इसी तरह कर्म ५ बताये गए हैं, उनमें भी कर्मत्वके सम्बन्धसे एक कर्म पदार्थकी सिद्धि करना यह भी उपचार माना जा सकता है। उस तरहका गुण पदार्थ और कर्म पदार्थ वास्तवमें एक सिद्ध नहीं हो सकते। उक्त दूषणोंके अतिरिक्त यदि यह व्यवस्था की जाती है कि द्रव्यादिक द्रव्यत्व आदिकके सम्बन्धसे एक द्रव्य कहलाते हैं तब फिर यह बतलाओ कि सामान्य पदार्थ, विशेष पदार्थ और समवाय पदार्थ इन तीन पदार्थोंमें एकपना कैसे सिद्ध किया जा सकेगा, क्योंकि एकपना सिद्ध करनेकी कुञ्जी वैशेषिकने सामान्यका सम्बन्ध बताया है। जैसे द्रव्यत्व सामान्यके सम्बन्धसे द्रव्य एक है, गुणत्व सामान्यके सम्बन्धसे सब कुछ एक है, कर्मत्व सामान्यके सम्बन्धसे सभी कर्म एक हैं तो यह बतलाओ कि सामान्यमें क्या और सामान्यका सम्बन्ध बताकर एक सिद्ध किया जायगा। यदि सामान्यमें और सामान्यका सम्बन्ध बताकर एक सिद्ध किया जाय तो उस दूसरे सामान्यमें एकपना कैसे सिद्ध होगा? उसके लिए कोई तीसरा सामान्य बतायेंगे, फिर वह भी एक कैसे सिद्ध होगा? तो यों सामान्य कारणकी भी अनवस्था हो जायगी और अनन्त सामान्य मानने पड़ेंगे। तो यह कुञ्जी सही नहीं है कि किसी पदार्थको एक सिद्ध करनेके लिए सामान्य सम्बन्धको साधन बताया जाय।

इसी तरह विशेष अनेक हैं, उनमें एकपना कैसे सिद्ध करोगे ? कोई सब विशेषोंमें भी विशेष सामान्यका सम्बन्ध जुटा देगा, इसी तरह समवायको भी एक कैसे सिद्ध करेगा। क्या समवायमें भी किसी सामान्यका सम्बन्ध पड़ा हुआ है ? तो द्रव्यत्व सामान्यके सम्बन्धसे द्रव्यको एक नहीं सिद्ध किया जा सकता। गुणत्व सामान्यके सम्बन्धसे गुणों को एक नहीं बताया जा सकता और कर्मत्व सामान्यके सम्बन्धसे कर्मको भी एक नहीं बताया जा सकता, इस प्रकार यह मूलमें जो आपत्ति उपस्थित की गई थी कि विशेष-वादमें माने गए ज्ञेयसमूह स्वरूपके अनुरूप नहीं। जैसे समवाय नामका एक पदार्थ माना गया है इसी प्रकार द्रव्यादिक एक पदार्थ नहीं हैं। समवायको तो स्वतंत्रतया एक मान लिया गया है। लेकिन द्रव्यादिक स्वतंत्रतया एक नहीं बताये जा सकते।

सामान्य प्रत्ययके सम्बन्धसे द्रव्यादिको एक एक माननेकी आरेका— अब शङ्काकार कहता है कि जिस प्रकार समवाय पदार्थको हम एक मानते हैं कि वह इस चिन्हसे परखा जाता है कि वहाँ इसमें यह है इस प्रकारका सामान्य एक ज्ञान होता, इस कारणसे समवाय पदार्थ एक कहा जाता है। समवायका यह अर्थ है कि जैसे यह कहना कि इस ज्ञानमें ज्ञानपना है, इस शुक्लमें सफेदी है तो समवायका बोध किस तरह हुआ कि इसमें यह है, ऐसा एक सामान्यतया बोध होता है। जो इसमें यह है ऐसा ज्ञान कोई विशेष ज्ञान नहीं कहलाता। जिन जिनमें भी समवाय है, समवाय की मुद्रा यह है कि इसमें यह है। जैसे सफेदमें सफेदी एक ही रही, इसमें यह है, जिसको इस शब्दसे संकेत किया है। वे चाहे नाना बन जायें और इदं शब्द कहकर जिसको संकेत किया है यह भी नाना हो जाय, लेकिन इसमें यह है ऐसी मुद्रा तो सब जगह सामान्यरूप ही रहती है। तो विशेष प्रत्यय समवायमें नहीं होता, इस कारण समवाय पदार्थ एक माना जाता है इसी तरह द्रव्य इस सामान्य प्रत्ययसे एक द्रव्य पदार्थ सिद्ध हो जायगा। पृथ्वी है वह भी द्रव्य है जल है वह भी द्रव्य है। ९ ही पदार्थोंका नाम लेकर यही कहा जायगा कि यह भी द्रव्य है, तो सबको द्रव्य द्रव्य ऐसा सामान्य बोध होनेसे एक द्रव्य पदार्थ सिद्ध हो जायगा। इसी तरह २४ प्रकारके गुण हैं, उन सबमें गुण है गुण है, सभीमें गुणपनेका बोध होता है। उन्हें विशेष ज्ञान नहीं होता, इस कारण गुणपदार्थ भी एक सिद्ध हो जायगा, इसी प्रकार सभी प्रकारके कर्मोंमें यह कर्म है, यह कर्म है इस प्रकार सामान्य बोध होनेसे वहाँ भी कर्म पदार्थ एक हो जायगा। सामान्य भी जितना है, जैसे गोत्वसामान्य, मनुष्यत्व सामान्य, तो सभी सामान्योंमें सामान्य सामान्य ऐसा बोध होनेसे सामान्य पदार्थ भी एक कहलाता है। यों ही जितने भी विशेष हैं सभी वस्तुतः यह विशेष है, विशेष है ऐसा सामान्य ज्ञान होनेसे विशेष पदार्थ भी एक सिद्ध हो जाता है। और समवाय तो एक स्पष्ट माना ही गया है। तो इस तरह ६ पदार्थ सिद्ध हो जाते हैं। फिर उनमें आपत्ति भी देना निरर्थक है।

सामान्यप्रत्ययके सम्बन्धसे द्रव्यादिको एक एक माननेकी आरेकाका समाधान और शंकाकारके अनिष्टकी आपत्ति—उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि विशेषवादियोंने जो यह बात उपस्थितकी है कि जैसे 'इह इदं' ऐसे सामान्य ज्ञान के कारण समवाय एक है इसी प्रकार यह द्रव्य है इस तरहके सामान्य प्रत्ययके कारण द्रव्य पदार्थ भी एक हो जायगा और इस ही तरह गुण, कर्म, सामान्य, विशेष ये भी पदार्थ सामान्य ज्ञानके बलसे एक हो जायेंगे, ऐसा माननेपर भी वैशेषिकोंका जो सिद्धान्त है उसका विघात होना अनिवार्य हो जायगा। सिद्धान्तका घात दूर नहीं किया जा सकता है। ऐसी बात तो स्याद्वादियोंके मतमें ही प्रसिद्ध हो सकती है। स्याद्वादी लोग शुद्ध संग्रहनयसे सन्मात्र तत्त्व शुद्ध द्रव्य मान लेते हैं, वहाँ सत् ऐसा सामान्यज्ञान होनेसे और वहाँ विशेष लिङ्गका प्रयोग न होनेसे एक सन्मात्र तत्त्व अर्थात् शुद्ध द्रव्य है, ऐसा कहा जा सकता है कि नय अनेक प्रकारके भाव बतलाते हैं, प्रत्येक नयका अपना जुदा विषय है। जब शुद्ध संग्रहनयकी दृष्टिसे देखते हैं तो वहाँ शुद्ध द्रव्य सत्त्व मात्र ज्ञानमें आता है और उस दृष्टिसे वह द्रव्य है। पर उस ही शुद्ध संग्रहनयसे जाने गए शुद्ध द्रव्यको जब अशुद्ध संग्रहनयसे देखने चलते हैं तो एक द्रव्य है, कोई गुण है, कर्म है, ऐसे फिर अनेक जाननेमें आ जाते हैं। फिर इस हीको व्यवहारनयसे देखने चलते हैं तो द्रव्य अनेक हैं, गुण अनेक हैं तथा जो सत् हैं वह द्रव्य है, पर्याय है आदिक उसमें भेद उपस्थित होते हैं। व्यवहारनयका विषय है संग्रहनयसे ग्रहण किए हुए पदार्थमें भेद करना। जो द्रव्य है वह जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य है। जो पर्याय है वह परिस्पंदरूप और अपरिस्पंदरूप है अर्थात् कोई परिणमन क्रिया वाला है, कोई परिणमन गुण परिणमन वाला है, फिर उन्हीं द्रव्योंमें उन्हीं परिणमनोंमें जो भेद करते हैं तो वह सामान्यात्मक भी है, विशेषात्मक भी है। इसीको जब स्याद्वाद दृष्टिसे देखते हैं तो द्रव्यसे अभिन्न है अथवा भिन्न है उसका तात्पर्य यह है कि वस्तु स्वरूप जाननेके लिए हम जिस नयका भाव बनाते हैं उस नयकी दृष्टिसे वहाँ उस प्रकार परिज्ञान होना है। तो यों स्याद्वादकी पद्धतिसे प्रतीतिके अनुसार पदार्थका निर्णय होता है, क्योंकि उसमें किसी भी प्रकारका बाधक कारण नहीं है, लेकिन वैशेषिकोंके सिद्धान्तमें उस प्रकारका माना जाना युक्त नहीं हो सकता, क्योंकि फिर स्याद्वादका उनको प्रसङ्ग आ जायगा। एकान्त विशेषवाद तो न रहेगा। तो यों विशेषवादके सिद्धान्तका ही विरोध आ जायगा। उन विशेषवादियोंके सिद्धान्तमें सामान्य ही तत्त्व हैं, क्योंकि उसमें समस्त पदार्थोंका अन्तर्भाव होता है, इस प्रकार बताने वाले संग्रहनयका सिद्धान्त नहीं है। इस कारण सत् प्रत्ययकी सामान्यता दिखा कर विशेष ज्ञानका अभाव दिखाकर द्रव्यादिकको एक सिद्ध करना वैशेषिक सिद्धान्तमें नहीं बन सकता है।

पदके द्वारा संग्रह किये जानेकी विधि बताकर परमार्थ एकत्वको सिद्ध

करनेका शंकाकारका विफल प्रयास—अब शङ्काकार कहता है कि द्रव्यपदके द्वारा समस्त द्रव्योंकी व्यक्तियोंके जितने भेद प्रभेद हैं उन सबका संग्रह हो जाता है इस कारण वह द्रव्य पदार्थ एक है, इसी प्रकार गुण पदके द्वारा समस्त गुणोंके भेद प्रभेदों का संग्रह हो जाता है इस कारणसे गुणादिक भी एक एक पदार्थ हैं। तो द्रव्य गुण आदिकको भी एक एक मान लेनेमें कोई वैशेषिक सिद्धान्तका विघात नहीं होता। विशेषवादके सिद्धान्तमें कहा भी है यह कि—

"विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां तत्त्वसिद्धये। समासेनाभिधानं यत्संग्रहं तं विदुर्बुधः।"

इसका अर्थ यह है कि विस्तारसे कहे गये पदार्थोंका एकत्व सिद्ध करनेके लिए जो संक्षेपसे कथन किया जाता है उसको विद्वानोंने संग्रह कहा है। शङ्काके समाधान में जो स्याद्वादियोंने यह बताया था कि स्याद्वाद मतका प्रसङ्ग आयगा, विशेषवादमें संग्रहनय नहीं माना है, तो देखलो! विशेषवादके सिद्धान्तमें भी संग्रहकी कथनी आया करती है और सूत्र भी इस प्रकार बताया गया है कि पदार्थधर्मसंग्रह: प्रवक्ष्यते अर्थात् पदार्थ संग्रह और धर्मसंग्रहको अब कहेंगे। इस प्रकार जो एक सूत्र कहा गया है उससे यह तो सिद्ध हो जाता है कि विशेषवादमें पदार्थ संग्रह और धर्मसंग्रहको भी माना गया है! और जब संग्रह माना गया है तो सत् सामान्य कहकर संग्रहसे उन सबको एक ही द्रव्य पदार्थ कहा जायगा, गुण पदार्थ कहा जायगा, इसमें कौनसा विरोध आता है? उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि विशेषवादका संग्रहपना देने का कथन भी बिना विचारे ही सुन्दर प्रतीत होता है, क्योंकि परमार्थसे तो उस तरह एक एक द्रव्य गुणादिक पदार्थोंकी प्रतिष्ठा नहीं बनती है। संग्रह करके कल्पनामें समझ लेनेकी बात हुई कि एक द्रव्य शब्द कहकर ९ द्रव्योंका अथवा असंख्याते द्रव्यों का संग्रह कर दिया जाय। वस्तुतः एक एक द्रव्य तो सिद्ध नहीं होता। इस संग्रहमें जो कुछ भी सोचा गया है उसमें एक पदका विषय होनेसे एकत्वके उपचारकी बात कही गई है। एक द्रव्य शब्दसे उन ९ का ग्रहण कर लिया जाता इसलिए ९ में एकत्वका उपचार है। कहीं वे ९ एक नहीं बन गए। उनकी क्रिया जुदी-जुदी गुण जुदे जुदे, फिर कैसे वे एक कहे जा सकते हैं? जो उपचरित पदार्थोंकी संख्यामे या कल्पना किए गए पदार्थ स्वरूपसे कोई संख्याकी व्यवस्था बना लेवे, कल्पना कर लेवे तो उससे कहीं वास्तवमें पदार्थ संख्या नहीं बन जाती है। यदि किसी कल्पना भरके कारण कोई वास्तविकता बना दी जाय तो इसमें अनेक दूषण आते हैं। एक पदके द्वारा वाच्य होनेके कारण वास्तविक एकत्व सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि एक पदके द्वारा पदार्थोंका एकत्व सिद्ध करनेमें दूषण है, व्यभिचार आता है। जैसे सेना एक शब्द है, इस एक पदके द्वारा तो हाथी, ऊँट, घोड़ा, हथियार आदिक कितने ही पदार्थोंका

के योग्य है कि जैसे कोई बंध्याके पुत्रका सौभाग्य अथवा उसके बल रूपका वर्णन करने लगे, तो विवेकी पुरुषोंके समक्ष वह हंसीका ही पात्र होता है। यहाँ तक यह बात सिद्ध की गई कि द्रव्यादिक पदार्थोंका जैसा वर्णन किया गया है विशेषवादमें वैसा स्वरूपमें पाया नहीं जाता। जैसा कि पदार्थ अवस्थित है उस तरहका वर्णन न होनेसे तद्विषयक जो भी ज्ञान हैं वह सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। विशेषवादियोंने यह सिद्धान्त रखा था कि श्रद्धान विशेष, सम्यग्ज्ञान और तद्विषयक अनुष्ठान यह निश्रेयसका मार्ग है, तो शब्दरचना तो भली है लेकिन सम्यग्ज्ञान बताया है वह उस प्रकारसे है ही नहीं। तो सम्यग्ज्ञान जिसे बताया वह युक्त नही हो सकता। इसी तरह हेय उपादेयकी व्यवस्था भी युक्त नहीं होती। जब सही ज्ञान न रहा तो यह निर्णय न किया जा सका कि यह हेय है और यह उपादेय है, फिर जब हेय उपादेय की व्यवस्था न बनी तो श्रद्धाविशेष न बन सकेगा। श्रद्धा विशेषका यह लक्षण किया गया है कि उपादेय पदार्थोंमें उपादेय रूपसे श्रद्धान होना और हेय पदार्थोंमें हेयरूपसे श्रद्धान होना श्रद्धा विशेष कहलाता है। तो जब हेय उपादेयकी व्यवस्था न बनी तो श्रद्धान यह बनेगा ही कैसे ? यों न सम्यग्ज्ञान बना, न श्रद्धा विशेष बनी और जब ज्ञान और श्रद्धान दोनोंका ही स्वरूप न बन सका तो ज्ञान और श्रद्धान पूर्वक जो वैराग्य होता है अथवा उसके अभ्यासकी भावनाका जो अनुष्ठान बताया है, जिसको निश्रेयसका कारण कहना भी सिद्ध न होगा। तो यों जब कपोल कल्पित सम्यग्ज्ञान श्रद्धाविशेष और अनुष्ठान ये सिद्ध न हो सके, निश्रेयसका कारण जब सिद्ध न होसका तब वीतराग सर्वज्ञ अरहतके उपदेशसे अनुष्ठान होनेकी तरह ईश्वर आदिकके उपदेश से अनुष्ठान कैसे प्रतिष्ठित किया जा सकता है ?

अन्ययोगव्यवच्छेदके लिए विशेषणोंकी सार्थकता—मूलमें यह शङ्का थी कि मङ्गलाचरणमें तीन विशेषण किसलिए दिये गए हैं कि "जो मोक्ष मार्गका नेता हो, कर्मपहाड़का भेदनहार हो, समस्त तत्त्वोंका ज्ञाता हो, उस आप्तको मैं उन गुणों की प्राप्तिके लिए नमस्कार करता हूं।" तो आप्तके लिए तीन विशेषण क्यों दिए गए ? उसका उत्तर यह दिया गया था कि अन्य योगके व्यवच्छेदसे जब महान आप्त निश्चित् हो जाता है तब उसके उपदेशसे लोग अपना कर्तव्य निभाने लगते हैं। इसपर यह शङ्का उठायी थी कि अन्य योग व्यवच्छेदकी क्या जरूरत है ? जैसे—वीतराग सर्वज्ञके उपदेशसे धर्मतीर्थ चल रहा है लोग उस उपदेशमें श्रद्धान रखते हैं और उस के अनुकूल अनुष्ठान रखते हैं, ऐसे ही अन्य देवोंके उपदेशसे भी अनुष्ठान बन जायगा, अन्ययोगव्यवच्छेदकी क्या आवश्यकता है ? उसके समाधानमें यह सब प्रकरण चला आ रहा है। कौनसा उपदेश युक्त है, कौनसा उपदेश विरुद्ध है ? यह निर्णय किए बिना उपदेशके अनुसार कर्तव्यमें कौन कदम रखेगा ? और जब उपदेशकी परीक्षा की जाती है तो वहाँ अन्ययोगव्यवच्छेद स्वतः हो जाता है। तो यों अन्ययोगव्यवच्छेद

को ही महान आत्माका निश्चय किया जाना चाहिये । इस कारण यह सब ठीक ही कहा गया है ५ वीं कारिकामें कि अन्य योगका व्यवच्छेद होनेसे एक महात्माके निश्चित् होनेपर उसके उपदेशकी सामर्थ्यसे ही अनुष्ठान प्रतिष्ठित होता है यानि क्या कर्तव्य किया जाना चाहिए ? उसका वह अनुष्ठान प्रामाणिक होता है । उक्त कथनसे शङ्काकार द्वारा कहा जानेपर ऊपर गुरुको नमस्कार करना भी निराकृत हो जाता है। शङ्काकारका कहना था कि प्रशस्तवाद भाष्यमें लिखा है कि जगतके कारणभूत ईश्वर को प्रणाम करके उनके बादमें मैं कणाद मुनिको प्रणाम करता हूं । तो इसमें पर अपर गुरुके नमस्कार करनेकी बात कही गई है, लेकिन जब यथार्थ ज्ञातृत्व सिद्ध न होसका उनकी कही हुई पदार्थ व्यवस्था जब वस्तुस्वरूपके अनुकूल नहीं उत्तीर्ण हुई है तो उनका उपदेश ही अप्रमाण है, फिर उनमें आप्तपना भी न रहा और आदेयपना भी न रहा, क्योंकि उन सबमें जैसा कि पदार्थ अवस्थित है, उस प्रकारसे पदार्थका ज्ञान नहीं होता । मोक्षमार्गका प्रणेता वही हो सकता है जो कर्मभूभृतका भोक्ता हो और समस्त तत्त्वोंका ज्ञाता हो । प्रकरण चल रहा था कि मोक्षमार्गका प्रणेता कौन होता है ? अर्थात् किसके उपदेशसे चलनेपर मोक्षमार्गकी प्राप्ति हो सकती है ? तो आलोचना समालोचनाके पश्चात् यह बात सिद्ध हुई है कि जो विश्व तत्वका ज्ञाता हो और कर्मभूभृतका भोक्ता हो अर्थात् जो वीतराग और सर्वज्ञ हो उसमें ही मोक्षमार्गका प्रणेतत्व सिद्ध हो सकता है । इस तरह यह बात पूर्णतया सिद्ध हुई कि जो इन तीन विशेषणोंसे युक्त हो वही वास्तवमें आप्त कहलाता है ।

तत्रासिद्धं मुनिन्द्रस्य भेतृत्वं कर्मभूभृताम् ।
ये वदन्ति विपर्यासात्, तान् प्रत्यक्ष्महे ॥ ६ ॥

कर्मभूभृद्भेतृत्वकी असिद्धि मानने वालोंकी समस्या– अब इस प्रसङ्गमें शङ्काकार कहता है कि जो तीन विशेषण बताये गए हैं उन विशेषणोंमेंसे कर्मभूभृतका भेदनहार है, इस प्रकारका विशेषण असिद्ध है । शङ्काकारने मोक्षमार्ग प्रणेता कर्मभूभृत, भेत्ता और विश्वतत्त्वज्ञाता इन तीन विशेषणोंमेंसे कर्मपहाड़को भेदने वाला इस विशेषणसे असिद्ध कहा है क्योंकि कोई भी जो सदाशिव है, ईश्वर है, प्रभु है वह कर्मरूपी पहाड़को भेदने वाला नहीं हो सकता क्योंकि वह तो सदा कर्मसे ही मुक्त है। जो प्रभु है, प्रमाण है, ईश्वर है, सदाशिव है, आदर्श है, ध्येय है वह तो कर्मसे अलिप्त ही है, फिर कर्मभूभृतका भेत्ता कैसे कहा जायगा ? कर्मपहाड़का भेदन नहीं करना पड़ता है ईश्वरको । इस प्रकार शैवसैद्धान्तिकोंकी ओरसे यह शङ्का उपस्थित की गई है । नैयायिक सिद्धान्तमें एक सदाशिव ईश्वर है, जो कि जगतका नियंता है, वही एक मात्र सबका प्रभु है । उसे सदाशिव कहा गया है । सदासे ही शिव है, कर्मसे मुक्त है । जब कर्ममुक्त है ही पहिलेसे, तब उसे कर्मपहाड़का भेदनहार कहना युक्त नहीं होता ।

ऐसा शङ्काकारके प्रति समाधानरूपमें आगे कहते हैं—

> प्रसिद्धः सर्वतत्त्वज्ञस्तेषां तावत्प्रमाणतः ।
>
> सदाविध्वस्तनिःशेषबाधकात्स्वसुखादिवत् ॥ ७ ॥

कर्मभूभृद्भेत्तृत्वकी साधिका विश्वतत्त्वज्ञाताकी प्रसिद्धि—नैयायिक दर्शन के यहाँ भी सब तत्त्वोंका जानने वाला नैयायिक प्रसिद्ध है, क्योंकि सारे बाधक कारण वहाँ विध्वस्त हो गए और जैसे वह ईश्वर अपने सुखको निरन्तर भोगता रहता है। क्योंकि वहाँ कोई बाधक कारण नहीं रहा है। तो इसी तरह वे समस्त तत्त्वोंके जाननहार भी हैं। क्योंकि विरोध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है, अर्थात् ईश्वरका सर्वज्ञत्व मानना दोनोंको ही इष्ट है। शङ्काकारने भी सर्वज्ञ तो माना ही है। उक्त शङ्काके उत्तरमें यह कारिका कही गई है पर शङ्का और समाधान दोनोंका मिलान करनेसे कुछ ऐसा विदित होता है कि समाधान शङ्काके अनुरूप नहीं किया गया है। ऐसी स्थितिमें शंकाकार यहाँ यह आशंका कर रहा है कि यदि नैयायिकोंके यहाँ विश्व तत्त्वज्ञ सिद्ध है, क्योंकि वहाँ किसी प्रकारका बाधक कारण नहीं है तो विश्व तत्त्वज्ञता सिद्ध होनेसे कौन सी बात इष्ट सिद्ध हो जाती है? सर्वज्ञ है तो वह अपने स्थानपर है, उससे शंकाका निराकरण कैसे किया जा सकता है? ऐसी आशंकाका होनेपर कहते हैं कि :

> ज्ञाता यो विश्वतत्त्वानां स भेत्ता कर्मभूभृताम् ।
>
> भवत्येवान्यथा तस्य विश्वतत्त्वज्ञता कुतः ॥ ८ ॥

विश्वतत्त्वज्ञता हेतुसे कर्मभूभृत् भेतृत्व साध्यकी सिद्धि—ईश्वरको अथवा आप्तको सर्वज्ञ सिद्ध करनेका अथवा सर्वज्ञकी प्रसिद्धि बतानेका अभिप्राय यह है कि जो विश्वतत्त्वका ज्ञाता है वह कर्मरूपी पहाड़का भेदनहार होता ही है। यदि कर्म पहाड़का भेदनहार न हो तो उसकी सर्वज्ञता कहाँसे प्रकट होजाती? स्याद्वादियों के यहाँ मुनीन्द्रके अर्थात् आप्त भगवानके कर्मपहाड़का भेदनपना सिद्ध ही है। उसको सिद्ध करने वाला यह अनुमान प्रयोग है कि भगवान परमात्मा कर्मपहाड़का भेदनहार होता ही नहीं है, क्योंकि वह विश्वतत्त्वका ज्ञाता है। जो कर्मभूभृतका भेदनहार नहीं है वह विश्वतत्त्वका ज्ञाता भी नहीं हो सकता। जैसे लौकिक जन या गलियोंमें फिरने वाले मनुष्य अथवा आवारा मनुष्य वे कर्मभूभृतके भेत्ता नहीं हैं तो विश्वतत्त्वके ज्ञाता भी नहीं हैं। और विश्वतत्त्वका ज्ञाता है भगवान, यह बात बाधारहित ज्ञानके बलसे सिद्ध ही है, इस कारण वह कर्मभूभृतोंका भेत्ता होता ही है। इस अनुमान प्रयोगमें जो हेतु दिया गया है वे सब व्यतिरेकी हेतु हैं, क्योंकि साध्यका व्यभिचार नहीं होता,

ऐसी व्यतिरेक व्याप्ति यहाँ पाई जाती है। व्यतिरेक व्याप्ति उसे कहते हैं जहाँ साध्यके अभावमें साधनका अभाव बताया जाता हो। अन्वयव्याप्ति उसे कहते हैं जहाँ साधन का सद्भाव बताया जाता है। तो यहाँ साध्य है कि आप्त कर्मभूभृतका भेत्ता होता है। साधन बताया गया है विश्व तत्त्वका ज्ञाता होनेसे, तो यदि इस ओर से व्याप्ति की जाती कि जो जो विश्व तत्त्वका ज्ञाता होता है वह कर्मभूभृतका भेदनहार होता ही है तो इसके लिए दृष्टान्त कुछ भी नहीं मिलता, क्योंकि वही बात सिद्ध की जा रही है उसके लिए दृष्टान्तका कोई आप्त अगर मिले तो उसमें फिर यह परिगमन होगा कि वह कर्मभूभृतका भेत्ता नहीं है। तो अन्वय व्याप्तिका दृष्टान्त नहीं मिलता। यहाँ अन्वय व्याप्ति घटित नहीं की गई है किन्तु व्यतिरेक व्याप्ति घटित की गई है। साध्यका अभाव होनेपर साधनका अभाव बताना व्यतिरेक व्याप्ति है अर्थात् जो कर्म-भूभृतका भोक्ता नहीं होता है वह विश्व तत्त्वका ज्ञाता नहीं होता। जैसे रथ्या पुरुष अर्थात् गलियोंमें फिरने वाला आवारा पुरुष जब कर्मभूभृतका भेत्ता नहीं है तो फिर विश्वतत्त्वका ज्ञाता भी नहीं। व्यतिरेक व्याप्तिका घटना असिद्ध नहीं है। वादी प्रति-वादी दोनोंको मान लिया अन्वय व्याप्तिसे विशिष्ट बलवती व्यतिरेक व्याप्ति होती है। यहाँ वादी और प्रतिवादी दोनोंने ही परमात्माको सर्वज्ञ सिद्ध किया है। इस अनुमानमें अनेकान्तिक दोष भी नहीं आता क्योंकि समस्तरूपसे अथवा एक देशरूपसे विपक्षमें साध्यकी वृत्ति नहीं पायी जाती है और इस ही कारण यह अनुमान प्रयोग विरुद्ध भी नहीं है इस तरह अनुमानके बलसे यह सिद्ध हुआ कि कोई पुरुष कर्मभूभृत का भेत्ता होता है। अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि यह हेतु तो कालात्ययापदिष्ट है, कालात्ययापदिष्ट उसे कहते हैं कि जो बात किसी अन्य प्रमाणसे बाधित हो और फिर उसको सिद्ध किया जाय तो जो प्रत्यक्ष आगम आदिक प्रमाणसे बाधित है और उसे सिद्ध करे तो वह दूषित हेतु है। जैसे अग्नि गरम है, यह प्रत्यक्षसे जाना जाता है। अब कोई अनुमान प्रयोग करने लगे कि अग्नि ठंठी होती है द्रव्य होनेसे और दृष्टान्त भी मिल गया, जैसे पानी वह द्रव्य है तो ठंठा है—अग्नि भी द्रव्य है तो ठंठी है। तो प्रत्यक्षसे बाधा आ रही है कि अग्नि गरम है और उसमें विरुद्ध साध्य सिद्ध कर रहे हैं तो इस ही प्रकार यहाँपर भी आगम बाधित पक्षके निर्देशके अनन्तर यह अनुमान प्रयोग किया गया है इस कारणसे यह अनुमान दूषित है आगममें लिखा है कि—

"सदैव मुक्तः सदैवेश्वरः पूर्वस्याः कोटेर्मुक्तात्मनमिवाभावात्" इस आगम प्रयोगसे जिसका कि अर्थ है कि सदा ही मुक्त है सदा ही ऐश्वर्यसे युक्त है, क्योंकि मुक्त आत्माओंके पहिले बंधकोटि रहती है उस तरह ईश्वरके नहीं रहती। इस नैया-यिक सम्मत आगम वाक्यका यह अर्थ है कि जो ईश्वर है वह तो अनादिसे कर्मबन्ध रहित है और जीव कर्मबन्धसे सहित है और कर्मसे मुक्त हो जाता है वह मुक्त आत्मा

कहलाता है। किन्तु ईश्वर नहीं कहलाता। ऐसे आगमसे यह सिद्ध है कि महेश्वरके सदा काल ही कर्मोंका अभाव रहता है। तो जब कर्मोंका अभाव है तो कर्मभूभृतका भेत्ता कैसे बन जायगा ? हाँ कर्म हों तो उनका कोई भेदनहार भी बताया जाय, पर कर्म ही नहीं हैं तो कर्मभूभृतका भेत्ता कैसे बता दिया गया ? उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि ऐसा कहने वाला शङ्काकार परीक्षापर उतरने वाला नहीं है, क्योंकि उस प्रकार जो अनुमानका बाधक आगम प्रमाण बताया है वह तो अप्रमाण है। उस आगममें प्रमाणता सिद्ध करने वाला कोई अनुमान ही नहीं बन सकता है। तो जिस आगमकी दुहाई देकर अनुमानको दूषित बताया गया है वह आगम स्वयं अप्रमाण है और अप्रमाण आगमसे अनुमानमें दूषण नहीं दिया जा सकता है।

शङ्काकार द्वारा अनुमानप्रमाणसे महेश्वरमें शाश्वत कर्मास्पृत्वका प्रतिपादन—शङ्काकार कहता है कि अनुमान प्रमाण भी हमारे पास है। ईश्वर नामक सर्वज्ञ कर्मभूभृतोंका भेत्ता नहीं है। क्योंकि सदा कर्मरूप मलसे अछूता है। जो कर्म भूभृतोंका भेत्ता होता है वह कर्ममलोंसे सदा अछूता नहीं हुआ करता। जैसे कि ईश्वरके अतिरिक्त अन्य जो मुक्त आत्मा हैं वे कर्मभूभृतोंके भेत्ता हैं, पर कर्ममलसे वे सदा सदा अछूते नहीं रहे, उनके कर्ममल लगा था और उन्होंने कर्मका बन्ध तोड़ा तब वे मुक्त आत्मा बने, किन्तु भगवान महेश्वर तो कर्ममलोंसे अनादि अनन्त सदाकाल अस्पष्ट ही रहते हैं। ये कर्ममलोंसे छुवे हुए ही नहीं हैं। इस कारण भगवान महेश्वर कर्मभूभृतका भेत्ता नहीं होता। यह अनुमान प्रकृत पक्षमें बाधा देने वाले आगमका समर्थन करने वाला है। इस अनुमान प्रयोगका साधन असिद्ध नहीं है। वह इस तरह है कि सदा काल कर्ममलोंसे न छुवा हुआ परमात्मा है, क्योंकि वह बिना उपायके सिद्ध हुआ है। भगवान महेश्वर बिना तपश्चरण, बिना क्रियाकाण्डके ही अनादिसे शुद्ध बना हुआ है। जो कर्ममलोंसे अछूता न हो वह अनुमानसिद्ध नहीं होता। जैसे सादि मुक्त आत्मा, वह कर्ममलसे अछूना नहीं है, उसमें कर्ममल लगा था तो वह अनुपाय सिद्ध नहीं होता। उन्होंने तपश्चरणका ज्ञानाभ्यास किया तब उनको मुक्ति प्राप्त हुई किन्तु सर्वज्ञ भगवान महेश्वर तो अनुपाय सिद्ध हैं, इस कारण वे कर्ममलसे सदाकाल अछूते ही हैं। इस अनुमानसे भगवान महेश्वरके कर्ममलसे अछूते रहनेकी सिद्धि होती है, ऐसा कहने वाले शङ्काकारके प्रति आचार्यदेव कहते हैं कि—

नास्पृष्टः कर्मभिः शश्वद्विश्वदृश्वास्ति कश्चन ।
तस्यानुपायसिद्धस्य सर्वथाऽनुपपत्तितः ॥ ९ ॥

अनुपायसिद्धकी अनुपपत्ति होनेसे शश्वत्कर्ममलास्पृष्ट विश्वदृश्वाकी असिद्धिका वर्णन—कोई भी सर्वज्ञ सदा कर्मसे अस्पृष्ट नहीं है, क्योंकि बिना उपाय

किए सिद्ध हो जाय ऐसी किसीकी भी स्थिति बन नहीं सकती। अनुपाय सिद्धपना अर्थात् बिना उपाय किए सिद्ध हो जाय ऐसी स्थिति किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है तब अनुपाय सिद्धत्व हेतु देकर सदा कर्मसे अस्पृष्टपना सिद्ध करना और कर्मोंसे सदा अस्पृष्ट है यह हेतु बनाकर कर्मभूभृतका भेतृत्व निराकृत करना युक्त नहीं है। तब शङ्काकारका बताया गया अनुमान प्रस्तुत अनुमानका बाधक कोई आगम समर्थक बन जाय और फिर शङ्काकारकी शङ्कामें प्रमाणता सिद्ध करदे ऐसा नहीं हो सकेगा। अप्रमाणभूत आगमसे प्रकृत पक्षमें बाधा नहीं दी जा सकती और न कर्मभूभृत भेतृत्व सिद्ध करने वाला हेतु कालात्ययापदिष्ट दोषसे दूषित नहीं हो सकता।

शंकाकार द्वारा अनादित्व हेतुसे ईश्वरके अनुपायसिद्धत्वका समर्थन—अब यहाँ नैयायिक कहते हैं कि ईश्वर अनुपाय सिद्ध है, यह बात अनादिपना होनेसे सिद्ध होती है। क्योंकि ईश्वर अनादिसे है, तो वह अनादिसे बिना उपायके सिद्ध है, कर्मसे मुक्त है, ईश्वर अनादि है यह बात इस प्रमाणसे सिद्ध होती है कि चूंकि वह शरीर इन्द्रिय लोक आदिकमें निमित्त कारण होता है इस कारण ईश्वर अनादिसे ही है, यह हेतु असिद्ध नहीं हैं। उसका साधक अनुमान देखिये! शरीर इन्द्रिय लोक आदिक समस्त पदार्थ किसी न किसी बुद्धिमानके निमित्तसे बने हुए हैं, क्योंकि कार्य होनेसे। जो कार्य होता है वह बुद्धिमानके निमित्तसे होता ही देखा जाता है, जैसे वस्त्र आदिक कार्य हैं तो वह जुलाहाके निमित्तसे उत्पन्न हुआ देखा गया है। तो जो विवादापन्न कार्य है, जिसके सम्बन्धमें कोई कर्ता प्रत्यक्ष नजर आता नहीं, चूंकि वह भी कार्य है अतः वह बुद्धिमान ईश्वरके निमित्तसे उत्पन्न हुआ है। तो इस अनुमानसे यह सिद्ध होता है कि शरीर इन्द्रिय आदिक कार्य है तो किसी बुद्धिमानके द्वारा पैदा किया गया है। तो जो यह बुद्धिमान है वही ईश्वर कहलाता है। तो यह ईश्वर शरीर इंद्रिय आदिक कार्योंका कारण है। जब यह बात सिद्ध होती है तो ईश्वरका अनादि-पना भी सिद्ध हो जाता है। यदि ईश्वरको सादि मान लिया जाय तब यह आपत्ति आयगी कि ईश्वर किसी दिन हुआ तो वह पहिले शरीर आदिककी उत्पत्ति नहीं हो सकती, और ऐसा है नहीं कि शरीरकी उत्पत्ति भी अनादिसे चली आ रही है। तो चूंकि ईश्वरसे पहिले शरीर आदिककी उत्पत्ति नहीं बन सकती यदि ईश्वरको सादि माना जाय तो इस आपत्तिसे भय न कीजिए। यदि कोई कहे कि ईश्वरसे पूर्व शरीरा-दिककी उत्पत्ति मान ली जायगी तो उन कार्योंमें फिर बुद्धिमान निमित्तता न बनेगी। यदि यह कहे कोई कि उससे पहिले उन कार्योंसे हम किसी दिन बुद्धिमानके निमित्त कारणसे उत्पन्न हुआ मानते हैं तो वह भी सादि होगा ना अर्थात् उससे पहिले होने वाले कार्योंको अन्य बुद्धिमानके निमित्तसे उत्पन्न हुआ मानना पड़ेगा और उससे पहिले अन्य बुद्धिमानके निमित्तसे उत्पन्न हुआ मानना पड़ेगा। तो इस तरह अनादि ईश्वर परम्परा सिद्ध होगी, लेकिन यह युक्त है नहीं। कारण कि जब सबसे पहिले होने

वाला कोई अविनाशी ईश्वर सिद्ध हो जायगा तो उसके बादके और ईश्वरके माननेकी क्यों कल्पना की जायगी ? इस परम्परामें जो सबसे पहिले अथवा अनादि ईश्वर शरीरादिक सम्पूर्ण कार्योंको उत्पन्न कर देगा तब फिर उससे पहिले और ईश्वर हुए ऐसी कल्पना करना व्यर्थ हो जायगा । अन्यथा परस्परमें इच्छाका व्याघात होगा, वह अनेक ईश्वर होगा । पहिलेका ईश्वर भी बना हुआ है उस समय बाद और ईश्वरमें भी बना डाला तो उनका परस्परमें टकराव हो जाय और जब इस तरहसे अनन्त ईश्वर मान लिया जायगा और उनका परस्पर इच्छा विरोध बनेगा तो अपनी इच्छा-नुकूल फिर कार्य हो नहीं सकता । फिर तो वह ईश्वर भी आधीन बन बैठेगा । वहाँ यह आपत्ति आवगी कि एक कोई कार्य है, उसे कोई एक ईश्वर किसी ढङ्गसे करना चाहता है और कोई ईश्वर किसी दूसरे ढङ्गसे करना चाहता है तो यों उन दोनों ईश्वरोंमें परस्पर इच्छाका व्याघात अवश्य होगा । इसलिए अनेक ईश्वर नहीं मानने की आवश्यकता है । जो अनादिसे ईश्वर है वही समस्त जगतका नियंता बना चला आया है । दूसरी बात यह है कि यह प्रसङ्ग आ पड़ेगा कि यह संसार अनेक ईश्वरोंके कारणसे बन बैठे, सो सङ्गत नहीं है. अतएव कितनी ही कल्पनायें करें, बहुत दूर जा कर भी एक अनादि ईश्वर मानना भी पड़ेगा ।

शङ्काकार द्वारा अपने आगमबलसे ईश्वरमें विश्वकारणताका प्रतिपादन

यहाँ शङ्काकार ही कहे जा रहा है कि युक्तियोंके अतिरिक्त आगमसे भी यह बात सिद्ध है, योगदर्शनके सूत्रमें लिखा है कि पूर्वेसामपिगुरुकालेनावच्छेदा—वह पूर्ववर्तियोंका भी गुरु है, क्योंकि किसी भी कालमें उसका विच्छेद नहीं होता । तो इस सूत्रवाक्यसे भी ईश्वरकी विश्वकारणता सिद्ध होती है । और वह अनादिपना माने बिना बन नहीं सकता, इस कारण ईश्वर अनादिसे है, यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है । तो जब ईश्वर अनादिसे है तो उससे अर्थ यह ध्वनित होता कि वह ईश्वर अथवा मुनीन्द्र कर्म-पहाड़को भेदने वाला होता है वह सदाकाल कर्मसे अस्पष्ट नहीं कहा जा सकता, वह तो उपाय करके ही मुक्त हुआ है और ऐसे मुक्त आत्मा होते हैं कि जो तपश्चरण ज्ञानाभ्यास आदिक करते हैं, कर्मसे मुक्त हो जाते हैं क्योंकि एक अनादि ईश्वर है वह सदा कर्मोंसे अस्पष्ट ही होता है । तो ऐसा यह भगवान कर्मपहाड़को छेदने वाला नहीं है यह तो सदाकाल ही कर्मसे अछूता है, क्योंकि यह अनुपायसिद्ध है, किसी भी उपाय से सिद्ध नहीं होता है । जो इस प्रकार नहीं है वह अनुपायसिद्ध भी नहीं होता । जिस उपायसे मुक्त हुआ आत्मा कर्मोंसे सदाकाल अस्पष्ट नहीं है और वह उपायसे प्रसिद्ध हो तो यह भगवान अनुपम सिद्ध है । इस कारण सदा कर्मसे अछूता है, यह भगवान अनुपाय सिद्ध है, क्योंकि अनादि होनेसे । जो अनुपाय सिद्ध न हो वह अनादि भी नहीं होता और है यह अनादि, इस कारण यह निर्बाध सिद्ध होता है कि भगवान अनुपाय सिद्ध होता है तो अनादिपना होनेके कारण प्रभु अनुपाय सिद्ध कहलाते हैं

और अनादि सिद्ध इस हेतुसे होता है कि वह शरीर इंद्रिय, लोक आदिकके निमित्त कारण हैं। जो अनादि नहीं है वह शरीर इंद्रिय आदिकका निमित्त भी नहीं बन सकता। जैसे अन्य मुक्तात्मा वे सादि हैं, उनकी मुक्ति की जाय तो होती है तो वे शरीर आदिकके रचनेके कारण भी नहीं होते और ये भगवान शरीर इंद्रिय आदिककी रचनाके कारणभूत हैं, इस कारण अनादि हैं।

अनुमानप्रयोगसे महेश्वरके विश्वकारणत्वका पूर्वपक्षमें प्रतिपादन—यहाँ कोई यह जानना चाहे कि भगवान शरीर इंद्रिय आदिककी रचनाके निमित्त कारण होते हैं, यह कैसे जाना जाय ? तो इसके लिए अनुमान प्रयोग है उससे भली भांति सिद्ध कर लीजिए ! अनुमान प्रयोग यह है कि शरीरादिक बुद्धिमानके निमित्त से उत्पन्न हुए हैं, क्योंकि कार्य होनेसे। जो जो कार्य हैं वे बुद्धिमानके निमित्तसे उत्पन्न हुए देखे गए हैं। जैसे वस्त्र आदिक, और कार्य हैं ये शरीर आदिक इस कारण यह मानना चाहिए कि शरीरादिक भी बुद्धिमानके निमित्त कारणसे उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार इन समस्त अनुपायोंसे एक दूसरेकी सिद्धि करते हुए ये प्रकृति अनुमान कर्म-भूभृतोंके भेत्ता हैं कोई इस बातको खण्डित कर देता है। मूल अनुमान प्रयोग यह है कि कर्मभूभृतका भेत्तापन असिद्ध है, क्योंकि भगवान मुनीन्द्र कर्मसे सदाकाल अस्पष्ट है। तो इन सबकी सिद्धि करने वाले अनुमानमें जो प्रकृत बात चल रही है कि शरीर आदिक किसी बुद्धिमानके कारणसे हुआ है कार्य होनेसे, तो इन सब पदार्थोंका कार्य-पना असिद्ध नहीं है, क्योंकि शरीर आदिक कार्य हैं, ऐसा वादी और प्रतिवादी सभी लोग मानते हैं। तो यह अनुमान सिद्ध न रहा। और इस अनुमानमें दिया गया कार्यत्व हेतु अनेकान्त दोषसे भी दूषित नहीं है, क्योंकि कोई कार्य ऐसा नहीं है जो बुद्धि-मानके निमित्तसे न होता हो। कार्य हो और किसीके द्वारा किया गया न हो, ऐसा कोई पदार्थ नहीं देखा जाता। तो यों विपक्षमें हेतुकी वृत्ति नहीं है अर्थात् जो सहज बना हो ऐसा कोई कार्य नही मिलता। इससे सिद्ध है कि शरीरादिक कार्य बुद्धिमान के निमित्त कारणसे हुए हैं। यहाँ कोई कहे कि ईश्वरका शरीर तो ऐसा है कि जो बुद्धिमानके कारणसे नहीं बना है, तो यों ईश्वर शरीरका व्यभिचार भी नहीं बताया जा सकता, क्योंकि ईश्वरके शरीर ही नहीं होता. फिर उसके सम्बन्धमें और बात सोचना व्यर्थ है। कोई ऐसी भी आशङ्का न रखे कि ईश्वर ज्ञानके द्वारा तो इस हेतुमें व्यभिचार आ जायगा, सो व्यभिचार नहीं आता। क्योंकि ईश्वरज्ञान नित्य है, उसे कार्य ही नहीं माना गया। कार्यत्व हेतु तो पहिचानें और ध्यानके कारणसे न होता हुआ ऐसा कोई पदार्थ हो तब ही तो व्यभिचार आयगा। इस लिए ज्ञान कार्य ही नहीं है तब उसके सम्बन्धमें कारणकी क्या चर्चा करना ? कोई ऐसा सन्देह करे कि ईश्वर ज्ञानका व्यभिचार न होता हो तो ईश्वरके इच्छाका व्यभिचार आ जायगा। ईश्वर की इच्छा कार्य है और उसको किसी बुद्धिमानने बताया नहीं, तो इस तरह ईश्वरकी

इच्छासे व्यभिचार देना भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि ईश्वरकी इच्छाशक्ति भी नित्य है, क्रियाशक्तिकी तरह । जब वह भी कार्यकी कोटिमें न आया तब उसमें कारणका क्या विचार करना ? इस प्रकार कार्यत्व हेतु विरुद्ध साधन भी नहीं है । विरुद्ध साधन उसे कहते हैं कि जो साधन प्रकृतमें बताये गये साध्यसे विपरीत साध्यकी सिद्धि करता हो सो कोई विपक्ष है ही नहीं । सर्वथा विपक्षमें सम्भव न होनेसे यह कार्यत्व हेतु विरुद्धदोषसे दूषित भी नहीं है तथा उसमें कालात्ययापदिष्ट दोष भी नहीं आता । हमारे अनुमानप्रयोगमें जो पक्ष रक्खा गया है उसका प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणसे बाधा ही नहीं आती । प्रकृत अनुमान यह है कि शरीरादिक बुद्धिमानके द्वारा बनाये गए हैं कार्य होनेसे तो कोई प्रत्यक्षसे यह तो बतादे कि यह कार्य बुद्धिमानके द्वारा बनाया हुआ नहीं है । क्यों नहीं बता सकते कोई कि शरीरादिक अतीन्द्रिय हैं याने इसकी रचना इन्द्रियगम्य नहीं है इसलिए वह प्रत्यक्षका विषय भी नहीं है । निमित्तकारण जो ईश्वर है वह प्रत्यक्षका विषयभूत नहीं है । इस प्रकार यह हेतु अनुमानसे भी बाधित नहीं होता, क्योंकि इससे विपरीत सिद्ध करने वाला कोई साधन ही नहीं मिल रहा । यों कार्य होनेसे शरीर आदिक बुद्धिमानके द्वारा बनाये गए हैं, यह सिद्ध होता है । और जो भी बुद्धिमान है वह अनादि है और जो अनादि है वह सदा कर्मसे अछूता है और जब कर्मसे अछूता है तो वह कर्मपहाड़का भेदन करने वाला नहीं हो सकता ।

बाधक प्रमाणमें बाधा देकर महेश्वरके जगन्निमित्तत्वका पूर्वपक्ष— शङ्काकार कह रहा है कि यदि कोई ऐसी आशङ्का करे कि शरीर इंद्रिय आदिक बुद्धिमन्निमित्तक नहीं है, क्योंकि जिसका कर्ता देखा गया है ऐसे महल आदिकसे ये शरीर इन्द्रिय विलक्षण हैं आकाश आदिककी तरह । जैसे आकाश मकान आदिकसे विलक्षण है, इसी तरह इन्द्रिय भी मकान आदिकसे विलक्षण है जिसका कि कर्ता देखा गया है, यह अनुमान ईश्वर सृष्टि कर्तृत्वका बाधक होता है । उस आशङ्काकारके प्रति शङ्काकार समाधानमें कहता है कि यह अनुमान देकर कि शरीर इन्द्रिय आदिक बुद्धिमन्निमित्तक नहीं है दृष्टि कर्तृक महत्व आदिकसे विलक्षण होनेसे । इस अनुमानमें हेतु असिद्ध है, क्योंकि सन्निवेश आकार प्रयोग आदिकसे सहित होनेके कारण ये शरीर इंद्रिय आदिक भी दृष्टि कृत्रिम प्रासाद आदिकसे विलक्षण नहीं है । जैसे कि महल मकानमें सन्निवेश देखा जाता है, ऐसे ही शरीर इंद्रियमें भी आकार तो देखा जा रहा है इसलिए उनसे विलक्षण नहीं है । यदि आशंकाकार यह कहे कि जिसने संकेत ग्रहण नहीं किया ऐसे पुरुषकी बुद्धिमें कोई कर्ता नहीं आ पाता, यह किसीके द्वारा किया गया है ऐसी बुद्धि उत्पन्न नहीं हो सकती । इस कारण शरीर इन्द्रिय आदिकके महल आदिकसे विलक्षणता माननी ही चाहिए । तो वह उत्तरमें सुनो कि ऐसी हट करना कि शरीर इंद्रिय आदिकका कोई कर्ताका संकेत नहीं समझ रहा इसलिए उसमें किए जानेकी बुद्धि नहीं बनती और इस कारणसे शरीर इंद्रिय आदिक दृष्टि कृत्रिम महल

आदिकसे विलक्षण सिद्ध हो जाता है। तो उनके यहाँ कृत्रिम जो मुक्ताफल आदिक हैं, जिनका कि संकेत ग्रहण नहीं किया गया है उसमें भी कृतबुद्धि न उत्पन्न होगी। तब वे बनावटी मोती आदिक भी बुद्धिमन्निमित्तक न रहेंगे, वे भी अकृत्रिम बन बैठेंगे। इस कारण हमारे अनुमानमें उससे बाधा नहीं आती और फिर लोग यह विचारें कि दृष्ट कृत्रिमपना और अदृष्ट कृत्रिमपना इन दोनोंमें बुद्धिमन्निमित्तक अबुद्धिमन्निमित्तक को सिद्ध कर सकने वाला नहीं है क्योंकि उनमें परस्पर अविनाभाव नहीं है याने दृष्टि कृत्रिम हो तो वह बुद्धिमन्निमित्तक है और अदृष्ट कृत्रिम हो तो भी अबुद्धिमन् निमित्तक नहीं है, ऐसी व्याप्ति नहीं बनायी जा सकती, क्योंकि अदृष्ट कृत्रिमपना अबुद्धिमन्निमित्तकपनेसे व्याप्त नहीं है। देखो जो भींट टूटे मकान हैं बहुत पुराने मकान हैं उनका कर्ता किसीने देखा है क्या ? नहीं देखा ! फिर भी उनके बारेमें यह तो सिद्ध होता है कि कारीगरने उन महलोंको बनाया था। तो जीर्ण महल आदिकका किसीने कर्ता भी नहीं देखा फिर भी वह बुद्धिमन्निमित्तक तो है ही। इस कारण दृष्ट कृत्रिम विलक्षणताका हेतु देकर और और अबुद्धिमन्निमित्तकता सिद्ध करना युक्त नहीं है जिससे कि हमारा पक्ष अनुमानबाधित हो जाये या कालात्ययापदिष्ट होजाय। तो शरीर इंद्रिय आदिक किसी बुद्धिमानके द्वारा बनाये गए हैं कार्य होनेसे, यह हमारा अनुमान अनुमानसे बाधित नहीं होता और प्रत्यक्षका विषयभूत है ही नहीं, इससे उससे भी बाधाका प्रसङ्ग नहीं आता।

महेश्वरका जगन्निमित्तत्व सिद्ध करनेमें आगमकी अबाधकता व साधकताका शङ्काकार द्वारा प्रतिपादन—आगमके द्वारा भी प्रकृत पक्षमें बाधा नहीं आती। आगम तो सृष्टिकर्तृत्वकी सिद्धि ही कर रहा है। जैसे देखो श्वेताश्वतर उपनिषदमें लिखा है कि :—

"विश्वतश्चक्षु रुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुतविश्वतः पात्।
सम्बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥"

इसका अर्थ है कि पुण्य पापके अनुसार समस्त लोकको उत्पन्न करने वाला वह देव एक ही है जिसकी आंखें चारों ओर हैं जिसकी बाहु सर्व तरफ हैं जिसके पैर सब ओर हैं अर्थात् सर्वज्ञ है, सर्व सामर्थ्य सम्पन्न है। पूर्ण वक्ता है और सर्वव्यापक है। इस आगम वाक्यसे भी अनुमानमें बाधा नहीं आती बल्कि उसकी पुष्टि होती है। व्यास ऋषिने भी कहा है—

"अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥"

अर्थात् यह प्राणी अज्ञानी है और अपने सुख दुःखका मालिक नहीं है। ईश्वर के द्वारा प्रेरित होता हुआ यह जंतु स्वर्गको जाता है अथवा नरकको जाता है, ऐसा व्यास वचन भी हमारे पक्षको पुष्ट करने वाला ही है, बाधक नहीं है। तब यह हेतु कालात्ययापदिष्ट न रहा। न प्रत्यक्षसे बाधा है न अनुमान और आगमसे बाधा है। अबाधित पक्षके बतानेके बाद इस अनुमानका प्रयोग हुआ है, इसी कारण यह सप्रतिपक्ष नामका हेत्वाभास भी नहीं है। अर्थात् जिसके विरुद्ध कोई दूसरा हेतु हो ऐसा यह निर्बल हेतु नहीं है। प्रत्यक्ष अनुमानका यहाँ अभाव ही है इस तरह कर्तृत्व नामक साधन शरीर इन्द्रिय आदिकका बुद्धिमन् निमित्तक सिद्ध करता ही है। तब हमारा मूल अनुमान प्रमाण सिद्ध हो गया कि शरीर इंद्रिय द्वारा, किसी बुद्धिमानके द्वारा रचा गया है। शङ्काकार कह रहा है कि कुछ आशङ्का करने वाले लोग ऐसा कहते हैं कि इस अनुमानमें जो बुद्धिमन् निमित्तकपना सिद्ध किया जा रहा है सो क्या सामान्यरूपसे बुद्धिमन् निमित्तकपना सिद्ध किया जा रहा या किसी खास बुद्धिमानके द्वारा किया गया ऐसा सिद्ध किया जा रहा है? यदि सामान्यरूपसे बुद्धिमन् निमित्तक साध्यकी बात कह रहे हैं तब तो यह सिद्ध साधन है। हम लोग भी मानते हैं कि अनेक जो शरीरके उपभोक्ता हैं वे बुद्धिमान हैं, जीव हैं, उनके द्वारा ही वह सब रचा हुआ है क्योंकि शरीर इन्द्रिय आदिक उनके ही अदृष्ट कर्म, अधर्म. पुण्य पापके निमित्त से उत्पन्न हुए हैं। और जो अदृष्ट हैं, धर्म अधर्म हैं वे चेतनरूप हैं और जो चेतना हैं वही बुद्धिरूप है तब ये सब बुद्धिमन् निमित्तक सिद्ध हो जाते हैं जितने भी ये सब शरीर दिख रहे हैं इनमें जो आत्मा है, उनके पुण्य पापका जैसा उदय है उसके अनुसार उनके सम्बन्धसे यह सब रचना बन गई है तो सामान्यतया बुद्धिमन् निमित्तकपना सिद्ध करनेपर यह बात सिद्ध हो ही जाती है। आशङ्काकारकी आशङ्का खण्डित करने के लिए शङ्काकार समाधानमें कह रहा है कि यह सब कथन असार है, क्योंकि शरीरादिकके जो उपभोक्ता प्राणी हैं, जो शरीरमें अधिष्ठित हैं शरीरके निमित्तसे सुख दुःखका भोग करता है उन प्राणियोंका जो भी अदृष्ट है धर्म अधर्म नामका सो वह अदृष्ट चेतन नहीं सिद्ध होता, क्योंकि पुण्य पाप, धर्म अधर्म ये बुद्धिरूप नहीं हैं। बुद्धि तो वह कहलाती है जो पदार्थको ग्रहण करे, जो जाने। क्या पुण्य पाप जाननेका काम करते हैं? नहीं करते। जानने वाली बुद्धि ही चेतना कहलाती है। तो उन प्राणियोंका जो अदृष्ट है वह अदृष्ट अचेतन है, धर्म अर्थके ग्रहणको नहीं कहते अथवा पुण्य भी अर्थ ग्रहण करता नहीं है। ये दोनों धर्म अधर्म अर्थात् अदृष्ट बुद्धिसे भिन्न चीज है जैसे प्रयत्न आदिक। प्रयत्न, कोशिश क्रिया, क्या ये चेतनरूप हैं? नहीं हैं। इसी तरह पुण्य पाप, धर्म अधर्म भी चेतनरूप नहीं हैं। तब हमें आशङ्काकारका अनुमान अनेक बुद्धिमन् निमित्तक है। शरीर इंद्रिय आदिक ये सिद्ध नहीं होते, जिससे कि बुद्धिमन निमित्तक सामान्यको साध्य बताकर सिद्ध साधन कहा जाय। शङ्काकारके प्रति आशङ्काकारने यह बात रखी थी कि सामान्यतया बुद्धिमन् निमित्तक है। शरीरा-

दिक भी मान लिए जा सकते हैं, क्योंकि उनमें जो जीव हैं उनके पुण्य पापके अनुसार उस तरहकी शरीर रचना हो जाती है। अब अनेक जीवोंके द्वारा उनके अपने अपने शरीर रचे गए ही हैं। इस तरह बुद्धिमन्निमित्तकपना साध्य सही है। उनके प्रति शङ्काकारका यह कहना कि पुण्य पाप चेतना नहीं है इसलिए वह अदृष्टके द्वारा रची गई नहीं। उनके रचने वाला कोई एक ईश्वर है।

साध्यमें सामान्य विशेषका विकल्प उठाकर अनुमानको मिथ्या कहने पर सभी अनुमानोंके उच्छेदके प्रसंगका शङ्काकार द्वारा प्रस्ताव—अब शङ्काकार कह रहा है कि कोई यदि ऐसी भी आशङ्का करे कि वस्त्र आदिक शरीर सहित असर्वज्ञ बुद्धिमान जुलाहा आदिकके द्वारा किया गया देखा गया है तब शरीर इन्द्रिय आदिक कार्य भी शरीर सहित असर्वज्ञ बुद्धिमन्निमित्तिक सिद्ध हो बैठेंगे। तब तो शङ्काकारके इष्टको अनिष्टको सिद्ध करने वाला यह हेतु बन गया तो यह साधन विरुद्ध हो जायगा और फिर सर्वज्ञ शरीर रहित किसी पुरुषके द्वारा किया गया कोई भी वस्त्र आदिक कार्य सिद्ध नहीं होते तब उनको अपना अनुमान सिद्ध करनेके लिए कुछ न मिल सकेगा। तब किसी एक बुद्धिमान ईश्वरके द्वारा बने हैं यह हठ न करना चाहिए। ऐसी आशङ्का करने वालेको शङ्काकार नैयायिक समाधान देता है। इस तरहकी तर्कणा करने वाला युक्तिवादी नहीं है, क्योंकि ऐसी तर्कणा करनेपर सभी अनुमानोंका उच्छेद हो बैठेगा। प्रसिद्ध अनुमानके सम्बन्धमें भी यह कह बैठेंगे कि यह अग्निवान पर्वत है धूमवान होनेसे रसोईघरकी तरह। ऐसा अनुमान सब मानते हैं और सही है। लेकिन वहाँ तर्क कर दिया जायगा कि इस अनुमानमें भी जो उदाहरण दिया है रसोईघरका और रसोईघरमें जैसे आग देखी गई है वैसे ही आग सिद्ध हो जायगी। खैर लकड़ी कोयला आदिककी अग्निसे ही पर्वत अग्निवान सिद्ध हो बैठेगा तो यह विरुद्ध बातको सिद्ध कर देनेमें विरुद्ध साधन हो जायगा। और, फिर पर्वतमें जो अग्निमानपना सिद्ध किया जा रहा है वह तो पत्ते आदिक सभी जल रहे हैं तो उनकी अग्निके द्वारा अग्निमानपना सिद्ध किया जा रहा है, तो वह रसोईघर आदिकमें है नहीं तो उसके लिए जो भी उदाहरण देंगे वहाँ साध्य न पाया जायगा। जिस तरहके तर्क आशङ्काकार कह रहे हैं उसी तरहके तर्क हम भी उत्पन्न कर देंगे, इस तरह नैयायिक सिद्धान्तानुयायी कार्यत्व हेतुमें किसी भी प्रकारकी बाधा नहीं है यह सिद्ध कर रहे हैं। शंकाकार कह रहे हैं कि यदि कोई ऐसा माने कि हम पर्वत आदिकमें अग्नित्व सामान्य सिद्ध कर रहे हैं और वह भी किसी एक देशरूपमें, इसलिए यहाँ साधन इष्ट विरुद्ध नहीं होता और न अग्निकत्व सामान्य सिद्ध करनेके लिए रसोईघर आदिकके जो भी दृष्टान्त दिए जायेंगे उनमें साध्य विकलता भी नहीं आती, क्योंकि रसोईघर आदिकमें भी दोष आदिक विशिष्ट अग्निवानपनेका सद्भाव पाया जा रहा है, ऐसी आशंका करने वालेके प्रति शंकाकार नैयायिक कहता है कि ऐसा मानने

पक्ष भी शरीरादिकमें बुद्धिमन् निमित्तक सामान्य सिद्ध किया जा रहा है और वे शरीरादिक अपने कार्यके निर्माणकी शक्तिमें विशिष्ट सिद्ध किया जा रहा है फिर तो हमारा वह साधन इष्ट विरुद्धको साधने वाला न बनेगा और दृष्टान्त भी साध्य विकल न हो सकेगा। देवादि विशिष्टकी तरह स्व बुद्धिमन् निमित्तक सामान्य साध्य बना रहे हैं, किन्तु ऐसा साध्य बना रहे हैं जो इन कार्योंके निर्माण करनेकी शक्तिसे सहित है। पहिले तो हम बुद्धिमन्निमित्तपना सिद्ध कर रहे हैं, तब सामान्यरूपसे बुद्धिमन्निमित्त-पना सिद्ध हो जाता है। तब यह समस्या सामने आयगी कि यह बुद्धिमानके शरीर आदिकका कारणभूत है वह शरीर सहित है अथवा शरीररहित है। तब यह समस्या सामने आयगी जब हम एक शरीररहित सिद्ध करेंगे, क्योंकि ऐसे ईश्वरको जो सब जगतकी रचना कर रहा हो, शरीर सहित माननेपर अनेक बाधक कारण आयेंगे। उस महेश्वरका शरीर न नित्य बताया जा सकेगा न अनित्य बताया जा सकेगा। महेश्वरका शरीर नित्य और अनादि तो सिद्ध हो नहीं सकता। शरीरमें अवयव हैं, हाथ पैर पीठ पेट आदिक ये अवयव तो होते ही हैं। और जो अवयव वाले हों वे नित्य और अनादि नहीं हो सकते। जैसे हम लोगोंके शरीर अवयव वाले हैं तो नित्य और अनादि नहीं ठहरता है। और महेश्वरका शरीर अनित्य सादिका नहीं बताया जा सकता क्योंकि यदि रचना करने वाले ईश्वरके शरीरको अनित्य और सादि कह देते हैं तो जो अनित्य सादि होता है उसका अर्थ है कि वह किसी दिन उत्पन्न हुआ है, तो उस शरीरकी उत्पत्तिसे पहिले वह ईश्वर सहित कहलायगा। तब शरीर सहितपने की बात तो न रही और यदि कहो कि अन्य शरीरके द्वारा शरीरसहित बनता है वह तो इसमें अनवस्था दोष आता है। अन्य शरीरसे अमुक शरीर हुआ फिर तीसरा शरीर हुआ, फिर चौथा शरीर हुआ। तो यों शरीरकी अनवस्था हो जायगी। ऐसी एक यह भी कोई समस्या उपस्थित कर सकता है कि यह महेश्वर क्या सर्वज्ञ है ? या असर्वज्ञ है ? तो ऐसी समस्या आनेपर वहाँ सर्वज्ञपना सिद्ध किया जायगा, क्योंकि यदि वह ईश्वर सर्वज्ञ न हो तो समस्त करने वालोंका वह प्रयोगता नहीं हो सकता। याने करने वाले लोगोंका भी प्रेरणा देने वाला ईश्वर है, तो वह तभी प्रेरक बनेगा जब कि वह सर्वज्ञ हो। तो असर्वज्ञपना माननेपर प्रेरकपना न बनेगा और शरीर आदिकको करनेकी बात न बनेगी। तो शरीर आदिक समस्त कारकोंका परिज्ञान न होनेपर भी ईश्वरको प्रयोगता मान लिया जायगा तो शरीर आदिक कार्योंका व्याघात हो जायगा। जो कार्योंकी प्रणाली नहीं जानता वह किस कार्यका साधक बन सकता है ? जुलाहा आदिक भी वस्त्र आदिकके करनेकी बात जानते हैं तब ही तो कर पाते हैं। यदि उनका ज्ञान न हो तो वे वस्त्र आदिक बना ही नहीं सकते। तो ईश्वरका कार्य जो शरीर इंद्रिय आदिक हैं उनका कभी भी विघात सम्भव नहीं है। महेश्वरके द्वारा सोचा गया कार्य जैसे कारक परमाणुओंसे युक्त होना चाहिए उस प्रकार विचित्र और अदृष्ट आदिक बराबर बिना बाधाके देखे जा रहे हैं। इससे सिद्ध होता है कि ये

सब कार्य बुद्धिमान ईश्वरके द्वारा बनाये गये हैं।

विचित्र कार्यत्व हेतुसे भी जगन्निमित्तिकताके विरोधकी असंभवताका पक्ष—शंकाकार कहता है कि जो लोग एक ईश्वर द्वारा सृष्टि नहीं मानते, उन्हें यह कहना भी अयुक्त है जैसा कि आगे कहा है उन्होंने कि शरीर इंद्रिय आदिक एक स्वभाव वाले ईश्वरके कारणसे किए गए नहीं हैं क्योंकि ये विचित्र कार्य हैं वह एक स्वभाव वाले कारणके द्वारा किया गया नहीं देखा जाता। जैसे घड़ा, कपड़ा, मुकुट, गाड़ी आदिक ये सब भिन्न भिन्न पुरुष हैं, इसी तरह शरीर इंद्रिय आदिक भी विचित्र कार्य हैं। इस कारण ये सब एक स्वभाव वाले ईश्वरके कारणसे किए गए नहीं हैं। ऐसा जिनका कहना है उनका यह कथन भी अयुक्त है। शंकाकार कहे जा रहा है कि यह कथन उनका क्यों अयुक्त है कि ऐसा तो हम भी मान रहे हैं। यह तो सिद्ध साध्य हैं। एक स्वभाव वाला ईश्वर नामका कोई कारण शरीर आदिकका हम नहीं करते हैं, किन्तु वह एक ईश्वर तीन शक्तियोंके स्वभाव वाला है। ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति। और, भी देखिये ! कि शरीर इंद्रिय आदिकका उपभोग करने वाले प्राणियोंका जो अदृष्ट विशेष है वह भी विचित्र है। और वे सब सहकारी कारण हैं। तो उससे भी यह सिद्ध होता है कि ईश्वरके सहकारी कारण विचित्र स्वभाव वाले हैं यों ही ईश्वरमें अनेक स्वभाव सिद्ध होते हैं। और सृष्टिकर्तृत्वका खण्डन करने वाले ने जो घड़ा कपड़ा, मुकुट आदिक कार्योंका उदाहरण दिया है सो वहाँ भी देख लो कि उन क्रियावोंके उत्पन्न करनेका ज्ञान होना, उत्पन्न करनेकी इच्छा होना और उसके अनुरूप अपनी क्रियायें करना भी शक्तियोंकी विचित्रता और उसके साथ ही साथ दंड चक्र आदिक नाना उपकरण उनका सहयोग पाकर एक ही पुरुषके द्वारा उनका उत्पादन सम्भव है इसलिए आशंकाकारोंने जो उदाहरण दिया वह साध्यविकल रहा, अर्थात् घट पट आदिक भी एकके द्वारा किए जाते हैं और वह एक नाना स्वभावात्मक होता है। इस प्रकार कार्यत्व नामक हेतु शरीर इंद्रिय लोक आदिक पदार्थों का कोई बुद्धिमान सृष्टिकर्ता है, निमित्त है, इस बातको सिद्ध करता ही है। मूलमें जो अनुमान दिया गया था नैयायिकोंकी ओरसे कि शरीर इंद्रिय आदिक किसी बुद्धिमान निमित्तके द्वारा किए गए हैं, क्योंकि कार्य होनेसे, तो यह अनुमान समस्त दोषोंसे रहित है ऐसा नैयायिक अथवा वैशेषिक सिद्धान्तके अनुयायी अपनी शंका रख रहे हैं। इस शंकाको रखनेका प्रयोजन उनका यह था कि जिस ईश्वरके द्वारा यह सारा जगत बनाया गया है, यह सृष्टि अनादिसे तो वह ईश्वर अनादिसे कर्मसे अछूता है। तब ग्रन्थकारका यह कहना कि आप्त मोक्षमार्गका नेता है, कर्म पहाड़का भेदने वाला है, विशुद्ध तत्त्वका ज्ञाता है, ये तीन विशेषण युक्त नहीं होते। दो विशेषण भी मान लिए जायें कि मोक्ष मार्गका नेता है ईश्वर और सब तत्त्वोंका ज्ञाता है, पर कर्मपहाड़ों का भेदनहार है ही नहीं, क्योंकि उनका अनादिसे ही कर्मोंका संस्पर्श नहीं है।

कालात्ययापदिष्ट व व्यापकानुपलम्भ होनेसे कार्यत्व हेतुकी बुद्धिमन्निमित्तकता साध्यकी सिद्धिमें अशक्तता बताते हुए उक्त शङ्काओंका समाधान--अब उक्त शङ्काओंके समाधानमें ग्रन्थकार कहते हैं कि कोई कर्मभूभृत्का भेदनहार नहीं है और ईश्वर कर्मसे सदा अछूता है और यह जगत उस बुद्धिमानके द्वारा बनाया गया है। ये सब बातें असमंजसकी हैं, क्योंकि शङ्काकारके इस पक्षमें कि शरीर इंद्रिय आदिक बुद्धिमन्निमित्तक होते हैं, इस पक्षमें व्यापकानुपलम्भसे बाधित होता है और जब उनका कार्यत्वहेतु प्रमाणबाधित हो गया तो प्रमाण बाधित हेतुको अपना अभिमत सिद्ध करनेके लिए पेश करना कालात्ययापदिष्ट दोषसे दूषित कहलाता है। व्यापकानुपलम्भका क्या अर्थ है? सो सुनो! व्यापकका अनुपलम्भ हो याने ऐसा अन्वय व्यतिरेक नहीं बनता कि जब जब ईश्वर है तब तब शरीर आदिक बनते हैं, जब ऐसा नहीं है तब शरीर आदिक नहीं बनते या शरीर आदिक नहीं बन रहे उस समय ईश्वर नहीं है, इसलिए कोई अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं सिद्ध होता है। शरीर आदिक बुद्धिमन्निमित्तक नहीं हैं, क्योंकि उस बुद्धिमानसे शरीर आदिकका अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं पाया जाता। जहाँ जिसके अन्वय व्यतिरेकका अभाव है वहाँ उस एक प्रभुका कार्य न कहलायगा। जैसे घड़ा, खपरियाँ, सकोरा आदिक कार्यों में जो कि जुलाहा आदिकके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है, तो यह कहा जा सकता है कि ये घट सकोरा आदिक कार्य जुलाहा आदिकके निमित्तसे नहीं होते। सारांश यह है कि जुलाहाके होनेपर घड़ा बन जाय और जुलाहाके न होनेपर घड़ा न बने ऐसा सम्बन्ध तो नहीं देखा गया। तब यह कह सकना कि घड़ा कार्य जुलाहाके निमित्तसे नहीं होता, ऐसे ही प्रकृतमें भी घटा लीजिए। एक बुद्धिमान ईश्वरके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं पाया जाता है शरीर इंद्रिय आदिकमें। इस कारण ये सब शरीरादिक लोग बुद्धिमान निमित्तक नहीं हैं इस तरह व्यापकानुपलम्भ नहीं पाया जा रहा है। यदि शरीर वगैरह ईश्वर द्वारा किए गए होते तो उसके साथ अन्वय व्यतिरेक पाया जाना चाहिए। जो भी शरीरादिकका कारण होगा उसके साथ इसका अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है। जैसे घट सकोरा आदिकके साथ कुम्हारका अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है, तब कह सकते हैं कि परमाणु आदिक कुम्हारके कारणसे बने हुए हैं। कुम्हारने बनाया कुम्हारकी चेष्टा हुई वहाँ घड़ा बन गया। जहाँ कुम्हारकी चेष्टा नहीं है वहाँ घड़ा नहीं बनता। तो कार्यका जिसके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बंध हो वही कारण कहा जा सकता है। पर एक महेश्वरका शरीर इन्द्रिय आदिके साथ कार्य कारण सम्बन्ध नहीं हैं व्यापकानुपलम्भमें कोई बाधक प्रमाण नहीं मिलता। व्यापकानुपलम्भ नामक हेतु असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि शरीर आदिकका ईश्वरके साथ व्यतिरेकका न पाया जाना प्रमाण सिद्ध हो रहा है। वह कैसे? सो सुनो! व्यतिरेक दो प्रकारके होते हैं काल व्यतिरेक और देश व्यतिरेक। काल व्यतिरेकका तो भाव यह है ऐसा कोई कह सकता हो कि जब ईश्वर है, जब शरीर आदिक बन रहे हैं और

जिस समय ईश्वरका अभाव है उस समय शरीर आदिक नहीं बन रहे तब तो कह सकते थे कि इसमें काल व्यतिरेक पाया जा रहा पर ऐसी बात है तो नहीं। ईश्वर तो सनातन शाश्वत वर्तमान माना गया है। उसका कभी भी अभाव नहीं हो सकता है। तब वहाँ कालव्यतिरेक सम्भव नहीं है। दूसरा व्यतिरेक है देश व्यतिरेक। देश व्यतिरेकका भाव यह है कि कोई यदि ऐसा कह सके कि जिस जगह ईश्वर है उस जगह शरीर आदिक बन जाता है और जिस जगह ईश्वर नहीं है वहाँ शरीरादिक नहीं बन पाते हैं। ऐसा देश व्यतिरेक भी सम्भव नहीं है, क्योंकि ईश्वर तो विभु है, सर्वत्र व्यापक है। उसका किसी एक क्षेत्रमें अभाव नहीं कहा जा सकता। इस कारण उनका देश व्यतिरेक भी नहीं कहा जा सकता है। यों व्यतिरेकका अभाव पाया जानेसे कार्यत्व हेतु एक ईश्वरकी सृष्टि कर्तृत्वको सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है।

कार्यत्व हेतुका सिसृक्षानिमित्तिकताके साथ भी व्यतिरेकानुपलम्भ होनेसे अनिष्ट प्रसंग—यदि शङ्काकार यह कहें कि शरीर आदिक कार्य कहीं बनता है, कुछ बनता है, कुछ नहीं बनता है, इसी आधार पर तो व्यतिरेकानुपलब्धिकी बात कही जा रही है सो सुनो! महेश्वर तो सदाकाल है सो उसके साथ व्यतिरेकानुपलब्धि है तो बना रहे लेकिन महेश्वरकी सृष्टि करनेकी इच्छा निमित्त मानी गई है। तो जब ईश्वरकी इच्छा होती है तो कार्य बनता है और इच्छा न हो तब वह कार्य न बना, इस तरह सृष्टि करनेकी इच्छाके साथ अन्वय व्यतिरेक बन जाता है और वही निमित्त कहलाता है। तब हमारा कहे गये मूल अनुमानमें कोई दोष नहीं आता। यदि ऐसा कोई कहे तो उसके समाधानमें कहते हैं कि वह बात भी असत्य है। अच्छा वे बतलायें जरा कि ईश्वर की जो इच्छा उत्पन्न हुई है उसकी इच्छा नित्य है या अनित्य? वह विकल्पसे अतिरिक्त और कुछ तो कहा नहीं जा सकता। या कहो नित्य है महेश्वरकी तरह सदा काल रहता है या कहो अनित्य है। कभी रहता है कभी नहीं रहता है। तो इन दो विकल्पोंमेंसे यदि यह विकल्प लेंगे कि महेश्वर की इच्छा नित्य है तो वहाँ भी व्यतिरेक सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे ईश्वर सदाकाल है, नित्य है, उसके साथ शरीर आदिक कार्योंका व्यतिरेक नहीं बनता। इसी तरह ईश्वरकी इच्छा भी नित्य है, सदाकाल है, इस कारण उस इच्छाके साथ ही शरीर आदिकका व्यतिरेक नहीं बन सकता, क्योंकि अब तो सृष्टिकी इच्छा भी सदाकाल रहेगी। यहाँ शङ्काकार कहता है कि ईश्वरकी इच्छा यद्यपि नित्य है, लेकिन वह असर्वगत है याने सब जगह व्यापक नहीं रहती। उससे व्यतिरेक सिद्ध हो जाता है। ईश्वरकी इच्छा सदाकाल तो रही, मगर जिस जगह नहीं है उस जगह कार्य नहीं हो रहे, जिस जगह इच्छा पहुंच गई वहाँ कार्य होने लगा। इसके समाधानमें कहते हैं कि देखिये! जहाँ ईश्वरकी इच्छा है मौजूद है वहाँ व्यतिरेक न बन पायेगा, इतना तो मानना ही पड़ेगा। अब सोचिये दूसरा पहलू! जहाँ ईश्वरकी इच्छा नहीं है, दूसरे देशमें जहाँ

ईश्वरकी सृष्टि करनेकी इच्छा मौजूद नहीं है वहाँ ईश्वरकी इच्छाका हमेशा अभाव बना रहनेसे फिर शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्ति न हो सकेगी और अगर होगी तो ईश्वरकी इच्छाको अनित्य मानना पड़ेगा। ईश्वरवादी तो ईश्वरकी तरह ईश्वरकी इच्छाको भी सदाकाल ही मानते। तो ईश्वरकी इच्छा यदि नित्य है तो उसके साथ भी व्यतिरेक नहीं बन सकता। यदि वह कहें कि ईश्वरकी इच्छा अनित्य है तो अनित्यके मायने यह ही तो हुआ कि किसी दिन हुई। तो जिस दिन वह हुई उससे पहिले तो वह इच्छा थी नहीं। तो यह ही बतायें कि केवल इच्छा कैसे उत्पन्न हो गई ? यदि कहें कि उससे पहिले अन्य इच्छा थी इस इच्छाके कारण यह नई इच्छा बन गई। तब तो अनवस्था दोष आयगा। वह पूर्वकी इच्छा भी और पूर्वकी इच्छाके कारण बनी। वह उससे पहिलेकी इच्छासे बनी। तो यों दूसरे तीसरे आदिक इच्छाको उत्पन्न करनेमें ही महेश्वर लगा रहेगा तब शरीरादिक कार्य कभी उत्पन्न हो ही न सकेंगे।

विश्वको सिसृक्षानिमित्तिक माननेपर भी अनवस्थादि दोषोंका प्रसंग

यदि शङ्काकार यह कहे कि प्रकृति शरीर आदिक कार्योंकी उत्पत्तिमें महेश्वरके सृष्टि करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है। और वह इच्छा भी उसके पहिले जो सृष्टिकी इच्छा हुई थी वह होती है। इस तरह अनादिसे सृष्टि करनेकी इच्छाकी संतति बन जाती है। और जहाँ संतति है वहाँ अनवस्था दोष नहीं होता, क्योंकि सभी घटनाओंमें कार्य कारणका जो संतान है वह अनादिरूपसे सिद्ध है। जैसे बीज और अंकुरका अनादि संतान हैं। बीज पहिले अंकुरसे हुआ वह अंकुर पहिले बीजसे हुआ, वह बीज पहिले अंकुरसे हुआ, इस तरह अनादि परम्परा बन जाती है। वहाँ अनवस्था दोष नहीं आता। इस तरह सिसृक्षा याने सृष्टि करनेकी इच्छा ही पूर्व पूर्व सिसृक्षासे उत्पन्न होती रहती है इसलिए उनमें अनादि संतति सिद्ध है, अनवस्था दोष नहीं आता। ऐसा कहने वाले शङ्काकारके यहाँ यह अनिष्टापत्ति आती है कि फिर तो एक साथ नाना देशोंमें शरीरादिक कार्योंका उत्पाद सम्भव न होगा। जहाँ जिस कार्यकी उत्पत्ति के लिए महेश्वरकी सृष्टि करनेकी इच्छा हुई हो उस ही देशमें उस कार्यकी उत्पत्ति बन सकेगी। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि जितने देशमें जितने कार्य उत्पन्न होने वाले हों उतने ही सिसृक्षाओंमें ईश्वर एक साथ उत्पन्न हो जाय और जिससे यह बात सिद्ध की जा सके कि सभी देशोंमें कार्यकी उत्पत्ति सम्भव हो सकती है। ऐसा क्यों नहीं कहा जा सकता कि एक साथ अनेक इच्छाओंकी उत्पत्तिका विरोध है। जैसे हम आप सभी लोगोंके एक समयमें एक इच्छा उत्पन्न होती है, अनेक इच्छायें तो नहीं होती, कोई यदि यह कहे कि एक ही महेश्वरकी सिसृक्षा एक साथ नाना देशोंमें कार्यके उत्पन्न करने वाली समर्थ हो जायगी, एक ही सिसृक्षासे सारे देशकी क्रिया उत्पन्न हो जायगी तो यह भी बात युक्त नहीं बनती, क्योंकि क्रमसे अनेक शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें

विरोध आता है, क्योंकि महेश्वरकी सिसृक्षा तो सदाकाल है नहीं। तब फिर अनेक शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्ति कैसे हो जायगी ? अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि जहाँ जिस समय जिस प्रकारसे जो कार्य उत्पन्न होने वाला है वहाँ उस समय उस प्रकारसे उस कार्यके उत्पन्न करनेकी इच्छा महेश्वरके एक ही उस प्रकारकी उत्पन्न होती है, इस कारण नाना देशोंमें और एक देशमें क्रमसे और एक साथ और उसी प्रकारका तथा अन्य प्रकारका शरीरादिक कार्य उत्पन्न हो जाय इससे किसी भी प्रकारका विरोध नहीं होता। सारांश यह है कि जो महेश्वरके एक ऐसी विशेष जातिकी इच्छा बनती है जो सब जगह क्रम पूर्वक योग्य ढङ्गसे शरीरादिक कार्योंको उत्पन्न करता रहता है इस लिए नाना देशोंमें क्रमसे अथवा युगपत शरीरादिक नाना कार्योंकी उत्पत्ति हो जाय, इसमें किसी भी प्रकारकी बाधा नहीं आती। उक्त शङ्काके समाधान में कहते हैं कि यह तो बिल्कुल असम्भव बात कह दी गई है। किसी एक प्रदेशसे सृष्टि करनेकी इच्छा उत्पन्न हुई। अब उससे विभिन्न देशोंमें नाना कार्य उत्पन्न कराये जा रहे तो यह तो विरुद्ध बात है। एक प्रदेशमें इच्छा उत्पन्न हुई तो उस ही प्रदेशमें वही एक कार्य उत्पन्न होगा। एक देशमें उत्पन्न हुई इच्छासे सर्व देशोंमें कार्यका उत्पन्न होना मान लिया जाय तो देश व्यतिरेक नहीं बन सकता। किसी भी वस्तुका कारण-पना जाननेके लिए देशव्यतिरेक और कालव्यतिरेककी सिद्धि बनना चाहिए सो एक जगह महेश्वरकी इच्छा उत्पन्न हुई और सब जगह कार्य होता रहे तब यह बात युक्तिमें कैसे आ सकेगी कि सिसृक्षाके होनेपर ही कार्य हुआ और सिसृक्षाके न होनेपर कार्य नहीं हुआ, यह व्यतिरेक व्याप्ति सिद्ध न बन सकेगी।

सिसृक्षा और कार्यत्वमें देश व्यतिरेक व काल व्यतिरेककी असिद्धि— यदि शङ्काकार यह कहे कि जिस देशमें सिसृक्षा हुई है उस ही देशमें वह कार्य बनेगा। अन्य देशमें न बनेगा। इस तरह देश व्यतिरेक तो बन जायगा किन्तु उस हालतमें महेश्वरकी अनेक इच्छा माननी पड़ेगी, जो शङ्काकारको इष्ट नहीं है तो जैसे महेश्वर के साथ कार्यका अन्वय व्यतिरेक नहीं बनता उसी प्रकार सिसृक्षाके साथ भी अन्वय व्यतिरेक नहीं बन पाया तो अन्वयका निश्चय न होगा ईश्वरके होनेपर शरीर आदिक कार्योंकी उत्पत्ति हुई यही तो अन्वय कहलायगा। यह अन्वय भी नहीं बनता, क्योंकि कार्य उत्पन्न हो रहे हैं उस कालमें जैसे ईश्वरका सद्भाव मान रहे ऐसे ही कार्य जब उत्पन्न हो रहे हैं तो अनेक पुरुष अनेक जीव वे तो प्रायः सदाकाल बने रहते हैं फिर अन्य जीवोंसे सृष्टिका अन्वय क्यों न मान लिया जाय ? पुरुषान्तरका भी याने अन्य अन्य जीवोंका सर्व कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्त कारणपना इन नैयायिक वैशेषिक जनों को मान्य नहीं है जैसे दिशा काल आकाश निमित्तपना इनको मान्य नहीं है। यहाँ प्रकृत बात यह चल रही है कि ईश्वरके साथ शरीर आदिक कार्योंका अन्वय भी नहीं बनता। अन्वयकी मुद्रा यह है कि ईश्वरके होनेपर शरीर आदिक कार्य हुए तो जैसे

ईश्वर सदा रहता है और कार्य होता रहता है. ऐसे नाना जीव भी सदा रहते हैं और कार्य होता रहता है। तो इस तरह नाना जीवोंमें भी निमित्त कारणपना बन जायगा शरीरादिक कार्योंका निमित्त कारण यह जीव है, लेकिन इन जीवोंको यौव और वैशेषिकका निमित्त कारण तो नहीं माना। जैसे दिशा काल आकाश ये भी सदा रहते हैं, इसके साथ भी अन्वय बताया जा सकता जैसे कि ईश्वरके साथ अन्वय बताया जा रहा है तो वह भी निमित्त कारण नहीं है और इस तरह सर्व जीवोंको निमित्त कारण मान लिया जानेपर सिद्धान्तसे विरोध आ जायगा। और, महेश्वरका निमित्त कारणपना माननेकी कल्पना व्यर्थ हो जायगी। यदि शंकाकार यह कहे कि उन अनेक जीवों के होनेपर भी कभी शरीरादिक कार्योंमें अनुत्पत्ति भी देखी जाती है इस कारण उन जीवोंमें निमित्त कारणपना नहीं है इसी तरह उनके साथ अन्वय भी नहीं बनता तो सुनो ! इसी तरह ईश्वरके होनेपर भी कदाचित् शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होती है इस कारण ईश्वरकी भी सृष्टिका निमित्त कारणपना बनेगा और निमित्त कारणपना न बना तो अन्वय भी न बना। जिस तरह जीवान्तरोंके साथ अन्वय व्यतिरेक नहीं बनता इसी तरह ईश्वरके साथ भी सृष्टिका अन्वय व्यतिरेक नहीं बनता। जैसे ईश्वरके साथ शरीरादिक कार्योंका अन्वय व्यतिरेक सिद्ध नहीं होता, उसी तरह ईश्वरकी सिसृक्षाके साथ भी अन्वय नहीं बनता, क्योंकि सिसृक्षा भी नित्य मानी गई है, वह तो सदाकाल है। तो सदाकाल होनेपर भी शरीरादिक कार्योंकी अनुत्पत्ति देखी जा रही है। दमादम प्रत्येक स्थानमें शरीरादिक कार्य हो तो नहीं जाते। कहीं होते हैं. कहीं शरीर उत्पन्न नहीं हो रहे हैं। तो सिसृक्षाके साथ भी अन्वय सिद्ध नहीं होता। जैसे दिशा, काल, आकाश आदिकके साथ अन्वय व्यतिरेक नहीं होता, क्योंकि दिशा काल आदिकके होनेपर भी सब कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होती।

सामग्रीको कार्यजनिका माननेपर प्रकृत पक्षकी हानि—यहाँ शङ्काकार कहता है कि एक कार्यको उत्पन्न करने वाला कारण एक नहीं होता, किन्तु सामग्री कार्यको उत्पन्न करने वाली होती है। याने अनेक पदार्थोंका समूह कार्यको उत्पन्न किया करता है, इस कारण उस सामग्रीका ही कार्यके साथ अन्वय व्यतिरेक घटाना चाहिए। ईश्वर एक है और वह सदाकाल रहता है और वह सृष्टिका निमित्तकारण है, इतनेपर भी वही एक कारण तो नहीं है। वह तो एक नियंता मुख्य कारण है, उसके साथ अनेक सामग्री भी होती है और वह कार्यकी जनक है। उस सामग्रीमें एक ईश्वर भी आ गया है। तो सामग्रीके साथ कार्यका अन्वय व्यतिरेक ढूंढियेगा। एक ईश्वरके साथ अन्वय व्यतिरेकका तर्क मत करें। और शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें सामग्री होती है तीन कारणोंरूप - समवायी कारण, असमवायी कारण और निमित्त कारण, क्योंकि इन तीन कारणोंके होनेपर ही कार्यकी उत्पत्ति हुआ करती है। और ये तीन कारण न जुटे हों तो कार्यकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती, इस कारण सामग्री

का उत्तर ३ कारण अन्वय व्यतिरेक कार्यके साथ लगा लगा ... [illegible] साथ अन्वय व्यतिरेक मत लगावें ! उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि आपका कहना ठीक है। तीन प्रकारके कारण हुए, लेकिन जिस प्रकार अनित्य समवायी कारण तथा अदृष्ट धर्म अधर्म निमित्त कारण, इन तीनोंका अन्वय व्यतिरेक कार्यको व्यतिरेक कार्यकी उत्पत्तिमें प्रसिद्ध है, उस प्रकार नित्य व्यापक ईश्वरका अथवा नित्य एक स्वभाव वाली सिसृक्षाका अन्वय व्यतिरेक प्रसिद्ध नहीं है। सभी कार्योंमें समवायी कारण, असमवायी कारण निमित्त कारणकी व्यवस्था बनाई जा सकती है। अगर ईश्वरको निमित्त कारण मानकर अन्वय व्यतिरेक व्यवस्था नहीं बन सकती। यह तो कहा नहीं जा सकता कि कार्यकी उत्पत्तिमें सामग्रीके एक देशके साथ अन्वय व्यतिरेक सिद्ध हो जाय, तो वह अन्वय व्यतिरेक समस्त सामग्रीके साथ लगा लेना चाहिए। याने तीन प्रकारके जो कारण कहे गए हैं—समवायी कारण, असमवायी कारण और निमित्त कारण उनमें एक ईश्वर निमित्त कारणके साथ अन्वय व्यतिरेक नहीं होता है। तब समवायी कारण असमवायी कारणके साथ अन्वय व्यतिरेक रहे तो सारी सामग्रीके साथ अन्वय व्यतिरेक समझ लेना चाहिए, यह बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि सामग्रीके प्रत्येक हिस्सेका अन्वय और व्यतिरेककी कार्यकी उत्पत्तिमें देखा जायगा। जैसे कि वस्त्र आदिककी उत्पत्तिमें जुलाहा आदिक सामग्रीमें एक देश के साथ अन्वय व्यतिरेक नहीं घटा। समस्त सामग्रीके साथ खोजा जाता है। जैसे—तंतु तुरी, बीन, सलाका आदिक जो कपड़ा बुननेके सम्बन्धमें कारण हुआ करते हैं, उनका अन्वय व्यतिरेक देखकर पटकी उत्पत्ति सिद्ध की जाती है, और इसी प्रकार जुलाहाके न होनेपर वस्त्रकी अनुत्पत्ति, ऐसे ही अन्वय व्यतिरेकके द्वारा भी वस्त्रकी उत्पत्ति देखी जाती हैं। इसी तरह पटके उपभोक्ता जनोंका जो अदृष्ट है, पुण्य पाप है उसके साथ भी अन्वय व्यतिरेक देखा जाता है। तब यह तो कह सकेंगे कि तंतु, तुरी, बेम, सलाका, जुलाहा और उसके उपभोक्ताओंका पुण्य पाप उसके साथ अन्वय व्यतिरेक है और यों पटकी उत्पत्तिमें कारण ये सब हैं, लेकिन ईश्वरके सम्बन्धमें ऐसा अन्वय व्यतिरेक नहीं देखा जाता।

कार्यत्व हेतुका दिशाकाल आकाशादिके साथ भी अन्वयव्यतिरेकका अनुपलम्भ—अब शङ्काकार कहता है कि जैसे सर्व समस्त कार्योंकी उत्पत्ति होनेमें दिशाकाल, आकाश आदिक सामग्रीसे अन्वय व्यतिरेक हुआ करता है, उस प्रकार ईश्वर आदिक सामग्रीका अन्वय और व्यतिरेक भी सिद्ध हो जायगा। ऐसी शङ्का करना स्पष्ट असङ्गत है। दिशा काल, आकाश आदिकका भी अन्वय व्यतिरेक नहीं बन सकता, क्योंकि ये सब भी नित्य हैं, व्यापक हैं, निरवयव हैं, ऐसा वैशेषिक और नैयायिकोंने माना है। तो जैसे नित्य व्यापक ईश्वरका कार्योंके प्रति अन्वय व्यतिरेक नहीं बन सकता इसी तरह दिशा, काल, आकाश आदिकका भी शरीर आदिक कार्यों

के प्रति अन्वय व्यतिरेक नहीं बन सकता। दिशा है इस कारण काल व्यतिरेक न बनेगा और व्यापार है इस कारण देश व्यतिरेक न बनेगा तब इसका उदाहरण प्रस्तुत करना असङ्गत है। यह विषम उदाहरण है। हाँ दिशा काल, आकाश आदिकको भी अगर परिणामी माना जाय, सप्रदेशी माना जाय तो अपने कार्यकी उत्पत्तिमें उनको निमित्त कहना बन सकता है। लेकिन ईश्वरको तो न परिणामी मानते, न सब प्रदेशी मानते, तब निमित्त कैसे माना जा सकता है?

ईश्वरकी परिणामिता व सप्रदेशिता माननेके लिये बाध्य होनेपर शंकाकार द्वारा बचावकी इच्छामें परिणामित्व व सप्रदेशित्वका प्रतिपादन— शङ्काकार कहता है कि जैसे दिशा काल, आकाश आदिकको परिणामी और सब प्रदेशी मान लिया जाता है इसी तरह ईश्वरको भी अपने अभिन्न परिणामोंसे तो परिणामी मान लिया जायगा और एक साथ समस्त मूर्तिमान पदार्थोंके संयोगमें कारणभूत प्रदेशोंकी अपेक्षासे सप्रदेशी मान लिया जायगा, याने ईश्वर अपने अभिन्न बुद्धि आदिक परिणामोंसे परिणमता है मेरी ज्ञानशक्ति, इच्छा शक्ति, क्रियाशक्ति होती है और उनसे परिणमता है सो तो परिणामी बन जायगा और जिन जिन मूर्तिमान पदार्थोंका उत्पाद हो रहा उनके संयोगमें कारणभूत बन रहा है अथवा मूर्तिमान द्रव्यों का संयोग बन रहा उसमें कारण है उनके प्रदेश और उस समय ईश्वरका भी सम्बन्ध चल रहा तो यों सप्रदेश सिद्ध हो जायेंगे। याने जो पदार्थ बन रहे हैं जिनका संयोग हो रहा है उस अपेक्षासे सप्रदेश बन जायेंगे। और, यों ईश्वर परिणामी एवं सप्रदेश बन जानेसे काल आदिककी तरह शरीर आदिक कार्योंकी उत्पत्तिमें ईश्वरका निमित्त कारणपना मान लेना चाहिए क्योंकि अब परिणामी और सब प्रदेश मान लेनेसे कार्योंके साथ अन्वय व्यतिरेक बन जायगा। हाँ इतनी बात अवश्य है कि ईश्वरसे अभिन्न जो ज्ञानादिक परिणाम हैं वे परिणाम होते तो हैं मगर उनके कारण हम ईश्वरको परिणामी नहीं कहते। और, अपने आरम्भक प्रदेशसे उसकी सावयवताका भी हम समर्थन नहीं करते, याने वस्तुतः ईश्वर अपरिणामी है और निरवयव है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकारसे जैसा कि अभी ऊपर कहा है उस ढङ्गसे ईश्वरको परिणामी और सप्रदेश दोनों तरहसे मान लेते हैं। तो यों ईश्वरको परिणामी और अपरिणामी निरवयव और सप्रदेश माननेमें कोई विरोध नहीं है। और इसमें कोई हमे अनिष्टापत्ति भी नहीं है, क्योंकि दूसरे द्रव्यगत परिणमनोंसे याने अन्य द्रव्योंमें परिणमन हो रहा है उससे भी ईश्वरको परिणामीपना माननेका प्रसङ्ग नहीं आता। इसका कारण यह है कि वे सब पदार्थ ईश्वरमें समवाय सम्बन्धसे सम्बन्धित नहीं हैं। जो परिणाम वहाँ समवाय सम्बन्धसे सम्बन्धित हों उन्हीं परिणामोंसे वस्तुतः परिणामी कहा जाता है। जैसे पटमें जो कुछ भी परिणमन होते हों उन परिणमनोंका समवाय सम्बन्ध है, पट है तंतुओंमें, अतः परिणामी कह सकते। ईश्वरसे अभिन्न जो

ईश्वरकी ज्ञान इच्छा आदिक हैं उनका कथंचित परिणाम कह सकते, पर बाह्य पदार्थों के प्रसङ्गसे ईश्वरको परिणामी नहीं कहा जा सकता। यद्यपि परमाणुके जो आरम्भक अवयव हैं वे परमाणुके नहीं हैं। परमाणु तो निरवयव है और अनेक परमाणु जब मिलते हैं तो मिलनेपर नया संयोग होता है और उनसे सप्रदेशीपना आता है, तो भी अब वह नैयायिकोंके लिए अनिष्ट नहीं है। इसका कारण यह है कि परमाणुका दूसरे परमाणुके साथ संयोग होनेमें कारणभूत एक प्रदेशी परमाणुको स्वीकार किया गया है, याने एक परमाणुका दूसरे परमाणुके साथ सम्बन्ध होता है। तो उस सम्बन्धमें उनके प्रदेश भी तो कारण पड़ते हैं। दो परमाणुओंका सम्बन्ध हुआ तो दोनों परमाणुओंके अपने अपने प्रदेशमें संयोगमें कारण तो हुए इस दृष्टिसे सप्रदेशपना कह देवें कार्योंको तो इसमें कोई विरोधकी बात नहीं है। तो यों औपचारिक प्रदेशकी मान्यता करके ईश्वरमें भी परिणामीपना और सप्रदेशपना सिद्ध हो जायगा। आत्मा आदिक में भी सिद्ध हो जायगा। क्योंकि ये सब उपचारसे ही स्वीकार किए गए हैं। परन्तु जब परमार्थ दृष्टिसे देखा जायगा तो मूर्तिमान उन परमाणुओंके संयोगमें भी कारिणीभूत प्रदेश यो हुए हैं, पर उनसे सप्रदेश मानना उपचार मात्रसे है। परमार्थसे सो वे सप्रदेश नहीं हैं। परमार्थ दृष्टिसे तो उन परमाणुओंके अपने अपने प्रदेश परमार्थभूत हैं। यदि वे परमार्थ न होते तो सारे मूर्तिमान द्रव्योंका एक साथ सम्बन्ध हो जाय। उस समयका संयोग भी अपरमार्थ हो जायगा। तो यों व्यापकपना भी उपचरित होगा। परमाणुका परमाणुके साथ संयोग भी उपचरित होगा तब द्रयणुक आदिक कारण काल्पनिक हो गए तो कार्य भी काल्पनिक बन जायेंगे। सारांश यह है कि जिस युक्तिसे हम काल आदिकको परिणामी और सप्रदेशी मान लेते हैं और उनके फिर कार्योंके साथ अन्वय व्यतिरेक सिद्ध कर लेते हैं और यों अन्वय व्यतिरेक सिद्ध होनेसे निमित्त कारण स्वीकार कर लेते हैं ठीक उसी ढङ्गसे ईश्वरको भी परिणामी माना जा सकता है तथा सप्रदेशी माना जा सकता हैं। और, यों परिणामी और सप्रदेशी मान लेनेपर ईश्वरके साथ शरीरादिक कार्योंका अन्वय व्यतिरेक बन सकता है, और जब शरीरादिक कार्योंके साथ ईश्वरका अन्वय व्यतिरेक बन गया तो निमित्त कारणपना भली भाँति सिद्ध हो जायगा। कैसे यहाँ ईश्वरकी निमित्त कारणताका खण्डन किया जा रहा है ?

ईश्वरको परिणामी और सप्रदेश माननेमें स्याद्वादका आश्रयण—उक्त शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि ईश्वरका किसी दृष्टिसे परिणामी सप्रदेशी मानने वाले इन नैयायिकोंने आखिर कोई गति न होनेसे स्याद्वाद मतका ही तो अनुसरण किया कि परमार्थसे ईश्वर परिणामी है, सप्रदेशी है, ईश्वर परिणामी है, सप्रदेशी है, यह नय लगाकर प्रयोग ही तो किया। इतनेपर भी ये नैयायिक शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें ईश्वरकी निमित्त कारणताका समर्थन करनेके लिए समर्थ नहीं हो सकता।

यों अगत्या स्याद्वाद मत मान लिया, तिसपर भी अपने इष्टकी सिद्धि न कर सके, क्योंकि ईश्वरको यों परिणामी और सप्रदेशी मानकर भी शरीरादक कार्योंके साथ उसका अन्वय व्यतिरेक सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि इस तरह अन्वय व्यतिरेक मान लिया जायगा तो प्रत्येक शरीरादिक कार्योंके प्रति अनेक आत्माओंका अन्वय व्यतिरेक मान लेना सड़ेगा। तो जैसे अन्य आत्मा शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण नहीं है, यद्यपि उन अन्य आत्मावोंके होनेपर कार्य हो रहे हैं ऐसा अन्वय सिद्ध है और अन्य आत्माओंसे शून्य प्रदेशमें कहीं भी शरीरादिककी उत्पत्ति नहीं है इस तरह व्यतिरेक सिद्ध है। यों जबानी अन्वय व्यतिरेक सिद्ध होने पर भी अन्य आत्मावोंको शरीरादिक जैसे अन्य आत्माओंको कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण नहीं माना है। उस ही प्रकार ईश्वरके होनेपर ही शरीरादिक कार्यों की उत्पत्ति हो रही है और ईश्वरसे शून्य प्रदेशमें कहीं भी शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्ति नहीं हो रही है, क्योंकि ईश्वरसे शून्य कोई दुनियाका प्रदेश ही नहीं है। तो यों जबानी अन्वय और व्यतिरेक सिद्ध होनेप भी ईश्वर निमित्त कारण न होगा, क्योंकि अन्य आत्माओं और ईश्वर इन दोनोंके साथ एक सी ही घटनायें घट रही हैं। अन्वय व्यतिरेकके सम्बन्धमें और इससे भिन्न रहनेके सम्बन्धमें कोई विशेषता नहीं है।

कार्यमें आत्मान्तरोंके निमित्ताभावकी तरह सर्वकार्योंमें एक आत्म विशेषके भी निमित्ता भावकी सिद्धि—अब शङ्काकार कहता हैं कि महेश्वर तो बुद्धिमान है। वह समस्त कारकोंके परिज्ञानको रख रहा है तो समस्त कारक सामग्री के परिज्ञानके सम्बन्धके कारण वह उन कारकोंका प्रयोगता बन सकता है। याने पदार्थोंकी उत्पत्तिमें जो जो सामग्री कारण होती है वह कारक कहलाती है, और उन समस्त कारकोंका परिज्ञान है महेश्वरको तब वह कारकोंका प्रयोग करने वाला बन जाता है। जैसे कि कुम्हारका घड़ा बननेके योग्य कारण है। उन समस्त कारकोंका परिज्ञान है तो वह समर्थ भी है, सो कारकोंका प्रयोगता बन जाता है, यों ईश्वरसे कारकोंकी प्रयोगता बन जानेसे निमित्तमें, लेकिन अन्य आत्मा अज्ञ हैं उनको समस्त कारकोंका परिज्ञान नहीं है इस कारण कारकोंका प्रयोगता न बन सकनेके कारण निमित्त कारणपना अन्य आत्माओंमें घटित नहीं हो सकता। शङ्काकारका यह अभि-प्राय है कि अभी समाधानमें जो यह कहा था कि अन्वय व्यतिरेक तो अन्य आत्माओं में भी घटित हो जाता है, लेकिन वह शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिके निमित्त कारण तो नहीं हैं, एसे ही ईश्वरके साथ भी कार्योंका अन्वय व्यतिरेक बन जाय तब भी निमित्त कारणपना न होवे। इसके उत्तरमें शङ्काकारका यह भाव है कि अन्य आत्मा तो अज्ञानी है, उनके कारक सामग्रीका परिज्ञान भी नहीं है, इस लिए वह प्रयोगता न बन सकेगा। ईश्वर समस्त कारकोंका ज्ञाता है और उनका प्रयोगता है इस कारण

यह सृष्टिमें निमित्त हो जायगा उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि यह कथन भी समीचीन नहीं है। क्योंकि कोई सर्वज्ञ है तो भी समस्त कारकोंका प्रयोक्ता होना असिद्ध है। जैसे अन्य योगी मुक्त आत्मा वह सर्वज्ञ है तो भी समस्त कारकोंकी प्रयोक्तृता नहीं मानी गई है। तो शङ्काकारने जो यह युक्ति दी थी कि महेश्वर समस्त कारकोंके ज्ञाता हैं इस कारण वह कारकोंका प्रयोक्ता बन जायगा। सो बात सही नहीं है। अन्य योगी मुक्त आत्मा भी सर्वज्ञ हैं, मगर वह तो कारकोंका प्रयोक्ता नहीं है। ऐसे ही समस्त कारकोंके ज्ञाता होनेपर भी महेश्वर कारकका प्रयोक्तता नहीं हो सकता।

अन्वय व्यतिरेकानुपलम्भ होनेसे योगसिद्ध व अनुपायसिद्धके अन्तर की भी अकार्यकारिता--अब यह शङ्काकार कहता है कि देखिये ! जो अन्य योगी हैं उनको योगका विशेष अभ्यासके बलसे सर्व पदार्थोंका पूर्ण ज्ञान होता है, लेकिन उस ज्ञानके होनेपर समस्त सर्व पदार्थोंका पूर्ण ज्ञान होता है। और, उस ज्ञानके होने पर समस्त विश्वका ज्ञान देश, प्रवृत्ति, जन्म दुःख इनके अक्षय होनेसे उनको परम निश्रेयसकी सिद्धि होती है। याने मुक्ति होती है। इस कारण अन्य योग याने मुक्त आत्मा तो समस्त कारकोंके प्रयोगता हो जाती है, क्योंकि ईश्वर सदा मुक्त है और सदा ईश्वर है, अपने ऐश्वर्यसे सम्पन्न है वह तो संसारी जीव और मुक्त जीव दोनोंसे विलक्षण है। संसारी जीव तो अज्ञानी ही हैं इस लिए उनका तो उदाहरण दिया ही नहीं जा सकता ईश्वरका निमित्त कारणपना खण्डित करनेमें। अब रहे मुक्त आत्मा, सो मुक्त आत्मा और ईश्वर इन दोनोंमें भी तुलना नहीं हैं, क्योंकि मुक्त आत्मा तो योगाभ्यासके बलसे सर्वज्ञ हुए हैं लेकिन ईश्वर तो किसी उपायसे सिद्ध नहीं बना। वह तो अनुपाय सिद्ध है, अनादि सिद्ध है। कर्ममलसे अछूता ही है सदासे तो यों उन मुक्त आत्माओंसे इस ईश्वरमें विलक्षणता पाई गई। अतः सर्वज्ञ होनेपर भी मुक्त आत्मा कारकोंके प्रयोक्तता नहीं होते और महेश्वर कारकोंका प्रयोक्तता हो जाता है, और जब समस्त कारकोंका प्रयोक्तता हो गया महेश्वर तो शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण भी बन गया। जब मुक्त आत्माओं और महेश्वरका साम्य नहीं बताया जा सकता है और एक दृष्टिसे देखें तो मुक्त आत्मा तो समस्त ज्ञान और ऐश्वर्यसे रहित है जैसे कि समस्त ज्ञान और ऐश्वर्यसे सहित महेश्वर है, इसकी क्या तुलना की जा सकती है ? अब उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि संसारी और मुक्त आत्माओंसे कुछ विलक्षणता देखकर महेश्वरका सृष्टिकर्ता सिद्ध करना सङ्गत नहीं है, क्योंकि शरीरादिक कार्य महेश्वरके अभाव होनेपर कहीं नहीं होता, ऐसा व्यतिरेक सम्भव नहीं है। याने महेश्वर सदाकाल सर्वत्र है। तो जब उसका कोई अभाव ही नहीं हो पाता तो उसका अभाव हो और कार्य न हो ऐसी घटना मालूम पड़े तब तो व्यतिरेक बताया जायगा लेकिन ऐसा कभी होता नही, तो व्यतिरेक

कहाँ बना ? और जहाँ व्यतिरेक नहीं बनता वहाँ निश्चित अन्वय भी असम्भव हो जाता है। तो शरीरादिक कार्योंके प्रति महेश्वरका अन्वय व्यतिरेक ही नहीं है तो कैसे उसे निमित्त कारण सिद्ध किया जा सकता है ?

उत्कृष्ट आत्माके सिसृक्षाकी असिद्धि—अब शङ्काकार कहता है कि जब जहाँ जिस प्रकारके महेश्वरकी सिसृक्षा होती है याने सृष्टि करनेकी इच्छा जगती है, तब वहाँ शरीरादिक कार्य उत्पन्न होते ही हैं। और अन्य जगह, अन्य कालमें, और अन्य प्रकारके ईश्वरकी सिसृक्षा नहीं होती तो शरीरादिक कार्य उत्पन्न नहीं होते। इस प्रकार महेश्वरकी सिसृक्षाका शरीरादिक कार्यके साथ अन्वय व्यतिरेक बन जाता है। जैसे कि घड़ा बनाने वाला कुम्हार, उसकी सृष्टिकी इच्छा हो जाय याने घड़ा बनानेकी इच्छा हो तो घट आदिक कार्य होते हैं। तो कुम्हारकी इच्छाका घटादिक कार्यके साथ अन्वय व्यतिरेक देखा जाता है। ऐसे ही यहाँ भी ईश्वरकी सिसृक्षाका शरीरादिक कार्योंके साथ अन्वय व्यतिरेक बन जायगा। क्योंकि जब जहाँ जैसी इच्छा होती है उस तरह कार्य होता है। और, अन्य जगह अन्य कालमें, अन्य प्रकारकी इच्छा नहीं है तो कार्य उत्पन्न नहीं होते। तो यों हमारे अनुमानमें पक्षमें व्यापकानुपलब्धि नहीं है जिससे कि हमारा पक्ष बाधित हो जाय। उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि यह कथन उक्त कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि महेश्वरकी जो सिसृक्षा हुई है शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें, उस सिसृक्षाके बाबत यह पूछा गया था कि वह नित्य है या अनित्य ? और, दोनों विकल्पोंमें निमित्तकारणपनेका निराकरण कर दिया गया था। यदि सिसृक्षा नित्य है तो व्यतिरेक नहीं बन सकता। यदि सिसृक्षा अनित्य है तो वह कैसे उत्पन्न हुई ? उसका कारण दूसरी सिसृक्षा मानें तो वह भी कैसे उत्पन्न हुई ? उसके लिए अन्य इच्छायें मानें तो यों सिसृक्षाओंका उत्पन्न होना ही सिद्ध न हो पायगा, कार्योंकी उत्पत्ति तो क्या सिद्ध होगी ? तो सिसृक्षा नित्य है अथवा अनित्य है ? दोनों विकल्पोंमें निमित्त कारणपनेका निराकरण किया गया तब सिसृक्षाका शरीरादिक कार्योंके साथ अन्वय व्यतिरेक बन नहीं सकता, तब व्यापकानुपलब्धि असिद्ध ही है। अछूता है और कर्मसे अछूता इस बातपर सिद्ध किया गया था कि वह समस्त सृष्टियोंका कर्ता है। सो इस प्रकरणमें यह सिद्ध कर दिया गया कि न वह कर्मसे अछूता है न सृष्टिकर्ता है, किन्तु कर्मोंको भेदकर ही वह सर्वज्ञ परमात्मा हुआ है।

विश्वज्ञ, वीतरागके ही मोक्षमार्ग प्रणेतृत्वकी संभवता—तीन विशेषणोंके विरोधमें जो यह कहा जाता है कि मोक्षमार्गका प्रणयन अनादिसिद्ध सर्वज्ञके बिना नहीं होता, किन्तु मोक्षमार्गका प्रणयन वही कर सकता है जो अनादिसे सर्वज्ञ बना हुआ है। जो तपश्चरण करके, योगाभ्यास करके उपायसे सिद्ध बना है सर्वज्ञ

हुआ है वह तो सर्वज्ञ होते ही संसारमें ठहर नहीं सकता। तो जब यह जीव रह ही न सका सर्वज्ञ हुआ ही तो सोपायसिद्ध सर्वज्ञके द्वारा मोक्षमार्गका प्रणयन असम्भव रहेगा और यदि यह हट की जाय कि जो उपायसिद्ध सर्वज्ञ है वह संसारमें ठहरता है तब तो तत्त्वज्ञान मोक्षका साक्षात् कारण न ठहरा। देखो ! इन मुक्त आत्माओंको तत्त्वज्ञान हो गया, सर्वज्ञता प्राप्त हो गई फिर भी संसारमें रहना पड़ा। तो तत्त्वज्ञान मोक्षका साक्षात् कारण है, यह बात सही न रहेगी। क्योंकि तत्त्वज्ञान होनेपर मोक्ष का होना नहीं बताया गया यहाँ। यदि कहे कोई कि तत्त्वज्ञानसे पहिले मोक्षमार्गकी रचना कर देगा, दूसरे जीवोंको मोक्षमार्गमें लगा देगा, तो यह बिल्कुल असङ्गत है कि तत्त्वज्ञान होता नहीं। ऐसे योगीका उपदेश प्रमाण कैसे बन सकेगा ? क्योंकि तब तक तो वह अतत्त्वज्ञ है। जो अज्ञानी हैं, अतत्त्वज्ञ हैं उनके वचनोंसे मोक्षमार्गका प्रणयन यदि होने लगे तो यों रास्तेमें चलते-फिरते अज्ञानी उन्मत्तोंके उपदेशसे भी मोक्षमार्गका प्रणयन बन जाया करेगा, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि साक्षात् तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो गया, तो भी परम वैराग्य उत्पन्न तब तक नहीं होता, उससे पहिले तो संसारमें रहना सम्भव है। तब मोक्षमार्गका प्रणयन बन जायगा। यह कथन यों युक्त न होगा कि साक्षात् समस्त तत्त्वज्ञान जो हुआ है वही परम वैराग्य स्वभावको लिए हुए है, ऐसी स्थिति नहीं है कि साक्षात् सकल तत्त्वज्ञान हो जाय और परम वैराग्य न हो। वही ज्ञान वैराग्यरूप है। तो क्या फलित अर्थ निकला कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र उत्कृष्ट प्राप्त हो जानेपर मोक्ष होता है, ऐसा कहने वालोंके यहाँ मोक्ष मार्गका प्रणेतापन नहीं बन सकता, क्योंकि दर्शन ज्ञान चारित्र हुआ कि तुरन्त मोक्ष हो गया। वह संसारमें रह ही न सके तो मोक्ष मार्गका प्रणयन कैसे बने ? क्योंकि केवलज्ञानकी उत्पत्ति होनेपर उत्कृष्टताको प्राप्त क्षायकसम्यग्दर्शन भी है, क्षायक चारित्र भी है तो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र प्राप्त हो गए पूर्णतया तो मुक्ति हो ही गई, उनका अब संसारमें अवस्थान नहीं बन सकता है। तो मोक्षमार्गका उपदेश भी उनके द्वारा सम्भव नहीं है और यदि रत्नत्रयकी पूर्णता होनेपर भी सर्वज्ञ का संसारमें अवस्थान माना जाय तो मोक्षका कारण रत्नत्रयको नहीं कहा जा सकता। जैसे कि मात्र ज्ञान हो गया उसे मोक्षका कारण नहीं कहा, क्योंकि ज्ञान होनेपर भी संसारमें रहो, तो ऐसा ही रत्नत्रय होनेपर भी संसारमें रहो, तो वह भी मोक्षका कारण नहीं है। इस ढङ्गपर विचार करते हुए कुछ शङ्काको दुहराते हुए समाधानमें आचार्यदेव दो कारिकायें कहते हैं।

प्रणीतिर्मोक्षमार्गस्य न विनाऽनादिसिद्धतः।
सर्वज्ञादिति तत्सिद्धिर्न परीक्षासहा स हि ॥ ११ ॥

आत्मविशेषके सर्वज्ञत्वकी अनादिसिद्धताकी असिद्धि—शङ्काकारका

यह कहना है कि अनादिसिद्ध सर्वज्ञके बिना मोक्षमार्गका प्रणयन नहीं हो सकता है, इससे अनादिसिद्ध सर्वज्ञकी सिद्धि हो ही जाती है। शङ्काकारका यह कथन परीक्षा करनेपर खरा नहीं उतरता। वह शङ्काकार बताये कि वह अनादिसिद्ध सर्वज्ञ जिसे मोक्षमार्गका प्रणेता कह रहे हो, वह सशरीर है या अशरीर? शरीररहित तो कह नहीं सकते अन्य मुक्त आत्माओंकी तरह शरीररहित अनादि सिद्ध सर्वज्ञ भी मोक्षमार्ग का प्रणेता नहीं हो सकता। शरीरसहित भी नहीं कह सकते, क्योंकि जो शरीरसहित है वह कर्मसहित जरूर है। तो अज्ञ प्राणियोंकी तरह सशरीर वह ऐश्वर कर्मसहित हो जायगा, फिर एक कर्मसे छुवा हुआ नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते। इसी बातको युक्तिपूर्वक देखिये! जैसे अनादिसिद्ध सर्वज्ञसे मोक्षमार्गका प्रणयन बताते हो और मोक्षमार्गके प्रणयन बतानेमें यह युक्ति देते हो कि सादि सर्वज्ञ होता, प्रभु तो उससे मोक्षमार्गका प्रणयन सम्भव न था, इस कारण वह अनादिसिद्ध सर्वज्ञ है। तो ऐसे अनादिसिद्ध सर्वज्ञको शङ्काकार शरीर सहित मानता है या शरीर रहित? दो ही तो स्थितियाँ हैं—वह ईश्वर परमात्मा शरीर सहित हो या शरीर रहित हो! तीसरी तो कोई स्थिति नहीं हो सकती। सो उसे शरीररहित मानकर मोक्षमार्गका प्रणेता तो कह नहीं सकते। जैसे कि अन्य मुक्त आत्मा शरीररहित हैं तो उनके वचनोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। तो वह मोक्षमार्गके प्रणेता भी नहीं हैं। इसी तरह अनादि सिद्ध सर्वज्ञ शरीर रहित है तो उससे वचन प्रवृत्ति भी असम्भव है तो मोक्षमार्गका प्रणेता कैसे हो सकेगा? इस अनादिसिद्ध सर्वज्ञको सशरीर मानकर भी मोक्षमार्गका प्रणेता कैसे हो सकेगा? इस अनादिसिद्ध सर्वज्ञको सशरीर मानकर भी मोक्षमार्गका प्रणेता नहीं कह सकते, क्योंकि शरीर सहित यदि वह है तो वह कर्मसहित सिद्ध होता है, अज्ञानी प्राणियोंकी तरह। जैसे अज्ञानी प्राणी शरीर सहित हैं तो वे कर्मसहित अवश्य हैं। तो शरीर सहित माननेपर परमात्माके सकर्मी होनेका प्रसङ्ग आता है। इस कारण शङ्काकारका यह कहना कि अनादिसिद्ध सर्वज्ञ ही मोक्षमार्गका प्रणेता होता है, यह बात असङ्गत हो जाती है।

ज्ञानेच्छा प्रयत्नवत्त्वसे भी अलौकिक आत्माके कर्तृत्वकी सिद्धिकी अशक्यता—शङ्काकार कहता है कि देखिये! शरीररहित होना या शरीरसहित होना ये दोनों ही बातें मोक्षमार्गके प्रणेतृत्वके प्रति अकारणभूत हैं याने मोक्षमार्गका वह सर्वज्ञ प्रणेता है तो प्रणेता होनेके लिए न तो शरीरसहित होनेका कारण बताया जा सकता और न शरीररहित होनेका कारण बताया जा सकता। मोक्षमार्गका प्रणेता तो तत्त्वज्ञान इच्छा और प्रयत्नके कारणसे बना। इसमें शरीर और बेशरीर होनेकी क्या गुन्जाइश है? यहाँ भी तो देखा जाता है कि जो कोई कार्य करता है सो एक तद्विषयक ज्ञान इच्छा और प्रयत्न पाये जाते हैं। यदि सारे जगतका कर्ता सिद्ध किया जाय तो वहाँ तत्त्वज्ञान इच्छा और प्रयत्न कारण पड़ेंगे। सशरीर और

शरीर रहित होना इन दोनोंकी क्या कारणता है ? कार्यकी उत्पत्ति तो तत्त्वज्ञान, इच्छा और प्रयत्नके कारणसे ही हुआ करती है। उसको व्यवहारमें भी घटा लीजिए कुम्हार घड़ा आदिक कार्योंका कर्ता हुआ शरीरसहित होनेके कारण नहीं कर रहा है, क्योंकि यदि शरीरसहित होना ही कारण हो तो जितने भी शरीर सहित जीव हैं जुलाहा आदिक वे सब भी घड़ेको बना देवें। कुम्हार घड़ेको बनाता है तो घड़ा विषयक ज्ञान और बनानेकी इच्छा और तदनुकूल प्रयत्न इस कारणसे बना रहता है न कि शरीर सहित होनेके कारण बना रहता है। शरीर सहित तो अनेक मनुष्य हैं, वे क्यों नहीं घड़ा बना देते ? तो किसी कार्यकी उत्पत्तिमें शरीर सहित होना कारण होना, यह नियम नहीं है, इसी प्रकार शरीर रहित होना भी कार्यका कारण नहीं होता, जैसे कि वही कुम्हार कोई सा भी शरीर रहित होनेके कारण कोई घड़ा आदिक कार्यको नहीं कर रहा। यदि शरीररहित होनेके कारण घड़ाका काम बना दे तो मुक्त आत्मा भी घड़ा बना लेगा क्योंकि वह भी शरीररहित है। यहाँ कार्य को करनेका कारण शरीर सहितपना बताया जा रहा है। तो शरीरसहित होना और शरीररहित होना ये दोनों कार्यके कारण नहीं हैं। फिर क्या है कार्यका कारण ? सो सुनो ! कुम्हारको कुम्भ बनानेका ज्ञान है, कुम्भ बनानेकी इच्छा है और कुम्भ बनाने का प्रयत्न है। तो इस ज्ञान, इच्छा और प्रयत्नके द्वारा कुम्भ याने घड़ा बना हुआ पाया जा रहा है। यदि उन तीन कारणोंमेंसे कोई भी एक कारण न रहे तो घड़ा आदिक कार्योंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। जैसे कुम्हारको घडा बनानेकी विधियोंका ज्ञान न हो या जिस किसी पुरुषको घड़ा बनानेकी विधि और सामग्रीका ज्ञान न हो तो वह इच्छा करता रहे तो भी घड़ा आदिक कार्यका उत्पाद नहीं देखा जाता। तो यदि तत्त्वज्ञान न हो तो कार्य नहीं बनता। इसी तरह कार्यके उत्पन्न करनेकी इच्छा न रहे तो भले ही उसका ज्ञान रख रहा हो तो भी कार्यको उत्पन्न नहीं कर सकता। जैसे वही कुम्हार जब घड़ेको बनानेकी इच्छा ही नहीं कर रहा, खूब आनन्द आ गया। आनन्दसे सो रहा उस ओर धुन भी नहीं है तो इच्छा न रही लेकिन ज्ञान तो पूरा रख रहा है कि कैसे घड़ा बनाया जाय। तो ज्ञान होनेपर भी इच्छा न होनेमें वह घड़ेका कर्ता नहीं पाया जा रहा है, इसी तरह मानो किसीको तद्विषयक ज्ञान है और उसकी इच्छा भी हो रही, मगर आलस्यमें पड़ा है प्रयत्न भी नहीं करता तो कार्यके उत्पन्न करनेका ज्ञान और तद्विषयक इच्छा होनेपर भी कार्यकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती है। तो यों जब ज्ञान इच्छा और प्रयत्न तीनोंका सद्भाव हो तो कार्यकी उत्पत्ति देखी जाती है। तब कार्यका जो करना है, कार्य होनेका जो कारण है सो तत्त्वज्ञान इच्छा और प्रयत्न इन तीन कारणोंको समझना चाहिए। सो महेश्वरमें ज्ञान इच्छा और प्रयत्न ये तीनों ही बातें पाई जाती हैं। इस कारणसे वह मोक्षमार्ग का प्रणयन कर देता है। जैसे कि वह शरीर इंद्रिय आदिक कार्योंको कर लेता है, इसमें कोई विरोध नहीं आता। तो समाधान कर्ताने जो यह बात रखी कि वह

महेश्वर जो मोक्षमार्गका प्रणेता है क्या शरीर सहित है या शरीर रहित, इस विकल्पको रखनेकी आवश्यकता नहीं। शरीर सहित और शरीर रहित होनेके कारण कोई कार्यको नहीं करता, किन्तु तत्त्वज्ञान इच्छा और प्रयत्न होनेपर कार्यको किया जाता है।

शरीर और कर्मके सम्बन्ध बिना मोक्षमार्ग प्रणयन व तत्वादिकार्य की अनुपपत्ति बताते हुए उक्त शंकाका समाधान—अब उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि शरीर सहित, शरीररहितका विचार न करें, केवल तत्त्वज्ञान इच्छा और प्रयत्न इन कारणोंसे ही ईश्वरको मोक्षमार्गका प्रणेता और कार्यकर्ता बताया जाय ऐसा कहने वालेका उक्त कथन उचित नहीं है, क्योंकि विचार करनेपर ये सब कल्पनायें दूर हो जाती हैं। मूल बात यह है कि जो सदा कर्मोंसे अछूता है ऐसे किसी भी आत्माके, किसी भी वस्तुके सम्बन्धमें इच्छा और प्रयत्न हो नहीं सकते। चूंकि ज्ञान तो आत्माका स्वभाव है, उसकी बात तो नहीं कही जा सकती कि शरीरके बिना नहीं रहता, लेकिन शरीर जिसके न हो, कर्म जिसके न लगे हों, ऐसे किसी भी आत्माके न तो इच्छा जग सकती है और न मन, वचन, कायकी क्रिया हो सकती है। इसी बातको ग्रन्थकार कारिकामें कहते हैं।

न चेच्छाशक्तिरीशस्य कर्माभावेऽपि युज्यते।
तदिच्छा वाऽभिव्यक्ता क्रियाहेतुः कुतोऽज्ञवत् ॥ १२ ॥

कर्मके अभावमें इच्छाशक्तिके अभावका विवरण—कर्मका अभाव मान लेनेपर भी महेश्वरमें इच्छाशक्ति मानना युक्त नहीं होता और इच्छा मानलो अगर तो वह इच्छा अभिव्यक्त नहीं हो सकती। तो अनभिव्यक्त अर्थात् जो प्रकट नहीं है, ऐसी इच्छा क्रियाका कारण कैसे हो सकती है? जैसे अज्ञ पुरुषकी इच्छा क्रियाका कारण नहीं होती। देखिये! कुम्हारकी इच्छा और प्रयत्न जो कुम्हार आदिकके कुम्भादि बनानेमें प्रतीत हो रही है वह कर्मरहित कुम्हारके नहीं प्रतीत होती कर्म सहित ही कुम्भकारमें इच्छा और प्रयत्नकी प्रसिद्धि है। तो अब अनेक उदाहरणोंसे यह सिद्ध होगा कि कर्मरहित जीवकी इच्छा और प्रयत्न प्रकट नहीं हो सकता। यदि शङ्काकार यह कहे कि संसारी जीव है वह कुम्हार, उसकी जो इच्छा होती है वह तो कर्मनिमित्तक इच्छा है याने कर्मसे बंधा हुआ है, उस कारणसे इच्छा होती है, वह कर्मके अभावमें भी होती है अर्थात् कर्मसहित जीवके भी इच्छा शक्ति होती है और कर्मरहित महेश्वरके भी इच्छा शक्ति होती है। हाँ जो उपायसिद्ध है, ज्ञानाभ्यास, योगाभ्यासके बलसे जिन आत्माओंको मुक्ति प्राप्त हुई है उनके इच्छा सम्भव नहीं हो सकती। तो सोपायमुक्तकी तरह ईश्वरके भी इच्छा असम्भव है, यह बात नहीं कह

सकते । संसारी प्राणियोंमें तो कर्मनिमित्तसे इच्छा होती है और अनादिसिद्ध सर्वज्ञके स्वयं ही इच्छाशक्ति रहा करती है । यदि ऐसा कहे शङ्काकार तो यह बतावें वे कि वह महेश्वरकी इच्छाशक्ति क्या प्रकट है या अप्रकट है ? अप्रकट हुई होती इच्छा, किसी कार्यको करे यह तो युक्त नहीं है, क्योंकि उस इच्छाका अभिव्यंजक कुछ भी नहीं रह सका है । तो जब इच्छा कोई प्रकट ही न कर सका तो वह इच्छा कार्य करनेमें कैसे सामर्थ्यवती है । यदि शङ्काकार यह कहे कि महेश्वरका ज्ञान ही महेश्वर की इच्छाका अभिव्यंजक है तो यह बात सही नहीं है, क्योंकि यदि महेश्वरका ज्ञान ही महेश्वरकी इच्छाका प्रकट करनहार हो जाय तो महेश्वर तो सदाकाल है, उसका ज्ञान भी सदा है, तो इच्छाकी अभिव्यक्ति भी सदाकाल हो बैठे ? पर ऐसा भी नहीं है । सदाकाल यदि इच्छा हो तो निरन्तर कार्य होना चाहिए और ऐसा माना भी नहीं है, महेश्वरकी इच्छा नित्य मानी है । यदि महेश्वरकी इच्छाको अनित्य नहीं मानते तो उनके इस सिद्धान्तका विरोध होगा । जैसे कहा कि १००–१०० वर्षके अन्तमें महेश्वरके इच्छा उत्पन्न होती है ।

प्राणियोंके अदृष्टको सिसृक्षामें हेतुभूत बताकर भी सिसृक्षा और सृष्टिकी सिद्धिका अनवकाश—यदि शङ्काकार यह कहे कि शरीरादिकके उपभोग करने वाले प्राणीका जो अदृष्ट है, पुण्य पाप है वह महेश्वरकी इच्छाका अभिव्यञ्जक होता है । याने महेश्वरके जो जगतकी सृष्टि करनेकी इच्छा होती है उस इच्छाका प्रकट करने वाला प्राणियोंका पुण्य पाप है । तब वे यह बतायें कि प्राणियोंका वह पुण्य पाप ईश्वरकी इच्छाके कारण बना है या किसी अन्य कारणसे बना है ? यदि कहो कि प्राणियोंका पुण्य पाप भाग्य ईश्वरकी इच्छासे बना है तो इन दोनोंके इतरेतराश्रय दोष आता है, क्योंकि ईश्वरकी इच्छा बने तब तो प्राणियोंका भाग्य बने । और जब प्राणियोंका भाग्य बने तो महेश्वरकी इच्छाकी अभिव्यक्ति हो । यों इसमें तो इतरेतराश्रय दोष आ जाता है । तब फिर किसीका काम नहीं हो सकता । जैसे अपने आप बन्द होने वाले तालेकी कुञ्जी बक्समें धरकर फिर बक्समें ताला लगा दिया जाय तो वहाँ यह दोष आता है । जब ताली निकले तब ताला खुले, जब ताला खुले तब ताली निकले ! ठीक ऐसे ही भाग्यको मानलो कि यह ईश्वरकी प्रकट करता है और साथमें यह भी मान लो कि ईश्वरकी इच्छासे भाग्य बनता है तो यहाँ इतरेतराश्रय दोष हो गया । यदि यह मानो कि इतरेतराश्रय दोष नहीं है किन्तु इसमें अनादि संततिकी बात आती है । जो भाग्य है वह ईश्वरकी पहिली इच्छाके कारणसे बनता है और अब जो ईश्वरकी अभिव्यक्ति हो रही है वह पहिलेके प्राणियोंके भाग्य से बना है और वह भाग्य ईश्वरकी पहिली इच्छासे बना है और वह इच्छा प्राणियों के पूर्व भाग्यसे प्रकट होती है । यों कार्य कारण भावका अनादिपना आ गया । प्राणियोंका अदृष्ट और ईश्वर इच्छाकी अभिव्यक्ति इनकी संतति चल रही है । सो

परस्पर आश्रय दोष नहीं कहा जा सकता। जैसे बीज और अंकुरकी संतति चला करती है। जो अब बीज है वह पहिले वृक्षसे हुआ और वह वृक्ष पहिले बीजसे हुआ, वह बीज पहिले वृक्षसे हुआ। तो जैसे बीज और अंकुरमें अनादि संतति है उसी तरह भाग्य और ईश्वरकी इच्छाकी अभिव्यक्ति इन दोनोंमें भी अनादि संततिकी बात आती है किन्तु इतरेतराश्रयका दोष नहीं आता। उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि प्राणियोंके अदृष्ट और ईश्वरकी सिसृक्षा इन दोनोंमें अनादि संततिकी बात कहना अयुक्त है। वहाँ ये दो विकल्प पूछे जा सकते हैं कि ईश्वरकी जो सिसृक्षा हुई है उसमें क्या एक प्राणीका अदृष्ट है या अनेक प्राणियोंका अदृष्ट है ? याने एक जीवके भाग्य से प्रेरित होकर ईश्वरकी सृष्टिकी इच्छा होती है या अनेक जीवोंके भाग्यके निमित्त से ईश्वरके सृष्टि करनेकी इच्छा होती है या अनेक जीवोंके भाग्यके निमित्तसे ईश्वरके सृष्टि करनेको इच्छा होती है ? ईश्वर इच्छाकी अभिव्यक्ति यदि एक प्राणीके भाग्य के निमित्तसे होती है तब फिर एक प्राणीके भाग्यके कारणसे उत्पन्न हुई ईश्वर इच्छाकी अभिव्यक्ति केवल उस ही प्राणीके उपभोगमें आने योग्य शरीरादिक कार्यों की उत्पत्तिमें कारण बनेगा, किन्तु समस्त प्राणियोंके उपभोगमें आने योग्य शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें कारण नहीं बन सकता, क्योंकि वह सिसृक्षाकी अभिव्यक्ति एक प्राणीके भाग्यके कारणसे हुई और यदि मान लिया जाय कि एक प्राणीके भाग्यके कारणसे हुई सिसृक्षा एक ही प्राणीके शरीरादिकके बनानेका कारण बनेगी अनेक प्राणियोंकी नहीं। तो ऐसा देखा तो नहीं जाता कि अनेक प्राणियोंके शरीर न होते हों। ऐसा होनेपर फिर एक ही साथ अनेक प्राणियोंके उपभोगमें इन योग्य शरीरादिक कारणोंकी उपलब्धि न होगी। अब यदि दूसरा विकल्प स्वीकार करते हो कि अनेक प्राणियोंके भाग्यके कारणसे ईश्वरके सृष्टि करनेकी इच्छा प्रकट होती है तब तो ईश्वरमें नाना स्वभाव आ बैठे और उन नाना स्वभावोंके कारण नाना शरीरादिक कार्य किए गए, यह सिद्ध होगा। सो नाना स्वभाव ईश्वरमें माने नहीं गए, इस कारण यह भी नहीं कह सकते कि अनेक प्राणियोंके भाग्यकी कल्पनासे उत्पन्न हुई सिसृक्षा कार्योंको करती है। और, ऐसा भी नहीं हो सकता कि एक प्राणीके उपभोग के योग्य शरीरादिकके निमित्तसे उस एक स्वभावसे ही ईश्वरकी इच्छा प्रकट हुई हो और वह नाना प्राणियोंके उपभोग वाले शरीरादिकके कार्योंको करनेमें समर्थ हो जाय, ऐसा होनेमें अतिप्रसङ्ग आयगा। ऐसे प्राणियोंके भाग्यसे तो यहाँ कोई सही रचना नहीं बन सकती।

सृष्टिकर्तृत्ववादियोंके महेश्वरके एकस्वभावत्वकी असिद्धि --यदि शङ्काकार यह कहे कि ईश्वरके उस ही प्रकारका एक स्वभाव है जो नाना प्राणियोंके भाग्य के निमित्तसे होता है। जिस स्वभावके द्वारा नाना प्राणियोंके उपभोगके योग्य शरीरादिक कार्योंका जो कि अनेक प्रकारके हैं उन सर्व कार्योंका निमित्त कारण वह

ईश्वरेच्छा हो जाती है। याने हुआ तो नाना प्राणियोंके अदृष्टके कारण वह एक स्वभाव और वह नाना प्राणियोंके कार्योंको कर देगा। उत्तरमें कहते हैं कि ऐसा माननेपर तो फिर कोई भी वस्तु अनेक स्वभाव वाली सिद्ध न होगी। एक ही स्वभावसे सारे कार्य बन बैठेंगे क्योंकि नाना प्रकारके कार्योंके करने रूप एक स्वभावसे ही विचित्र कार्योंकी उत्पत्ति मान ली गई है और ऐसा होनेपर घट आदिक पदार्थ रूप रस आदिक अनेक स्वभाव न होनेपर भी अनेक रूपादिक ज्ञान कार्योंको कर बैठे। अनेक स्वभावोंके किसी भी पदार्थमें माननेकी आवश्यकता क्या रही? जब ईश्वरके एक स्वभावसे ही नाना विभिन्न कार्य बन बैठते हैं तब सभी जगह ये इसीका प्रयोग करने लगे। घड़ामें रूप, रस, गंध आदिक अनेक स्वभाव हैं और प्रत्येक स्वभावसे ही उन उनका ज्ञान होता है, ऐसा माननेकी क्या आवश्यकता है? फिर तो एक पदार्थ ही अनेक ज्ञानरूप कार्यको कर बैठे। घट आदिक पदार्थोंके सम्बन्धमें भी ऐसा कहा जा सकता है कि उनमें भी कोई ऐसा ही एक स्वभाव है जिस स्वभावके द्वारा चक्षु आदिक अनेक सामग्रियोंके सन्निधान होनेसे वे एक स्वभाव वाला पदार्थ ही रूप रस आदिक अनेक ज्ञानोंको उत्पन्न करनेमें कारण हो जाता है, तब फिर पदार्थोंमें नाना स्वभावों की सिद्धि कैसे की जा सकती है? क्योंकि अब तो पदार्थ एक रूप मानकर भी, पदार्थोंमें एक स्वभाव मानकर भी उसके बारेमें नाना प्रकारके ज्ञान मान लिए गए हैं, उसका कोई विरोध भी नहीं हुआ। इसी तरह गुण कर्म आदिक अनेक जो ज्ञान विशेष होते हैं उनमें उत्पन्न करने वाला बस एक स्वभावसे युक्त कोई एक द्रव्य पदार्थ है, फिर ६ पदार्थ माननेकी भी क्या जरूरत है? ज्ञानके द्वारा ही तो पदार्थके अस्तित्वकी व्यवस्था की जाती है। अब कितने ही ज्ञान होते रहें तो भी एक स्वभाव वाले पदार्थ हैं, ऐसा मान लिया गया है। तो अनेक द्रव्य गुण कर्मादिक पदार्थ माननेकी भी आवश्यकता नहीं है। यदि कहो कि ज्ञान विशेष आदिक कार्योंके भेदसे द्रव्य गुण आदिक पदार्थ अनेक मान लिए जाते हैं, यह गुण है, ऐसा ज्ञान जिसके कारण हुआ वह गुण है, वह अलग पदार्थ है। यह द्रव्य है यह बोध जिसके कारण हुआ वह अलग पदार्थ है। तो यों ज्ञान विशेषोंके बलसे अनेक पदार्थ मान लिए जायेंगे। जब ये शंकाकार एक साथ अनेक जीवोंके उपभोगमें आने वाले कार्य ईश्वरका बताते हैं तो महेश्वरकी इच्छा भी नाना स्वभाव वाली क्यों नहीं मान ली जाती? तो ईश्वर एक स्वभाव वाला है, ऐसा कहना उनका असङ्गत हो जायगा।

नाना सहकारी पदार्थोंको ईश्वरके नाना स्वभाव मानकर शंकाकार का इष्ट सिद्धिका प्रयत्न—शङ्काकार कहता है कि ईश्वरकी इच्छामें जो नाना सहकारी पदार्थ हैं वे ही सहकारी पदार्थ नाना स्वभाव कहलाते हैं क्योंकि उन सहकारी कारणोंको छोड़कर पदार्थोंके नाना प्रकारसे नाना स्वभाव नहीं बन सकते। ईश्वर तो मूलमें एक स्वभाव ही है, किन्तु उस ईश्वरकी इच्छाके जो नाना सहकारी

कारण हैं वे ही नाना स्वभाव कहलाते हैं। इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि यदि नाना सहकारी ही ईश्वरके नाना स्वभाव कहलाये तो स्वभाव और स्वभाववानमें फिर भेद एकान्त हो गया। सहकारी पदार्थ तो अत्यन्त भिन्न पड़े हुए हैं। और ईश्वर जुदा पदार्थ है और ईश्वरका स्वभाव मान लिया उन नाना सहकारियोंको तो यों तो स्वभाव और स्वभाववानमें भेद सिद्ध हो गया तो जिसमें भेद होता है वह स्वभाव और स्वभाववान कहला नहीं सकता। जैसे हिमालय पर्वत, बिन्ध्याचल पर्वत ये दो तो भिन्न भिन्न जगह हैं। जब ये भिन्न-भिन्न है तो कभी स्वभाव स्वभाववान तो नहीं कहला सकता। तो इसी तरह नाना सहकारी पदार्थ तो स्वभाव मान लिया और ईश्वरको स्वभाववान मानना यह तो बिल्कुल अलग वस्तु है, वह एक कैसे कहा जा सकता है? शङ्काकार कहता है कि हम प्रत्यासत्ति विशेषसे याने कुछ विशेष निकटता है, इस सम्बन्धके कारण स्वभाव और स्वभाववान अभिन्न बन जायगा। यद्यपि नाना सहकारी पदार्थ जुदे हैं और ईश्वर जुदा है, लेकिन उन नाना सहकारियोंका ईश्वरके साथ कार्यके प्रति ऐसा निकट सम्बन्ध है कि जिस निकट सम्बन्धके कारण स्वभाव स्वभाववानमें विरोध न आयगा। तब उसके उत्तरमें शङ्काकारसे पूछा जा रहा है कि वह प्रत्यासत्ति विशेष क्या है जिसके कारण स्वभाव स्वभाववानमें अर्थात् ईश्वर और नाना सहकारी पदार्थ इनको स्वभाव स्वभाववान सिद्ध करनेमें विरोध नहीं आता? इसके जवाबमें शङ्काकार कहता है कि सुनो! वह सम्बन्ध विशेष क्या है? उसे बतलाते हैं—महेश्वरकी इच्छाके जो सहकारी कारण हैं, जिसे हम नाना स्वभाव बतला रहे हैं वे तीन प्रकारके कारण हैं—(१) समवायी कारण (२) असमवायी कारण और (३) निमित्त कारण। समवायी सहकारी पदार्थोंका जो समवाय है वह समवायी कारण कहलाता है। समवायी कारणरूप सहकारी कारण है उसमें तो महेश्वरकी इच्छाके साथ समवाय सम्बन्ध है, क्योंकि महेश्वरेच्छा गुण है, महेश्वर गुणी है और गुण गुणीमें समवाय सम्बन्ध माना ही गया है। तो समवायीकारण हुई महेश्वरकी इच्छा और जो असमवायी कारण हैं, जो कि सहकारी है उनका महेश्वरके साथ कार्यैकार्थ समवाय है और कार्यकारणैकार्थ समवाय सम्बन्ध है। कार्यके साथ एक ही अर्थमें समवाय होनेका नाम कार्यैकार्थ समवाय है। जैसे घट कार्य है तो उस घट कार्यके साथ अनेक कपालोंका जो संयोग है उस अनेक कपालोंमें समवाय है। यह कहलाया कार्यैकार्थ समवाय। कार्यके साथ एक पदार्थमें समवाय होना अथवा जैसे कपड़ा कार्य है उस कपड़ा कार्यके साथ तंतु संयोगका तंतुवोंमें समवाय है। इसी तरह कार्यके साथ सहकारी कारणोंका उस एक पदार्थ ईश्वरमें समवाय है। कार्यकारणैकार्थ समवायका अर्थ है कि कार्यके कारणके साथ एक पदार्थमें समवाय होना। जैसे कार्य तो है कपड़ा उसका कारण है कपड़ा ही, उसके साथ तंतुरूपका तंतुवोंमें समवाय है। तो यों समवाय कारणरूप सहकारी कारणका भी सम्बन्ध है। निमित्त कारण रूप जो सहकारी कारण हैं उनका किस तरह सम्बन्ध है महेश्वरके साथ सो सुनो!

उन निमित्त कारणोंका ईश्वरके साथ कार्यकी उत्पत्तिमें निमित्त कारणोंके दो तरह की अपेक्षा रूप सम्बन्ध है— एक तो कर्तृसमवायिनी अर्थात् कर्तामें समवाय सम्बन्धसे रहने वाली अपेक्षा और दूसरा है कर्मसमवायिनी। अर्थात् कर्ममें समवाय सम्बन्धसे रहने वाली अपेक्षा और इसी कारण महेश्वरेच्छा और सहकारी कारणोंमें भेद होता हुआ भी उक्त सम्बन्धके कारण स्वभाव और स्वभाववानका व्यवहार बन जाता है। इस तरह शङ्काकारकी ओरसे नाना सहकारी कारणोंका स्वभाव बताना और उनका महेश्वरके साथ निकट सम्बन्ध बताना और ऐसे कथन द्वारा महेश्वरको एक स्वभाव मानकर प्रसङ्गवश नाना स्वभावकी सिद्धि करना कहा जा रहा है।

नाना सहकारी पदार्थोंको ईश्वरके नाना स्वभाव मानकर भी शङ्काकारकी इष्टसिद्धिका अभाव—उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि सहकारी कारणोंका नाना स्वभाव मानना और उनका निकट सम्बन्ध बताना ऐसी प्रक्रियासे तो ईश्वर, दिशा, काल, आकाश आदिक भी सभी कार्योंके स्वभाव बन जायेंगे, क्योंकि ईश्वर, दिशा, काल आकाश आदिक सभी कार्योंकी उत्पत्तिमें ये सभी निमित्त कारण पड़ते हैं सो ये सभी पदार्थ सभी पदार्थोंके स्वभाव बन जायेंगे। इसके अतिरिक्त समस्त प्राणियोंका भाग्य और शरीरादिक कार्योंके समस्त समवायी कारण ये सभीके सभी महेश्वरके स्वभाव हो जायेंगे, क्योंकि अब तो यह प्रतिज्ञा कर रहे हो कि महेश्वर कार्यके सहकारी समस्त कारण महेश्वरके स्वभाव कहलाते हैं, तो सब वे कारण शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें महेश्वरेच्छाके सहकारी कारण हो गए। तो यों तो सब अव्यवस्था हो जायगी। सभी जगह सभी पदार्थ उत्पन्न हो जाने चाहियें, क्योंकि अब तो नाना स्वभाव वाला एक ईश्वर तत्त्व ही सिद्ध हुआ। विभिन्न स्वभाव को रखे हुए विभिन्न पदार्थ देखे जा रहे हैं तो वे कोई भी न बन सकेंगे और इस स्थितिमें वेदान्तसम्मत परम ब्रह्मसे और वैशेषिक नैयायिकों द्वारा सम्मत ईश्वरमें अन्तर क्या रहेगा? क्योंकि वेदान्ती भी नाना स्वभावोंसे युक्त केवल परम ब्रह्मकी सिद्धि करता है और यहाँ भी नाना स्वभावोंसे युक्त एक ईश्वरकी सिद्धि की है और जितने भी पदार्थ हैं वे सबके सब ईश्वरके स्वभाव हो गए तो अब ईश्वरके सिवाय विश्वमें और रहा ही क्या?

पदार्थान्तरोंके स्वभावसे एक स्वभाव ईश्वरके नाना स्वभाव कल्पित होनेसे आपन्न ब्रह्म व ईश्वरमें साम्यके निराकरणका शङ्काकार द्वारा निष्फल प्रयास—अब यहाँ वैशेषिक मतानुयायी कहते हैं कि वेदान्तियोंके यहाँ तो ब्रह्मके अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ माना ही नहीं गया है। तब उनका एक परम ब्रह्म नाना स्वभावोंसे युक्त कैसे हो सकता है? हमारे यहां तो सम्बन्धविशेषसे सम्बद्ध जितने भी पदार्थ हैं उनको स्वभाव माना गया है। महेश्वरका सृष्टिकार्यके प्रसङ्गमें जितने

पदार्थोंका सम्बन्ध होता है, जितने सहकारी कारण आते हैं वे सब ईश्वरके स्वभाव कहे गए हैं। शङ्काकारके इस प्रतिवादका समाधान करते हैं कि वेदान्तियोंके ब्रह्मको नाना स्वभावसे युक्त न मानना और अपने महेश्वरका अन्य पदार्थोंके कारण नाना स्वभाव मानना यह पक्ष युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि पदार्थान्तरको आप किसी एकके स्वभावरूप मानेंगे तो पदार्थान्तर नाना ही न रह सकेंगे। सारे जगतके पदार्थ एक ईश्वरके स्वभावरूप नाना बन बैठें तो अब वे पदार्थ ही क्या रहे? वैशेषिक कहते हैं कि अनेक सम्बन्ध विशेषरूप जो भी नाना स्वभाव हैं उनसे उनका स्वभाव भिन्न है। तो इसपर समाधान करते हुए आपत्ति बताते हैं कि तब तो वह सम्बन्ध विशेषरूप स्वभाव भी स्वभाववानसे भिन्न रहे तो उसमें अन्य सम्बन्ध विशेष प्रत्यासत्ति बतानी होगी, फिर उसके लिए अन्य प्रत्यासत्ति बतानी होगी। इस तरह अनवस्थाका दोष आता है। बहुत अधिक अधिक संतति बतानेपर भी स्वभाववानके स्वभावका अन्य स्वभावसे निरपेक्षता बतानेपर पहिले ही पहिले पदार्थोंके स्वभाव ही स्वभावान्तरसे निरपेक्ष क्यों न बन जायें? याने स्वभाववान पदार्थोंमें स्वभाव अन्य स्वभावकी अपेक्षासे आता है, यह वैशेषिकोंसे कहने आये हैं। तो जिस अन्य स्वभावकी अपेक्षासे आये हैं उसका स्वभाव अन्य स्वभावकी अपेक्षासे बनेगा। इस तरह कहीं भी बात खतम न हो पायगी। और किसी जगह बात खतम करना चाहें कि वहाँ अन्यकी अपेक्षा नहीं रहती तो मूलमें ही पदार्थमें ही अन्य स्वभावकी अपेक्षा क्यों बताते हो? और तब सभी पदार्थ सभी स्वभाव बन बैठेंगे। तो यों स्वभाव संकरका दोष आयगा। एकके स्वभावमें दूसरेके स्वभावकी प्राप्ति होनेका नाम स्वभाव संकर है। उस संकर दोषको यदि दूर करना चाहते हो तो स्वभाव और स्वभाववानमें भेद एकान्त न मानना चाहिए।

प्राणियोंके अदृष्टके कारण ईश्वरकी सिसृक्षाकी सिद्धि न होनेसे महेश्वरका श्रमसे छुटकारा— यहाँ चर्चा यह चल रही थी कि ईश्वर तो एक हैं, वह नाना कार्य कैसे करता है? तो वैशेषिकोंने बताया कि उसके नाना स्वभाव पड़े हैं और वे नाना स्वभाव हैं सहकारी कारणरूप तब तो यह आपत्ति आयी कि सहकारी कारण तो अत्यन्त भिन्न हैं। महेश्वर भिन्न है। महेश्वरके स्वभाव सहकारी कारण कैसे हो सकते हैं? तब वैशेषिकोंने कहा कि ऐसा निकट सम्बन्ध है जिसके कारण वे नाना पदार्थ महेश्वरके स्वभाव हो जाते हैं। इसपर आपत्ति आयी एक अद्वैतपनेकी। उसके निवारणके लिए जो कुछ रास्ता निकाला है उनमें बहुत दोष प्रसङ्ग होता है तब स्वभाव और स्वभाववानमें भेद एकान्त न मानना चाहिए, और यदि महेश्वर और उन नाना स्वभावोंका अभेद एकान्त मानते हो तब स्वभाववान ईश्वरमें समस्त स्वभावोंका सर्वात्मकरूपसे प्रवेश हो गया। तब चाहे एक ईश्वर कहलो चाहे एक तत्त्व परम ब्रह्म कहलो, इसमें कोई अन्तर नहीं रहता है। तो दूसरा अनिष्ट प्रसङ्ग भी न

चाहने वाले वैशेषिक इस बातके लिए विवश हो जायेंगे कि स्वभाव और स्वभाववान में कथञ्चित् तादात्म्य होता है और ऐसा माननेपर कि ईश्वरकी इच्छाका नाना स्वभावोंके साथ कथञ्चित् तादात्म्य है तो उन्होंने ईश्वरको अनेकान्तात्मक मान लिया। तो अब वहाँ ईश्वरेच्छा अनेकान्तात्मक बन गयी। यदि वह ईश्वरेच्छाको अनेकान्तात्मक नहीं मानना चाहते तब सर्वथा एक स्वभाव वाली ईश्वरेच्छा माननी होगी। अर्थात् ईश्वर एक स्वभाव है और इच्छा भी एक रूप है। अब उसीके सम्बन्धमें बहुत पहिलेसे प्रकरण चला आ रहा है कि वह ईश्वरेच्छा एक एक प्राणीके अदृष्टसे अभिव्यक्त होती है या अनेक प्राणियोंके अदृष्टसे अभिव्यक्त होती है। अनेक प्राणियोंके अदृष्टसे प्रकट हुई महेश्वरेच्छा शरीरादिक कार्योंको करती है, इतना तो निराकरण पहिले कर दिया। अब प्रसङ्ग चल रहा है कि एक प्राणीके भाग्य द्वारा प्रकट हुई ईश्वरेच्छा शरीरादिक कार्योंको करती है तो एक प्राणीके भाग्य द्वारा प्रकट हुई महेश्वरेच्छा एक ही प्राणीके उपभोगके योग्य शरीरादिक कार्योंको कर सकेगी। तब एक साथ अनेक शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। तब प्राणियोंके भाग्यके कारण ईश्वरेच्छा प्रकट होती है, यह बात सिद्ध नहीं हो सकती और इस ही निराकरणके साथ यह भी निराकृत हो जाता है कि अन्य पदार्थोंके निमित्तसे हुई भी ईश्वरेच्छाकी अभिव्यक्ति असिद्ध है।

कर्म अभावमें इच्छा व प्रयत्नका भी अभाव होनेसे ईशके सृष्टिकर्तृत्व की असिद्धि—अब वैशेषिक मतानुयायी कहते हैं कि शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्त महेश्वरकी इच्छा है और वह अप्रकट ही होती हुई निमित्त हो जाती है। हाँ केवल कर्म निमित्तक जो इच्छा हुई वह शरीरसे अभियुक्त होकर ही निमित्तरूप बनता है, लेकिन महेश्वरकी इच्छामें तो कर्म निमित्त हैं ही नहीं, क्योंकि महेश्वर सदाकाल कर्मोंसे अछूता रहता है, इस कारण अप्रकट महेश्वरकी इच्छा ही शरीरादिक कार्योंके निर्माणमें निमित्त है। इसके उत्तरमें कहते हैं कि यह बिल्कुल असम्बद्ध बात कही जा रही है। कोई भी इच्छा ऐसी नहीं है कि जो सर्व प्रकार अप्रकट हो और किसी कार्यमें क्रियाका कारण बन जाय। जैसे कि संसारी जीवोंकी इच्छा। किसीके भी देख लो कुम्हार हो, जुलाहा हो, उसकी इच्छा किसी न किसी अंशमें प्रकट है तभी कार्य आगे चलता है। कर्मका अभाव होनेपर इच्छाकी तो सर्वथा अनुत्पत्ति है। प्रथम तो यही विरुद्ध बात है कि ईश्वरके कर्म नहीं माना जा रहा और इच्छा मानी जा रही है। कर्मके बिना इच्छा कभी हो ही नहीं सकती, इसकी सिद्धि अनुमान प्रयोगसे भी है कि यह महेश्वर विवादापन्न पुरुष विशेष इच्छावान नहीं है, क्योंकि कर्म रहित होनेसे। जो जो कर्मरहित होता हो वह इच्छावान नहीं होता। जैसे मुक्त आत्मा, और कर्मरहित यह महेश्वर भी है तो यह महेश्वर इच्छावान नहीं हो सकता। तो ईश्वरके इच्छा ही सम्भव नहीं हो सकती। और जब ईश्वरके इच्छा सम्भव नहीं

है तो कोई प्रयत्न भी नहीं हो सकता क्योंकि प्रयत्न इच्छा पूर्वक ही हुआ करता है। इच्छाके अभाव होनेपर प्रयत्नका अभाव होता है। तो बुद्धि इच्छा प्रयत्न मात्रसे ईश्वर काय आदिक कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्त है यह कथन सिद्ध नहीं होता है, और उसमें कुम्हार आदिकका दृष्टान्त देना भी उचित नहीं बनता। इस तरह यह सिद्ध है कि महेश्वर अनादिसे कर्मरहित नहीं है और वह सर्वज्ञ होता है तो कर्मरूपी पहाड़के भेदनेसे ही सर्वज्ञ होता है और कर्मरहित होकर जो शुद्ध सर्वज्ञ है वह ही मोक्षमार्गका प्रणेता होता है।

सृष्टिकर्ता महेश्वरके प्रकृष्ट ज्ञान, सिसृक्षा व प्रयत्नकी सिद्धिका शंकाकार द्वारा प्रयास– शङ्काकार कहता है कि विवादापन्न पुरुष विशेष उत्कृष्ट ज्ञानसे सहित है क्योंकि वह सदा ऐश्वर्यसे युक्त है। जो प्रकृष्ट ज्ञानयोगी नहीं है वह सदा ऐश्वर्ययोगी भी नहीं होता, जैसे संसारी जीव, ये प्रकृष्ट ज्ञानयोगी नहीं है तो ये सदा ऐश्वर्ययोगी भी नहीं हैं इसी तरह मुक्तात्मा, ये भी प्रकृष्ट ज्ञानयोगी नहीं हैं। यद्यपि ये भी सर्वज्ञ हैं, पर जैसा प्रकृष्टज्ञान महेश्वरके है ऐसा प्रकृष्टज्ञान इन मुक्त आत्मावोंके नहीं होता। तो ये भी सदा ऐश्वर्ययोगी नहीं हैं। और, सदा ऐश्वर्ययोगी भगवान है। महेश्वर अनादिसे सदा ऐश्वर्ययुक्त है। इस कारणसे वह प्रकृष्ट ज्ञान-योगी सिद्ध होता है। ऐसे ये महेश्वर प्राणियोंके भाग्य सम्पत्तिके लिए शरीरादिक कार्योंके उत्पन्न करनेमें सृष्टि करनेके इच्छावान होते हैं, क्योंकि प्रकृष्ट ज्ञानयोगी होनेसे। पूर्व अनुमानमें तो प्रकृष्ट ज्ञानयोगी सिद्ध किया था और उसमें साधन बताया था ऐश्वर्ययोगी होना। अब इस द्वितीय अनुमानमें जो उसके फलित अर्थरूपसे सम्बन्धित है, इस अनुमानमें सिसृक्षावान है प्रभु, यह सिद्ध किया जा रहा है और साधन कहा जा रही है प्रकृष्ट ज्ञानयोगी होनेसे। उसकी व्याप्ति व्यतिरेक रूप घटित होती है। जो सिसृक्षावान् नहीं होता वह प्रकृष्ट ज्ञानयोगी भी नहीं होता। जैसे संसारी और मुक्त आत्मा। ये सृष्टि करनेकी इच्छा नहीं कर पाते। तो ये प्रकृष्ट ज्ञानयोगी भी नहीं हैं। और, प्रकृष्ट ज्ञानयोगी ये महेश्वर हैं, इस कारणसे वे सिसृक्षावान हैं। इस तरह भगवान महेश्वरके समस्त जगतकी सृष्टि करनेकी इच्छा होती है, यह बात सिद्ध हो गयी। इस द्वितीय अनुमानमें प्रकृष्ट ज्ञानयोगी हेतु देकर सिसृक्षापन सिद्ध किया। अब इसीसे सम्बन्धित तीसरा अनुमान देखिये ! कि यह महेश्वर प्रयत्नवान है, क्योंकि सिसृक्षावान होनेसे सिसृक्षावान होनेसे। यह साधन है और प्रयत्नवान सिद्ध करना यह साध्य है। इसमें अन्वय व्याप्ति भी घटित होती है। जो जहाँ कुछ रचनेकी इच्छा वाला होता है वह वहाँ प्रयत्नवाला देखा गया है। जैसे घड़ेके उत्पन्न करनेमें कुम्हार उसकी रचना करनेकी इच्छा वाला है तो उस घड़ेका रचने वाला प्रयत्नवान भी देखा गया है। अब प्रकृतमें घटाओ भगवान महेश्वर शरीर इंद्रिय आदिककी रचना करनेमें वे इच्छावान हैं। इससे सिद्ध हुआ ना कि महेश्वर प्रयत्नवान भी होते हैं। इस तरह

इन तीन अनुमानोंके द्वारा क्रमशः ज्ञानवान इच्छावान और प्रयत्नवान महेश्वर है, यह सिद्ध किया गया। अब इस सिद्धिके बाद यह भी निरख लीजिए कि जो निष्कर्म है, कर्मरहित है, सदाशिव है वह यद्यपि शरीररहित है तो भी शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें कारण निर्बाध सिद्ध है। तो जब शरीररहित होनेपर भी सदाशिव शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण बन गया तो वही महेश्वर मोक्षमार्गके प्रणयन में भी निमित्त कारण सिद्ध हो जायगा। फिर यह कहना कि जो कर्मरूपी पहाड़ोंको भेदने वाला है, जो मोक्षमार्गका प्रणेता है वह यह आप्त है। अरे वह तो मोक्षमार्गका प्रणेता महेश्वर ही हो सकेगा। और वह कर्मरूपी पर्वतका भेदनहार नहीं है। वह तो अनादिसे ही कर्मरहित है। इस तरह शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें सदाशिव निमित्त कारण रहे और मोक्षमार्गके प्रणयनमें भी निमित्त कारण रहे, इसमें किसी भी प्रकारकी बाधा नहीं आती।

निष्कर्म होनेसे महेश्वरके मोक्षमार्गप्रणेतृत्व व सृष्टिकर्तृत्वकी असम्भवता—अब उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि शङ्काकारका जो यह कथन है कि महेश्वर कर्मरहित है और मोक्षमार्गका प्रणेता है, यह कथन असङ्गत है। जो सर्वथा निष्कर्म होगा उसके ऐश्वर्यका विरोध है। लोकमें मान्यता हो, जगह-जगह पूज्यता हो, किसी कार्यके करनेमें पूर्ण समर्थ हो, प्रभु बने, ऐसी बात सर्वथा कर्मरहित किसी आत्माके सिद्ध नहीं हो सकती। उसकी सिद्धिके लिए यह अनुमान प्रयोग है कि विवादापन्न पुरुष ऐश्वर्य योगी नहीं है निष्कर्म होनेसे। जिस महेश्वरको यहाँ ऐश्वर्ययोगी सिद्ध किया जा रहा था उसकी बात चल रही है कि वह विवादापन्न पुरुष ऐश्वर्य योगी नहीं है निष्कर्म होनेसे। जो जो निष्कर्म होता है वह वह ऐश्वर्य योगी नहीं होता जैसे कि मुक्त आत्मा। मुक्त आत्माओंके अब कर्म तो न रहा। तो वह ऐश्वर्यसे भी सहित नहीं है। और, यह महेश्वर निष्कर्मा है ही तब यह ऐश्वर्य योगी नहीं हो सकता। जब यह महेश्वर ऐश्वर्य योगी सिद्ध नहीं होता तो प्रकृष्ट ज्ञानयोगी सिद्ध नहीं कर सकते। जब प्रकृष्ट ज्ञानयोगी न हो तो सिसृक्षावान् नहीं बता सकते। जब सिसृक्षावान न रहा तो प्रलयवान भी न रहा। और, यों शङ्काकारके कथनानुसार जब ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न तीनोंसे रहित हो गया और इस कारण शरीरादिक कार्योंका निमित्त कारण न रहा तो मोक्षमार्गका प्रणेता भी न रहेगा।

योगज धर्मसहित माननेपर महेश्वरके अमुक्तताका प्रसङ्ग—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि पापकर्मरूप मलसे ही वह अछूता है महेश्वर तथा अनादिसे ही योगिजन्य धर्मसे सहित है इस कारण ईश्वरके निष्कर्मपन असिद्ध है याने किसी दृष्टि से ईश्वरके निष्कर्मता नहीं है। वह अनादि कालसे योगज धर्मसे युक्त तो हो रहा है। और, जब किसी दृष्टिसे निष्कर्म सिद्ध नहीं होता तो ऐश्वर्य योगी सिद्ध हो जायगा। जैसे कि समाधानकर्ता कह रहा है तो लो यों सही। अब ईश्वर क्रमशः इच्छावान

प्रयत्नवान बनकर और यह शरीरादिक कार्योंका निमित्त कारण हो जायगा। इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि यदि किसी दृष्टिसे इसे निष्कर्मा मानते हो तब यह महेश्वर सदा मुक्त न कहलाया, क्योंकि मुक्तिकी प्रसिद्धि धर्म और अधर्मके क्षयसे ही होती है। अधर्म तो संसारियोंमें बहुत पाया जाता। धर्म योगियोंमें होता और यह अनादि योगज धर्म महेश्वरमें भी माने, तो धर्मका जब तक क्षय नहीं होता तब तक मुक्ति प्रसिद्ध नहीं हो सकती। शङ्काकार कहता है कि भले ही महेश्वरके अनादि योगज धर्मका सम्बन्ध है तो सदाकाल तो क्लेश कर्म विपाक अभिप्राय इन कलेशोंसे दूर है, इस कारणसे उसके जीवन मुक्तिका कोई विरोध नहीं आता। जैसे कि वैराग्य और ऐश्वर्य व ज्ञानका सम्बन्ध होनेपर भी जीवन मुक्तिका कोई विरोध नहीं है। जो आत्मा जीवनमुक्त हैं उनके वैराग्य है, ऐश्वर्य है, ज्ञान है, इतने पर भी उनके जीवन-मुक्तिमें विरोध नहीं है। इसी तरह अनादियोगज धर्मका सम्बन्ध है महेश्वरके तिसपर भी सदाकाल क्लेश आदिकसे रहित होनेसे उनमें जीवनमुक्ति सिद्ध होती ही है। इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं तब तो महेश्वरके परमार्थतः मुक्त और अमुक्त स्वभावपना माना जायगा। अनादि योगज धर्मका सम्बन्ध है इस कारण तो अमुक्त है और वहाँ कर्म विपाक आदिकसे रहित है, इस कारण मुक्त है, और इस तरह महेश्वरकी मुक्ता-त्मकरूपता माननेपर अनेकान्त स्थिति दुर्निवार हो जायगी, इस अनेकान्त पद्धति का निवारण ही नहीं किया जा सकेगा। इस तरह अनादि बुद्धिमन निमित्तत्वके सम्बन्धसे ईश्वरको अनादि बताने वाला और धर्म ज्ञान वैराग्यके सम्बन्धसे चेतन व सदाकाल क्लेश कर्म विपाक आदिकसे अछूता होनेसे सदा मुक्तिपना बताने वाला, सदा ईश्वरपना बताने वाला यह शङ्काकार अपने एकान्तपर अपने निश्चयपर अडिग न रह सकेगा, क्योंकि यहाँ कथंचित् मुक्तिपना और कथंचित् अमुक्तिपना प्रसिद्ध हो गया। तब अनेकान्तात्मकताके दोषको हटानेकी इच्छा करने वाले ये शङ्काकार सर्वथा मुक्त ही ईश्वरको बतायें। सो अनादि योगज धर्मका सम्बन्ध बताने वाले ईश्वरके मुक्तपना सिद्ध न होगा। तो इसको अपनी दोषापत्ति दूर करनेके लिए सदा ही सर्वथा मुक्त बताना चाहिये। तो इस तरह तो उन्हें सर्वथा निष्कर्म ही स्वीकार करना चाहिए। जैसे कि वे पहिलेसे कहते आये हैं उसी प्रकार यह सर्वथा निष्कर्मपना मान लेना चाहिए। उसमें किसी दृष्टिसे निष्कर्मतासे हटे हुए न बताना चाहिए।

निष्कर्मा योगजधर्मा महेश्वरके प्रकृष्टज्ञान, सिसृक्षा व प्रयत्नकी असिद्धि—ईश्वरमें जब निष्कर्मता मानना जरूरी हो गया तो हमारा साधन असिद्ध न रहा। हमारा अनुमान प्रयोग था कि विवादापन्न पुरुष ऐश्वर्य योगी नहीं होता है निष्कर्मा होनेसे। और यह हेतु अनेकान्तिक भी न रहा, क्योंकि विपक्षमें यह हेतु पाया नहीं जाता। विपक्ष हो ऐश्वर्य योगी कोई पुरुष तो ऐश्वर्य योगी देवेन्द्रादिकमें निष्क-र्मता है नहीं, इसलिए अनेकान्तिक दोष भी नहीं आता और इसी कारण यह हेतु

विरुद्ध भी नहीं है क्योंकि इस साधनका प्रमाणसे कोई बाधक नहीं बन पाता प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा, हम लोगोंके द्वारा कोई भी पुरुष जो ऐश्वर्य योगी हो और निष्कर्मा पाया जाय ऐसा नहीं दीख रहा है जिससे कि पक्ष प्रत्यक्ष बाधित हो जाय। पक्ष में बाधा अनुमानसे भी नहीं आती क्योंकि सिद्ध अनुमान जो व्यापकानुपलम्भसे बाधित पक्ष वाला हो उसमें ही कालात्ययापदिष्ट दोष सिद्ध किया जाता है। आगमसे भी व्यापकानुपलम्भ सिद्ध नहीं होता अथवा आगमसे हमारे पक्षमें बाधा नहीं आती, क्योंकि यह बतायें कि वह आगम युक्तिसे अनुगृहीत है या असमर्थित है ? यदि आगम युक्तिसे समर्थित नहीं है तो वह खुद प्रमाण न रहा, वह पक्षका कैसे बाधन करेगा ? और यदि अनुग्रहीत हो जाय तो भी पक्ष बाधामें आगमकी सम्भावना नहीं है। युक्ति ही कोई सम्भव नहीं है जिससे प्रमाणसे अबाधित होता हुआ पक्ष सिद्ध नहीं होता। हमारे अनुमानमें सत्प्रतिपक्षपना भी नहीं आता है, क्योंकि प्रतिपक्ष याने विरोधी अनुमान यहाँ पाया नहीं जाता है। इस तरह इस अनुमानसे जब ऐश्वर्ययोगी सिद्ध न होसका महेश्वर, तो उसकी इच्छा और प्रयत्न भी सिद्ध न हो सका। जैसे कि वहाँ धर्म अधर्म नहीं है, इच्छा प्रयत्न भी नहीं है, ऐश्वर्य योग भी नहीं है। तो जैसे निष्कर्मपना ऐश्वर्यरहितपनेको सिद्ध करता है इसी प्रकार ऐश्वर्यरहितपना इच्छा और प्रयत्नसे रहितपनेको सिद्ध करता है, क्योंकि इच्छा और प्रयत्नका होना ऐश्वर्यके साथ ही व्याप्त है। जिसके ऐश्वर्य नही उसका कुछ प्रयत्न भी सम्भव नहीं हो सकता। कोई भी इच्छावान और प्रयत्नवान और ऐश्वर्यवान इन्द्रादिकमें भी निष्कर्मता नहीं देखी गई है। तो जो निष्कर्म हो गया वह न प्रकृत प्रकृष्ट ज्ञानवान हो सकता, न इच्छावान हो सकता, न प्रयत्नवान हो सकता, न वहाँ कोई ऐश्वर्य सम्भव हो सकता। हाँ निष्कर्म हो करके भी किसीके ज्ञानशक्ति बनी रहे, उसमें कोई विरोध नहीं आता। तब चैतन्य आत्मा बताने वाले किन्हीं पुरुषोंने वैशेषिक सिद्धान्त मानने वाले संतोंने मुक्त आत्मामें भी चेतना बताया है और कहा है कि चेतना ज्ञानशक्ति ही रहती है। उस चेतनासे भिन्न ज्ञानशक्ति कुछ नहीं होती और ज्ञानशक्तिसे भिन्न चेतना कुछ नहीं है। इसके लिए योगदर्शनमें सूत्र भी कहा गया है कि—

"चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चाऽनन्ता च"

अर्थात् चैतन्यशक्ति अपरिणामी है, उसका परिणाम नहीं होता। अप्रतिसंक्रमता है, उसके विषयका संचरण परिवर्तन नहीं होता और वह बुद्धि द्वारा ज्ञात विषय को अनुभव करने वाली है, सिद्ध है, सुख दुःख और मोहात्मक स्थितियोंसे रहित है और अनन्त है, ऐसा स्वयंके लिए कहा है। जिससे सिद्ध है कि ज्ञानशक्तिका होना चेतनासे सम्बन्धित है। तो इस तरह महेश्वर जो कर्मसे अछूता हो, शरीर रहित है तो भी उसकी ज्ञानशक्ति मुक्तात्माकी तरह प्रसिद्ध ही है, और जब ज्ञानशक्ति उनकी प्रसिद्ध हो गयी तब—

ज्ञानशक्त्यैव निःशेषकार्योत्पत्तौ प्रभुः किल ।
सदेश्वर इति ख्याने ऽनुमानमनिदर्शनम् ॥ १३ ॥

मात्र ज्ञानशक्तिसे ही कार्योत्पत्तिमें प्रभुताकी असंभवता—ज्ञानशक्तिके ही द्वारा प्रभु समस्त कार्योंको उत्पत्तिमें समर्थ हो जाय, इस तरहकी बात बतायें ? शङ्काकारको उसके अनुमानको सिद्ध करनेके लिए कोई उदाहरण नहीं मिल सकता। किसी भी कार्यकी उत्पत्तिमें केवल ज्ञानकी सामर्थ्यसे ही वह कार्यकारी बन जाय ऐसा कोई पुरुष नहीं देखा गया है तब उनका यह अनुमान करना कि विवादापन्न पुरुष ज्ञानशक्तिके ही द्वारा समस्त कार्योंको उत्पन्न करता है प्रभु होनेसे, यह अनुमान अयुक्त है, क्योंकि इस अनुमानमें कोई भी उदाहरण नहीं प्राप्त होता है। शङ्काकार कहता है कि इस अनुमानकी सिद्धि करनेके लिए अन्वयरूपसे कोई उदाहरण न मिले तो भी व्यतिरेक व्याप्तिका उदाहरण तो मिल सकता है, इस कारण इस अनुमानको उदाहरण रहित न बताना चाहिए। देखिये ! अनुमान यह है कि महेश्वर ज्ञानशक्तिसे ही कार्योंको उत्पन्न करता है प्रभु होनेसे। अब व्यतिरेक व्याप्ति बनावें कि जो ज्ञान-शक्तिसे ही कार्यको उत्पन्न नहीं करता वह प्रभु नहीं होता। जैसे संसारी कर्माधीन पुरुष, संसारी कर्माधीन जीव ज्ञानशक्तिसे ही कार्यको उत्पन्न नहीं कर पाते। दीखता ही है सब कुछ ऐसा। तो वह प्रभु भी नहीं है। इस व्यतिरेक व्याप्ति द्वारा उदाहरण तो सम्भव है ही, फिर यह अनुमान कैसे नहीं समीचीन बनेगा ? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि अन्वयका उदाहरण जब नहीं मिल रहा, साधर्म्यका, सदृशताका उदाहरण जब नहीं मिल रहा तो अन्वयका निर्णय तो नहीं होता और इसी कारण व्यतिरेकके निर्णयमें भी विरोध आता है। और इन्द्रादिक ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न विशेषोंके द्वारा अपने कार्योंको कर रहे हैं। तो देखो ! प्रभुत्व हेतुमें व्यभिचार भी आ गया ना। प्रभु तो इन्द्र भी हैं और वे ज्ञानशक्ति मात्रका कार्य नहीं कर पाते। इन्द्र मात्र ज्ञान शक्तिसे अपना कार्य नहीं करता और उसके इच्छा और प्रयत्न पाया जाता। तो देखो प्रभु है इन्द्र और ज्ञानशक्तिसे ही कार्य न कर सका। इन्द्रका प्रभुपना असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि प्रभुत्व सामान्य उनके पाया जाता है सब देवोंके वे प्रभु माने जाते हैं और उनमें स्वतन्त्रता पाई जाती है। तो प्रभु होकर भी वह ज्ञानशक्तिसे ही कार्य न कर सका। यों महेश्वर भी ज्ञानमात्र शक्तिसे कार्य न कर सकेगा।

मात्र ज्ञानशक्तिसे ही कार्योत्पादप्रभुताका उदाहरण बतानेका निष्फल प्रयास—शंकाकार कहता है कि स्याद्वादियोंने जो यह कहा है कि ईश्वर यदि समस्त कार्योंकी उत्पत्तिमें ज्ञानशक्तिके ही द्वारा समर्थ है तो इस प्रकारके कथनमें जो भी अनुमान बनाया जायगा उसका कोई उदाहरण न मिलेगा, सो यह कथन सङ्गत नहीं है। क्योंकि हमारे इस अनुमानमें उदाहरण मौजूद है। उसका प्रयोग हम यों करेंगे

कि जैसे इच्छाके बिना भी जिनेश्वर उपदेश करते हैं उसी प्रकार ईश्वर भी इच्छाके बिना ही ज्ञानशक्तिके द्वारा कार्योंको कर देगा। यों ईश्वर ज्ञानशक्तिके द्वारा ही समस्त कार्योंको उत्पन्न कर देता है, इस कथनमें अनुमान मिला स्याद्वादियोंका जिनेश्वर। इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि यह कथन युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि तीर्थंकर नामके धर्मविशेष होनेपर ही जिनेश्वर देव मार्गको उपदिष्ट करते हैं, परन्तु मात्र केवल ज्ञानसे ही उपदेश नहीं करते। तीर्थंकर जिनेश्वरकी जो दिव्य ध्वनि खिरती हैं उसमें कारण है तीर्थंकरत्व नामका धर्मविशेष। केवल ज्ञानसे ही जिनेश्वर उपदेश नहीं किया करते, यदि केवल ज्ञानसे उपदेशकी बात होती तो जिसके समस्त कर्म दूर हो गए ऐसे सिद्ध भगवानके भी केवल ज्ञान मौजूद है फिर उनकी वाणी क्यों नहीं निकलती ? कारण यह है कि सिद्ध भगवानके समस्त कर्म नष्ट होनेपर तीर्थंकर नामका भी धर्म विशेष न रहा, पुण्य प्रवृत्ति न रही, इसलिए वहाँ तत्वका उपदेश नहीं होता। तब यह बात सिद्ध हुई कि शंकाकारने जो यह कहा कि महेश्वरेच्छाके बिना भी और प्रयत्नके बिना भी केवल ज्ञानशक्तिके ही द्वारा मोक्षमार्गका प्रणयन और शरीर इंद्रिय आदिक कार्योंको कर लेगा। जैसे कि प्रतिवादियोंके यहाँ याने स्याद्वादियोंके द्वारा माने गए जिनेश्वरका ज्ञानशक्तिके ही द्वारा प्रवचन उपदेश करनेरूप कार्य नहीं बनता, किन्तु तीर्थंकरत्व नामक पुण्य प्रकृतिका उदय होनेपर ही जो कि दर्शन विशुद्धि आदिक भावनाओंके कारण तीर्थंकर प्रकृति बंधी थी उसका उदय होनेपर केवलज्ञान जिसके उत्पन्न हुआ है ऐसे जिनेश्वर भगवानके प्रवचन नामक तीर्थको करनेकी प्रसिद्धि हुई। तब ही जो जिसके समस्त कर्म प्रक्षीण होगए ऐसे सिद्ध भगवानके दिव्य ध्वनिकी प्रवृत्ति नहीं बन सकती। तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृतिका विनाश होनेपर केवलीके भी वचन प्रसिद्धि असम्भव है। तो यों धर्मविशेषसे युक्त उत्तम संहनन शरीर वाले केवली भगवान जिनेश्वर प्रवचनका कर्ता है याने तीर्थका करनेवाला होता है। पर ऐसी बात महेश्वरमें तो सम्भव नहीं है। इसलिए महेश्वर प्रयत्न इच्छाके बिना भी ज्ञानशक्तिसे कार्य करले, यह बात सम्भव नहीं है।

तथा धर्मविशेषोऽस्य योगश्च यदि शाश्वतः।
तदेश्वरस्य देहोऽस्तु योग्यन्तरवदुत्तमः ॥ १७ ॥

महेश्वरके धर्मविशेष और योग माननेपर सदेहत्व माननेकी अनिवार्यता—और, भी देखिये ! जिस महर्षि योगीके धर्मविशेष और योगविशेष प्रसिद्ध है उनका देह भी उत्तम होता है। जो योगी नहीं हैं, साधारणजन हैं उनका इन देहोंसे विशिष्ट देह प्रसिद्ध ही है, तो उसी प्रकार महेश्वरके भी देह उत्तम होना ही चाहिए क्योंकि उत्तम देह हुए बिना धर्मविशेष अथवा योगविशेष सम्भव नहीं हो सकता है। जैसे कि ऐश्वर्य न होनेसे वैराग्यका योग नहीं होता तो इस स्थितिमें अब वह ईश्वर

अज्ञ प्राणियोंकी तरह या मुक्त आत्माओंकी तरह जगतका निमित्त कारण कैसे हो सकता है ? जैसे कि संसारी अज्ञानी प्राणी इस जगतकी सृष्टिका निमित्त कारण नहीं हैं, तथा ये मुक्तात्मा जीव निष्कर्मा जगतके निमित्त कारण नहीं हैं उसी प्रकार ईश्वर भी जगतका निमित्त कारण सिद्ध नहीं हो सकता।

निग्रहानिग्रहौ देहं स्वं निर्मायान्यदेहिनाम्।
करोतीश्वर इत्येतन्न परीक्षाक्षमं वचः॥ १८॥

स्वदेहको रचकर अन्य देहियोंका निग्रह अनुग्रह करने वाले ईश की शंकाकार द्वारा मान्यता—अब यहाँ शङ्काकार योग अथवा वैशेषिक ईश्वरके अवतार जैसी बात चित्तमें लाकर शङ्का करते हैं, जिसका निराकरण किया जायगा। शङ्काकार कहता है कि ईश्वर अपने शरीरकी रचना करके अन्य प्राणियोंके निग्रह और अनुग्रहको करते हैं। ईश्वर शरीरका निर्माण करने वाला होता है, क्योंकि अन्य प्राणियोंके निग्रह अनुग्रहका करने वाला है। जो जो अन्य प्राणियोंके निग्रह और अनुग्रहको करता हुआ पाया जाता है वह वह स्व देहका निर्माण करने वाला याने अपने देह वाला जरूर देखा गया है। जैसे कि राजा दूसरे प्राणियोंका निग्रह आग्रह करता है तो उसका देह तो बना ही हुआ है। उसकी रचना जरूर है। यह महेश्वर भी अन्य प्राणियोंके निग्रह और अनुग्रह करता है इस कारण अपने देहका निर्माण करने वाला ईश्वर है यह बात अपने आप सिद्ध होती है। अनुग्रहका अर्थ है कुछ सुखके साधन देना कृपा करना। और, निग्रहका अर्थ है उसे क्लेश देना दंड देना। नाना सुख दुःख पा रहे हैं तो इस सुख दुःखका करने वाला ईश्वर तब ही बन पायगा जब वह अपने देहका निर्माण कर लेगा, तो इसपर यह आपत्ति मिट जायगी कि ईश्वर अशरीर हो कर सब शरीरोंको दूसरे जीवोंके शरीरको कैसे बना देता है ? यहाँ जब अपने देहको रचकर अन्य देहियोंके निग्रह अनुग्रहको करने वाला अपने आप सिद्ध हो जाता है। ये सब बातें अनुमान प्रयोगसे सिद्ध हो जाती हैं। किसी दुष्टका निग्रह करना और शिष्टका अनुग्रह करना ईश्वरका कार्य है क्योंकि वह प्रभु है, समर्थ है। जैसे इस लोकमें प्रसिद्ध जो प्रभु है, राजा आदिक है वह दुष्टका निग्रह और शिष्टका सज्जनका दयापात्र पुरुषोंका अनुग्रह करता है यहाँ कोई ऐसी आशङ्का न करे कि इस तरह तो नाना ईश्वरकी सिद्धि हो जायगी, क्योंकि राजा अनेक हैं अनेक अधिकारी हैं तो ये तो सब नाना ईश्वर बन गए। ये सब जीवोंका निग्रह कर रहे हैं। सो नाना ईश्वरोंकी यों सिद्धि नहीं होती, क्योंकि हैं तो लोकमें नाना प्रभु मगर वे सब एक महा प्रभुके आधीन ही देखे जाते है। इसको भी अनुमान प्रयोगसे सिद्धकर लो! विवादापन्न नाना प्रभु याने लोकमें दीखने वाले ये अनेक राजा महाराजा जो दूसरोंका निग्रह अनुग्रह कर रहे हैं वे सब पुरुष एक महाप्रभुके ही आधीन हैं नाना प्रभुत्व होनेसे। चूंकि ये

प्रभु नाना हैं तो जहाँ नाना समर्थ पुरुष दीख रहे हों वहाँ उन सबपर कण्ट्रोल करने वाला कोई एक महाप्रभु होता है। जो-जो महाप्रभु हैं वे-वे सब यहाँ एक प्रभुके आधीन देखे गए हैं। जैसे अनेक सिपाही एक जमादारके आधीन हैं, अनेक जमादार एक विशिष्ट पुरुषके आधीन हैं, ऐसे ही विशिष्ट एक कर्नलके आधीन हैं। ऐसे ही सामंत होते हैं। सामन्त मण्डलीक महामण्डलीक एक चक्रवर्तीके आधीन हैं और ये नाना चक्रवर्ती इंद्रादिक ये सब प्रभु हैं इस कारण ये सब एक महाप्रभुके आधीन हैं। और जो ये महाप्रभु हैं सो एक महेश्वर है। इस तरह एक ईश्वरकी सिद्धि है और वह ईश्वर अपने देहको रचकर अन्य प्राणियोंका निग्रह आग्रह करता है। उक्त शंका के प्रति आचार्यदेव कहते हैं कि यह शंकाकारका वचन परीक्षाको नहीं सह सकता है, क्योंकि महेश्वर स्वयं अशरीर है, शरीररहित है तो वह अपने देहका निर्माण भी नहीं कर सकता। इस प्रकारके निराकरणको अब आचार्य महाराज कहते हैं।

देहान्तराद्विना तावत्स्वदेहं जनयेद्यदि।
तदा प्रकृतकार्येऽपि देहाधानमनर्थकम् ॥ १९ ॥
देहान्तरात्स्वदेहस्य विधाने चानवस्थितिः।
तथा च प्रकृतं कार्यं कुर्यादीशो न जातुचित् ॥ २० ॥

ईश्वरके स्वदेहनिर्माणकी असमञ्जसता—उक्त शङ्काके समाधानमें आचार्यदेव कहते हैं कि यदि ईश्वर अन्य देहके बिना भी अपने देहको केवल एक विचार मात्रसे उत्पन्न कर देवे तब तो विचारमात्रसे ही अन्य प्राणियोंके निग्रह और अनुग्रहरूप कार्यको कर देवे फिर तो अन्य प्राणियोंका निग्रह अनुग्रह कार्यके करनेके लिए देहका धारण करना अनर्थक सिद्ध होता है। यदि यह कहा जाय कि अन्य शरीरके द्वारा अपनेमें देहको धारण करता है तो फिर उस अन्य देहको भी किसी अन्य देहके द्वारा धारण करेगा। इस तरह अनवस्था दोष आयगा, और इस तरह अपने ही अनेक देहोंके निर्माण करनेमें ही ईश्वरकी शक्ति क्षीण हो जायगी, तो वह कभी अन्य प्राणियोंके शरीरादिक कार्योंको कर न सकेगा। जैसे कि प्रकृत कार्यको उत्पन्न करनेके लिए ईश्वर अपूर्व शरीरको धारण करता है तो उस नये शरीरके निष्पादन करनेके लिए फिर और नया अन्य शरीर बनाना होगा। फिर उस शरीरको निष्पादन के लिए और नया शरीर बनाना होगा। इस तरह अनवस्था दोष कैसे दूर हो सकता है? किन्हीं भी प्राणियोंके निग्रह अनुग्रह करनेसे पहिले ईश्वरके शरीरका प्रयोग बन नहीं सकता। क्योंकि जो भी ईश्वरके शरीरका प्रयोग बताया गया उससे पहिले अन्य शरीरोंका प्रसङ्ग हो जायगा। और, फिर एक बात और है—यदि कोई इस अनवस्था दोषको अनादि संतानमें घटित करदे कि यह तो अनादि कालसे ईश्वरके शरीर

की संतति चली आ रही है, तब तो उस शरीरको अशरीरी न मानना चाहिए। यहाँ मूलमें २ प्रश्न किए गए हैं शङ्काकारसे कि ईश्वर जो अपने शरीरको बनाता है, यह कहा है तो वह अपने शरीरको अन्य देहके बिना अशरीर होकर ही बना डालता है या अन्य देहके द्वारा अपने शरीरको बनाता है ? उसमें यदि प्रथम विकल्प स्वीकार किया जाय कि ईश्वर अन्य देहके बिना ही अपने देहको बना डालता है। तो ऐसे ही संसारके सारे कार्योंको भी अपने देहके ही बिना बना डाले, फिर अपने देहोंको धारण करनेकी विवशताका स्वाङ्ग क्यों किया जा रहा है ? और यदि ऐसा मानोगे द्वितीय विकल्पके अनुसार कि अन्य देहोंसे ही अपने देहका धारण करता होता है ईश्वरके तब इसमें अनवस्था दोष आता है। तो जैसे देहको बनानेके लिए अन्य देहोंकी आवश्यकता पड़ी अन्य देहोंको बनानेके लिए और अन्य देहोंकी आवश्यकता पड़ेगी। इस तरह यह ईश्वर अपने शरीरकी सही सम्हाल न बना पावेगा, फिर प्रकृत कार्यको करेगा ही कब ? शङ्काकार यदि यह कहे कि एक ही निर्मित शरीरके द्वारा नाना देश दिशाओंमें रहने वाले प्राणियोंके निग्रह और अनुग्रहके विधानको ईश्वर कर बैठता है तो यह बात सम्भव नहीं। एक निर्मित शरीरके द्वारा समस्त प्राणियोंके निग्रह अनुग्रहको ईश्वर करदे, यह यों घटित नहीं है। यदि ऐसा बनता होता तो एक साथ अनेक शरीर उसके प्रसङ्गमें न आते। और, उन अनेक शरीरोंके माननेपर उनको बनानेके लिए अनेक शरीर होने चाहिएं। इस तरह धनादि नाना शरीरोंकी परम्परा ईश्वरके आ पड़ती हैं। एक शरीरसे ही नाना शरीरोंको कर लेता है, यदि शङ्काकार ऐसा कहे तो जैसे उसने एक शरीरसे नाना शरीर बना डाले, यों ही एक साथ या क्रमसे उस शरीरको ही नाना देश दिशाओंमें रहने वाले प्राणियोंके निग्रह और अनुग्रहको भी कर डाले, फिर तो यह बताओ कि ईश्वर अनेक भिन्न-भिन्न शरीरोंको लेकर अवतार क्यों धारण किया करते हैं ? जैसे कि कणादका अनुग्रह करनेके लिए और गजासुरका निग्रह करनेके लिए उल्लूका शरीर धारण किया। या अन्य शरीरोंका जो धारण करना बताते हैं अनेक अवतार। जिस किसी भी शरीरको लेकर अवतार कहा जाता है, तो ऐसा अवतार लेनेका कथन उनका युक्त नहीं जचता है। यदि शङ्काकार इस प्रसङ्गमें यह कहे कि न तो अन्य देहोंके बिना अपने देहको उत्पन्न करता है और न देहान्तरोंसे अपने स्वदेहको उत्पन्न करता है, किन्तु ईश्वर स्वयं ही शरीरके बनाये बिना भी, अन्य शरीरको बनाये बिना भी अपने शरीरको उत्पन्न कर लेता है। इसका समाधान आचार्यदेव करते हैं।

स्वयं देहाविधाने तु तेनैव व्यभिचारिता।
कार्यत्वादेः प्रयुक्तस्य हेतोरीश्वरसाधने ॥ २१ ॥

ईश्वरदेहका ईश्वर द्वारा निर्माण न माननेपर कार्यत्व हेतुकी व्यभि-

चारिता होनेसे सृष्टिकर्तृत्वकी असिद्धि—शङ्काकारके कथनानुसार यदि ईश्वर स्वयं अपने देहका निर्माण नहीं करता और उसका देह अपने आप माना जाता है तो ऐसा कहनेमें तो उनके कार्यत्वहेतुका व्यभिचार अपने आप सिद्ध हो जाता है। उनका प्रयोग था कि ईश्वर शरीर इन्द्रियादिक कार्योंको कर लेता है क्योंकि कार्य होनेसे। अब यहाँ देखिये कि ईश्वरका शरीर कार्य तो है पर उसका करने वाला नहीं बता रहे, ईश्वरके शरीररूप कार्यको स्वयं ही बना हुआ बता रहे। सो यदि ईश्वर देहको धारण नहीं करता है तो यह बतलाओ कि वह ईश्वरका शरीर नित्य है या अनित्य? नित्य तो कह नहीं सकते। क्योंकि उसमें अंगोपाङ्ग मौजूद है? जो अवयव वाला होगा वह अनित्य ही देखा जाता है, जैसे घट पट आदिक पदार्थ। इनके सावयव हैं, ये अनित्य हैं और अवयव वाला ईश्वरका देह है इस कारण ईश्वरका देह नित्य नहीं हो सकता। और, यदि कहो कि ईश्वरका देह अनित्य है तो ईश्वरका शरीर उत्पन्न कहाँसे हुआ सो बताओ। यदि कहो कि महेश्वरके पुण्य विशेषसे धर्मविशेषसे उसका देह उत्पन्न होता है। तो सर्व प्राणियोंका शुभ अशुभ शरीर भी उनके ही पुण्य पापसे बन बैठेगा? फिर ईश्वरको निमित्त कारण माननेकी क्या आवश्यकता? यों उनका जो अनुमान प्रयोग है कि विवादापन्न शरीर इन्द्रिय आदिक बुद्धिमन निमित्तक है कार्य होनेसे अथवा अपने आरम्भक अवयवोंकी रचना विशिष्ट है इस कारण अथवा अचेतन उपादान होनेसे, आदिक हेतु जो ईश्वरकी सिद्धिके लिए प्रयुक्त किए जाते हैं उनका ईश्वरके देहसे ही व्यभिचार आयगा कि देखो ईश्वरका देह ईश्वरने रचा नहीं और कार्य सो है। इस तरह ईश्वरकी सृष्टिकर्ताकी सिद्धि होती है।

यथाऽनीशः स्वदेहस्य कर्त्ता देहान्तरान्मतः ।
पूर्वस्मादित्यनादित्वान्नानवस्था पूसज्यते ॥ २२ ॥

तथेशस्यापि पूर्वस्माद् देहाद् देहान्तरोद्भवात् ।
नानवस्थेति यो ब्रूयात्तस्यानीशत्वमीशितुः ॥ २३ ॥

नीशः कर्मदेहेना नादि सन्तानवर्तिना ।
यथैव हि सकर्मा नस्तद्वन्न कथमीश्वरः ॥ २४ ॥

अन्य देहियोंकी तरह पूर्व पूर्व देहसे उत्तर उत्तर देहका निर्माण मानने पर महेश्वरके अनीशत्वका प्रसङ्ग—शङ्काकार कहता है कि देखो! जैसे ये अज्ञ संसारी प्राणी अपने देहका कर्ता अन्य पूर्व देहसे मानते हैं अर्थात् पहिले देहसे यह वर्तमान देह बना, वह पहिला देह उससे पूर्वके देहसे बना, इस तरह देहोंसे देहोंका

निर्माण होते चले जाना यह अनादि सिद्ध बात है। और, वहाँ अनवस्था दोष नहीं माना। प्रभु ईश्वरके भी पहिले देहसे अन्य देहकी उत्पत्ति मान ली जाय तो इसमें अनवस्था दोष नहीं आता। पूर्व पूर्व देहसे उत्तर उत्तर देह बनते चले जाते हैं स्वयमेव उसमें अनवस्थाकी क्या गुंजाईस ? इस प्रकार जो शङ्काकार बोलता है वह इस ओर दृष्टि नहीं दे रहा कि इस तरहकी समता बतानेपर महेश्वरके भी अज्ञनना अनीश्वर-पना प्रकट हो जाता है। जैसे कि अनादि संतानके कार्माण देहके द्वारा यह जीव सकर्मा बन रहा है और अपने उपभोगके योग्य अनेक शरीरोंको उत्पन्न करता चला आ रहा है तो वह सकर्मा है। इसी प्रकार ईश्वर भी कैसे अज्ञ न हो जायगा ? और कैसे कर्मसहित न हो जागया। जो शंकाकारने प्रतिवादियोंका उदाहरण दिया है अर्थात् स्याद्वाद सिद्धान्तियोंका उदाहरण दिया है सो वहाँ स्पष्ट है कि अज्ञ पुरुषोंको शरीरका कर्ता अन्य शरीरके बिना नहीं माना गया है। उसका उदाहरण देकर यह ईश्वरवादी भी अशरीरी ईश्वरके अपने शरीर निर्माणके सामर्थ्यकी बात बताये और पूर्व पूर्व शरीरसे आगे आगेके शरीर बनते हैं ऐसी अनादि संतति बताकर अनवस्थाका परिहार करें यह बात उनके लिए ही घातक सिद्ध होगी। देखिये ! बात क्या है असल में कि ये संसारी प्राणी कार्माण शरीरसे सशरीर बनते हुए और अनीश अज्ञ बनते हुए अपने उपभोगके योग्य दूसरे शरीरको उत्पन्न करते हैं, जिस प्रकार स्याद्वाद सिद्धान्तमें माना गया है। उसी प्रकार यदि ईश्वर पूर्व कर्म शरीरसे अपने शरीरको बनाये तो उसे कर्मसहित ही होना चाहिए और इस कारण अब वह ईश्वर सदा कर्म-रहित सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि जैसे शरीरमें अज्ञानी पुरुष अनादि संततिसे चले आये हुए कार्माण शरीरके साथ सम्बद्ध हैं इसी प्रकार जब शरीरकी परम्परा ईश्वरके बना रहे हो तो वह भी कार्माण शरीरके साथ सम्बद्ध सिद्ध हो जायगा, और यदि उसके सर्व कर्मोंका अभाव है, कोई भी कर्म उसके शेष न रहे तो भी मुक्त जीवोंकी तरह अपने शरीरका निर्माण करने वाला बन ही नहीं सकता। और, फिर कर्मरहित जीवके जैसे शरीर सम्भव नहीं उसी प्रकार बुद्धि इच्छा प्रयत्न ये तीनों ही उसके असम्भव हो जायेंगे यह समझ लेना, क्योंकि कर्मसे अछूता है, कोई तो उसके न बुद्धि, न इच्छा, न प्रयत्न कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता। इस कारण यह बात बिलकुल प्रकट सिद्ध हुई है कि ईश्वरके शरीर नहीं है और शरीरके बिना वह जगतकी रचना कैसे कर सकता है ?

ततो नेशस्य देहोऽस्ति प्रोक्तदोषानुषङ्गतः ।
नापि धर्मविशेषोऽस्य देहाभावे विरोधतः ॥२५॥

येनेच्छामन्तरेणापि तस्य कार्ये प्रवर्तनम् ।
जिनेन्द्रवदघटेतेति नोदाहरण सम्भवः ॥२६॥

अशरीर महेश्वरके धर्मविशेषके अभावके कारण कार्यमें प्रवर्तनकी असिद्धिका निष्कर्ष—अब प्रकृत प्रसङ्गका उपसंहार करते हुए आचार्य महाराज इन दो कारिकाओंमें सृष्टिकर्ताके अनुमानको अनुदाहरण सिद्ध कर रहे हैं, शंकाकारने जो जिनेश्वरका उदाहरण दिया था कि जैसे जिनेश्वर इच्छाके बिना ही मोक्षमार्गका उपदेश करते हैं ऐसे ही ईश्वर भी इच्छाके बिना ही जगतकी रचना करता है। तो उनके इस कथनमें अनेक दोषापत्तियाँ बतायी गई हैं। उन दोषोके कारण यह मानना होगा कि ईश्वरके शरीर नहीं है और धर्मविशेष भी उसके नहीं है। जो शरीरी होगा उसके ही धर्म विशेष सम्भव हो सकता है। शरीरके अभावमें धर्मविशेष अर्थात् पुण्य विशेषका विरोध है। धर्म विशेष एक तीर्थंकर नामका पुण्यकर्म है, वह शरीरके आश्रित है। शरीरके सद्भावमें ही तीर्थंकर प्रकृतिका सद्भाव बनता है। शरीरका सद्भाव न हो, उस जीवके तीर्थंकर प्रकृतिका सद्भाव ही नहीं होता। इस तरह ईश्वरके न शरीर सिद्ध है और व धर्मविशेष सिद्ध है। तब ईश्वरको सृष्टिकर्ता सिद्ध करनेमें यह उदाहरण देना कि इच्छाके बिना भी वह जिनेन्द्र देवकी तरह शरीरादिक कार्योंमें प्रवृत्त हो सकता है ऐसा उदाहरण देना अनुचित है, क्योंकि जिनेन्द्रसे वैशेषिक के द्वारा माने गए महेश्वरकी स्थिति विपरीत है। जिनेन्द्र देव शरीर सहित हैं, तीर्थं-कर प्रकृति नामक धर्म विशेषसे युक्त हैं, वीतराग हैं, जब कि सम्मत महेश्वर अशरीर माना गया है और धर्म विशेष सहित भी सिद्ध नही हो सकता। अतः कोई उदाहरण नहीं है ऐसा कि इच्छाके बिना कोई सृष्टि कर सके।

ज्ञानमीशस्य नित्यं चेदशरीरस्य न क्रमः।
कार्याणामक्रमाद्धेतोः कार्यक्रमविरोधतः ॥ २७ ॥

अशरीर महेश्वरके नित्यज्ञानसे कार्योत्पाद माननेपर कार्योंके क्रममें विरोधका प्रसङ्ग—उक्त कारिकाओंमें ईश्वरके सिसृक्षाके सम्बन्धमें बहुत कुछ वर्णन किया। अब ईश्वरके ज्ञानके सम्बन्धमें आलोचना कर रहे हैं। जिन लोगोंने शरीर-रहित सदाशिवका ज्ञान माना है वह यहाँ इस तरह पूछा जा सकता है कि वे यह बतायें कि ईश्वरका ज्ञान नित्य है अथवा अनित्य है, दोनों पक्षोंमें ही दूषण आता है। यदि महेश्वरका ज्ञान नित्य बताया जायगा तो अशरीर महेश्वरके नित्य ज्ञानसे कार्यों में क्रम नहीं बन सकता है। क्योंकि जो कोई अक्रम साधन है उस अक्रम हेतुसे कार्यमें क्रम पड़नेका विरोध है। ईश्वरज्ञानको मान लिया नित्य और नित्यज्ञानको मान लिया सृष्टिका कारण। तो जब नित्य ज्ञान सदा ही है तो सारी ही त्रैकालिक सृष्टि एकदम क्यों नहीं होती ? उन कार्योंमें क्रमका क्यों सद्भाव है कि पहिले यह बना, फिर यह बना, फिर अन्य बना, ऐसा कार्योंमें क्रम कैसे बन जायगा ? और, अनित्य मानोगे ईश्वरके ज्ञानको तो वह आपके सिद्धान्तका ही स्वयं विरोध है। फिर तो ईश्वर भी

विनाशीक हो गया।

ईश्वरज्ञानको निरन्वय क्षणिकवादियोंकी तरह अनित्य न माननेसे, किन्तु परिणामी नित्य माननेसे कार्यमें क्रमकी संभावनाका शंकाकार द्वारा कथन – अब यहाँ शंकाकार कहता है कि देखिये ! महेश्वरके ज्ञानको नित्य मानने पर भी कार्योंमें अक्रमता नहीं आती। कार्योंमें अक्रमता तो निरन्वय क्षणिकवादियोंके आ सकेगी या अपरिणामी नित्य पुरुष मानने वाले सांख्योंके यहाँ आयगा। हम तो ईश्वरज्ञानको परिणामी नित्य मानते हैं। उस ज्ञानसे कार्योंका क्रम भङ्ग न हो सकेगा देखिये ! निरन्वय क्षणिकवादमें ऐसा माना है कि प्रति समय समयका ज्ञान उतना ही उतना पूर्ण वस्तु है, उसका न पहिले सद्भाव है न आगे सद्भाव है। एक समयको ज्ञान हुआ और वह नष्ट हो जाता है। तो निरन्वय क्षणिक माननेपर अब वह ज्ञान दूसरे कालमें तो जा नहीं सकता, दूसरे देशमें जा न सका। तो क्रम बनता है वह अन्य कालकी अपेक्षा व अन्य देशकी अपेक्षासे बनता है। तो यों निरन्वय क्षणिकमें न कालापेक्ष क्रम बन सकता न देशापेक्ष क्रम बन सकता। क्रम उसीको कहते हैं कि अगले समयमें भी सम्बन्ध रहे उससे समयमें अन्य सम्बन्ध रहे, पर निरन्वय क्षणिक में कालापेक्षता है ही नहीं। तो इस तरह निरन्वय क्षणिकवादियोंके क्रम होना असम्भव है। यदि निरन्वय क्षणिकवादी यह कहें कि संतानके द्वारा हम क्रम मान लेंगे। यद्यपि एक देशमें भिन्न-भिन्न समयमें भिन्न भिन्न एक-एक ज्ञान होते रहते हैं, परन्तु उन ज्ञानोंके होनेका संतान तो बना हुआ है। उस परम्पराके कारण वहाँ क्रमपना बन जायगा तो यह भी कथन उनके सङ्गत नहीं है। संतान तो अवस्तु माना गया है, वह तो कोई वस्तु ही नहीं है। इस कारणसे संतानके माध्यमसे भी परमार्थतः कार्यों में क्रम नहीं माना जा सकता। तो जैसे निरन्वय क्षणिकवादियोंके यहाँ कार्यक्रम नहीं बन सकता, उसी प्रकार कूटस्थ नित्य मानने वाले सांख्य पुरुषोंके यहाँ भी कार्योंमें क्रम नहीं बन सकता।

ईश्वरज्ञानको साँख्यसम्मत पुरुषकी तरह कूटस्थ नित्य न माननेसे किन्तु सातिशय परिणामी नित्य माननेसे कार्यक्रमकी संभावनाका शङ्काकार द्वारा कथन – साँख्य लोग मानते हैं पुरुषको कूटस्थ, उस तरह हम ईश्वरज्ञानको कूटस्थ नहीं मानते, किन्तु सातिशय नित्य मानते हैं। उस ईश्वरज्ञानके साथ सातिशयता भी चलती है। तो सातिशय नित्यपना होनेके कारण ईश्वरज्ञानसे कार्यकी रचना क्रमसे बन जायगी। हाँ पुरुष तत्त्व जो साँख्यों द्वारा सम्मत है वह निरतिशय माना गया है। वह प्रतिसमय स्वरूपसे है ही। इस तरह शब्दानुसारी और ज्ञानानुसारी विकल्पके द्वारा जो कि वास्तविक नहीं है, उस ही विकल्पसे ऐसा कहा करते हैं कि पुरुष पहिले था, इस समय है, आगे रहेगा। यों क्रमकी तरह वहाँ लौकिक जन

व्यवहार किया करते हैं, पर वास्तवमें सांख्योंने उसको कार्यकारी नहीं माना, क्योंकि वह अपरिणामी है। वह क्रमसे अनेक कार्य करने वाला भी नहीं बन सकता, क्योंकि वह अकर्ता है और उसको उदासीन रूपसे अवस्थित मानता है। सांख्य कहते कि वहाँ कोई यह शङ्का न करे कि जब पुरुष क्रमसे या अक्रमसे कोई अर्थक्रिया ही नहीं कर सकता तो वह तो अवस्तु बन जायगा। यह दूषण यों नहीं लगता कि वस्तुका लक्षण अर्थक्रियाकारी होता नहीं है, किन्तु सत्ता सम्पन्न होना वस्तुका लक्षण है। यदि अर्थक्रियाकारीपना वस्तुका लक्षण मान लिया जाय तो जो कोई पुरुष उदासीन है, कुछ काम नहीं कर रहा है उसमें वस्तुत्व फिर न रहेगा। इस कारण सत्ता ही वस्तुका सही लक्षण है और इसी कारण वैशेषिकोंके यहाँ अभाव भी वस्तु कहलाता है, अभाव वस्त्वन्तरका स्वभाव है। तो जैसे पुरुष तत्व अपनी सत्ताको नहीं छोड़ रहा उसी प्रकार अभाव भी अपनी सत्ताको नहीं छोड़ रहा। यों अभावमें भी वस्तुपना रहता है। इसी तरह सामान्य विशेष आदिक भी वस्तु कहलाते हैं, क्योंकि स्वरूप सत्स्वरूप वस्तुका लक्षण सबमें पाया जाता है। कोई भी वस्तु सत्तासे अलग नहीं है, ऐसा जो सत् है वह वस्तु है, यह बात बिल्कुल ठीक बैठती है। लेकिन उदासीन होकर भी पुरुषको वस्तु सिद्ध करे ऐसा सांख्य लोग मानते, किन्तु वैशेषिकोंके यहाँ तो यदि ईश्वर ज्ञानको उदासीन मानकर कुछ आगे बात बनायें तो वह व्यर्थकी बात है। उदासीन ईश्वर ज्ञान हो तब उसकी कल्पना करना ही व्यर्थ है। ईश्वरज्ञान तो कार्यकारी ही होगा सांख्योंके पुरुषकी तरह अकार्यकारी नहीं होता।

ईश्वरज्ञानको सातिशय व कार्यकारी बतानेका शङ्काकारका प्रयास— अब आगे सुनो! जो कार्यकारी होता है वह अतिशयवान ही हो सकता है। लोकमें भी देखा जाता है—कुम्हार, जुलाहा आदिक कार्य करने वाले हैं तो वे अतिशयको लिए हुए हैं। पूर्व समयकी स्थितिसे उत्तर समयकी स्थितिमें कुछ अपूर्वता आये, विलक्षणता आये, इसको अतिशय कहते हैं। तो यों ईश्वरज्ञान सातिशय कार्यकारी है। कोई यहाँ यह दोष न दे सकेगा कि ईश्वरज्ञानको सातिशय और कार्यकारी मान लेनेपर फिर तो सांख्योंमें जैसे प्रधानको माना गया है परिणामी नित्यता इस तरह ज्ञान भी स्वरूपसे परिणामी नित्य बन जायगा। क्यों वह दोष नहीं है कि हम वैशेषिकोंके यहां ज्ञानको परिणामी नित्य तो मानते हैं, मगर जो परिणामीपना है वह अतिशयोंका है और वह अतिशय क्रमसे होता है और क्रमसे होने वाला यह अतिशय ईश्वरसे भिन्न है क्योंकि वह अतिशय अगर ईश्वरसे अभिन्न हो जाय तो अतिशयोंकी तरह ईश्वरका ज्ञान भी नष्ट हो जायगा और उत्पन्न हो जायगा। तो अतिशयोंसे ईश्वरको अभिन्न माननेपर या तो महेश्वरका ज्ञान नष्ट और उत्पन्न होने लगेगा या ईश्वरज्ञानकी तरह अतिशय भी अविनाशी हो बैठेगा। उनका उत्पाद विनाश न रहेगा इस प्रकार यह ईश्वरज्ञान क्रमसे अनेक अतिशयोंसे युक्त होनेपर यह क्रमसे सृष्टिकी

रचना करता है, इसमें कोई विरोध नहीं आता। शङ्काकार ही कह रहा है कि स्याद्वादियोंने जो यह उलहना दिया था कि ईश्वरज्ञान यदि नित्य है तो उससे क्रमिक कार्यकी उत्पत्ति कैसे हो सकेगी ? उसका उत्तर शङ्काकार यह दे रहे हैं कि ईश्वरके ज्ञानमें अतिशयोंका सम्बन्ध है और वह अतिशय क्रमसे होता है। उन अतिशयोंके कारण ईश्वर ज्ञानसे क्रमिक कार्योंकी रचना सिद्ध हो जाती है। जो सर्वथा ही अक्रम हेतु हों उनसे ही कार्योंमें क्रमका विरोध आता है। पर यह ईश्वर ज्ञान तो अक्रम है, नित्य है, पर उसमें हुआ अतिशय सक्रम है, अनित्य है। इस कारणसे ऐसे अतिशयोंसे सहित ईश्वरज्ञानसे क्रमवर्ती कार्योंकी रचना बन जाती है और इस तरह सांख्योंके द्वारा माना गया निरतिशय सर्वथा उदासीन पुरुषोंकी कल्पना व्यर्थ हो जाती है और वैशेषिकोंके यहाँ माना गया आत्मा आदिक वस्तु जो नित्य है, लेकिन भिन्न अतिशयों के कारण वे सातिशय भी है। इस कारण किसी भी पदार्थका सर्वथा उदासीन इन्होंने नहीं माना। यों ईश्वरज्ञानसे क्रमिक कार्योंकी उत्पत्ति बराबर सिद्ध होती चली जाती है।

ईश्वरज्ञानसे भिन्न अतिशयोंकी अकिञ्चित्करता बताते हुए शंकाकार की उक्त शंकाओंका समाधान—उक्त शङ्काके समाधानमें ये वैशेषिक इस तरह पूछे जाने योग्य हैं कि अतिशय ईश्वरज्ञानसे भिन्न माने गये हैं तो उन अतिशयोंके क्रमवानपना माननेपर भी वास्तवमें ईश्वरज्ञानके क्रमवानपना तो सिद्ध नहीं होता। कैसे सिद्ध होगा सो बताओ। जब भिन्न अतिशय है तो वे ईश्वर ज्ञानके क्यों कहलाये ? उनसे सम्बन्ध कैसे बन गया ? यदि कहो कि उन अतिशयोंका ईश्वरज्ञानमें समवाय सम्बन्ध है इस कारणसे सातिशय ईश्वरज्ञानमें क्रमवर्तिता आयगी। तो अब यहाँ यह पूछनेकी बात है कि भिन्न अतिशयोंका ईश्वरज्ञानमें ही समवाय क्यों हुआ ? अन्य पदार्थोंमें उन अतिशयोंका समवाय क्यों न हो गया ? याने उन अतिशयोंका अन्यत्र समवाय क्यों न हो गया ? यदि कहो कि ईश्वरज्ञानमें अतिशय है, इस प्रकारका ज्ञान विशेष बनता है। "इह इदं" ऐसे ज्ञान विशेषके कारण उन अतिशयोंमेंका ईश्वरज्ञानमें समवाय सिद्ध होता है। तब तो यह बात भी पूछने योग्य है कि 'इह इदं" ऐसा ज्ञान विशेष भी उस ईश्वर व अतिशयोंके बारेमें क्यों हुआ, अन्य जगह क्यों नहीं हो जाता, क्योंकि भिन्नताकी तो सबसे समानता है। यदि वह अतिशय भिन्न है ईश्वरज्ञानसे तो उन अतिशयोंका 'ईश्वरमें है" ऐसा ज्ञान होता और 'घट पट आदिकमें है" ऐसा ज्ञान क्यों नहीं होता ? जैसे कि महेश्वर ज्ञानमें भिन्न भी अतिशय प्रतीत होता है उसी प्रकार घट पट आदिकमें भी वह भिन्न अतिशय प्रतीत होने लगे। यदि कहें शङ्काकार कि महेश्वरमें ही अतिशयोंका समवाय होनेसे "इह इदं" ऐसा ज्ञान विशेष बनता है, अन्य जगह नहीं बनता तो इसमें तो इतरेराश्रय दोष आयगा कि जब "इह-इदं" ऐसा ज्ञान विशेष बने तो अतिशयोंका ईश्वरज्ञानमें ही समवाय सिद्ध हो, और

जब ईश्वरज्ञानमें ही समवाय सिद्ध हो ले तो महेश्वरमें यह अतिशय है, ऐसा ज्ञान विशेष बन सके तो यों तो किसी भी एक की प्रसिद्धि नहीं बनती। न "इह इदं" ऐसे ज्ञानकी सिद्धि हो सकी और न महेश्वरमें अतिशयोंका सामर्थ्य है, यह सिद्ध हो सका। अथवा मान भी लिया जाय कि उन भिन्न अतिशयोंका महेश्वरमें समवाय है तो वह समवाय क्रमसे होता है या एक साथ, यह बतलायें। यदि कहो कि क्रमसे समवाय होता है तो भला यह बतलावो कि अक्रम ईश्वरज्ञान कैसे क्रमभावी अनेक अतिशयोंके साथ समवायको कर लेगा ? यह बात तो अत्यन्त कठिन है। यदि कहो कि क्रमवर्ती अन्य अतिशयोंके द्वारा ईश्वरज्ञानमें क्रमवत्ता सिद्ध हो जायगी अतः दोष न आयगा। याने ईश्वरज्ञानमें अतिशयोंका क्रमसे समवाय बनानेके लिए अन्य अतिशय पड़े हुए हैं। यदि ऐसा कहो तब फिर वह अन्य अतिशय भी ईश्वरज्ञानसे भिन्न ही तो है। वह अतिशयोंका क्रमसे समवाय कैसे सिद्ध कर देगा ? यदि और अन्य अतिशय मानें तो इसमें अतिप्रसङ्ग आयगा। यदि कहो कि उन अन्य अतिशयोंका ईश्वरज्ञानमें समवाय है तो यह स्पष्ट करो कि वह क्रमसे होगा या एक साथ ? क्रमसे मानोगे तो वे ही सब प्रश्न यहाँ उपस्थित होते हैं, या एक साथ मानोगे तब भी वे ही प्रश्न हैं और पहिले की तरह अनवस्था दोष आता है।

ईश्वरज्ञानमें अतिशयोंके समवायकी भी स्वग्रहमान्यता—शङ्काकारका जब यह प्रस्ताव आया कि इच्छा और प्रयत्नके बिना केवल ईश्वरज्ञानसे ही सृष्टि बन जाती है तो वहाँ यह पृष्टव्य हुआ कि ईश्वरज्ञान तो एक स्वभाव है। उससे नाना कार्योंकी उत्पत्ति कैसे हो जायगी ? तब इस बातको सम्हालनेके लिए शङ्काकारने यह कहा कि नाना अतिशयोंका ईश्वरज्ञानके साथ सम्बन्ध हो जाता है। इस कारण वे परिणामी नित्य कहलाते हैं, और उससे फिर नाना कार्योंकी उत्पत्ति हो जाती है। तब इस सम्बन्धमें यह पूछा गया था कि उन अतिशयोंका ईश्वरज्ञानमें क्रमशः समवाय होता है, तो उसका खण्डन तो अभी कर ही चुके हैं। अब दूसरे विकल्पकी बात समझाते हैं। यदि ईश्वरज्ञानमें अतिशयोंका एक साथ समवाय होना मानते हो तो अतिशयोंका सम्बन्ध भी बना दो ईश्वरज्ञानमें किन्तु एक साथ बनाया गया ना सम्बन्ध, तब पदार्थोंके क्रमसे उत्पन्न न हो सकनेकी बात ज्योंकी त्यों खड़ी रही, क्योंकि अतिशयोंका ईश्वरज्ञानमें अक्रमसे समवाय है एक साथ समवाय है सो सातिशय होनेपर भी ईश्वरज्ञानमें अक्रमता ही आई, और यों अक्रम ईश्वरज्ञान भी कार्यका क्रम नहीं हो सकता है, यह भली प्रकार बताया गया है। अब और भी बात देखिये ! कि वह नित्य ईश्वरज्ञान प्रमाणरूप है या फलरूप है ? दोनों पक्षोंको लेकर यहाँ दूषण दिए जा रहे हैं।

तद्बोधस्य प्रमाणत्वे फलाभावः प्रसज्यते।
ततः फलावबोधस्यानित्यस्येष्टौ मतक्षतिः ॥ २८ ॥

फलत्वे तस्य नित्यत्वं न स्यान्मानात्समुद्भवात् ।
ततोऽनुद्भवने तस्य फलत्वं प्रतिहन्यते ॥ २९ ॥

नित्य ईश्वरज्ञानको प्रमाणरूप या फलरूपमाननेके दोनों विकल्पोंमें दोषापत्ति—ईश्वरका ज्ञान यदि प्रमाणरूप माना जाता है तब तो फलका अभाव हो जायगा और अगर उस ईश्वर ज्ञानसे अनित्य फलका ज्ञान माना जाता है तो सिद्धान्त की हानि होती है। शङ्काकार वैशेषिक ईश्वरज्ञानसे अनित्य फल ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं मानता है, और यदि ईश्वरज्ञानको फलरूप मान लेता है तो ईश्वरज्ञान नित्य नहीं बन सकता। क्योंकि वह प्रमाणसे उत्पन्न हुआ है अगर उसे उस ईश्वरज्ञानसे उत्पन्न न मानें, प्रमाणसे उत्पन्न न मानें तो फल नहीं बन सकता। तो भाव यह है कि ईश्वर-ज्ञानको प्रमाणरूप मानें तो फलाभाव होनेसे कार्य न बनेगा। और, ईश्वरज्ञानको फल रूप मानेंगे तो नित्य न रहेगा। यों प्रमाण मानें, चाहे फलरूप मानें, दोनों ही पक्षोंमें दोष उपस्थित होता है। ईश्वरज्ञान नित्य प्रमाण सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि उसका फल ही नहीं। जिसका फल नहीं वह प्रमाण भी नहीं बनता। फलज्ञान तो अनित्य है, उसकी यदि कल्पना करते हो तो महेश्वरके ज्ञानमें अब दो विकल्प करें कि वह नित्य ज्ञान है या अनित्य ज्ञान है। इस तरह दोनों ही कल्पनाओंमें सिद्धान्तका विरोध आता है। यदि ईश्वर ज्ञानको फलरूप मानते हो तो ईश्वर ज्ञानकी अनित्यता न रही क्योंकि उसकी उत्पत्ति प्रमाणसे मान ली अब। और, उस प्रमाणसे उत्पत्ति न मानी जाय तो वह ईश्वरज्ञान फलरूप नहीं रह सकता इस कारणसे नित्य ईश्वरज्ञान न माना जा सकेगा। यों ईश्वरज्ञान नित्य तो कहा नहीं जा सकता। अब ईश्वरज्ञान अनित्य मान लें तो उसमें क्या दूषण आता है? सो कहते हैं—

अनित्यत्वे तु तज्ज्ञानस्यानेन व्यभिचारिता ।
कार्यत्वादेर्महेशेनाकरणेऽस्य स्वबुद्धितः ॥ ३० ॥

बुद्ध्यन्तरेण तद्बुद्धेः करणे चानवस्थितिः ।
नानादिसन्ततिर्मुक्त्वा कर्मसन्तानतो विना ॥ ३१ ॥

ईश्वरज्ञानको अनित्य माननेपर ईश्वरज्ञानके साथ ही कार्यत्व हेतुकी व्यभिचारिता—यदि ईश्वरके ज्ञानको अनित्य मान लिया जाता तो लो इस ईश्वर ज्ञानसे ही कार्यत्व हेतुमें दोष आता है। यह कार्यत्व हेतु व्यभिचारी बन गया कि देखो ! व्याप्ति तो यह बना रहे थे कि जो जो कार्य होते हैं वे वे सब बुद्धिमान ईश्वर के द्वारा किए गए होते हैं। लेकिन वहाँ ईश्वरका ज्ञान तो कार्य बन गया, क्योंकि वह

अनित्य है, लेकिन महेश्वरके द्वारा वह किया गया नहीं है, कृत्रिम नहीं है वह तो महेश्वर स्वरूप है। तो कार्यत्वहेतु भी पाया जाय, वहाँ यह नियम नहीं बना कि वह महेश्वरके द्वारा किया गया है। ईश्वरज्ञान अनित्य है और वह ईश्वर बुद्धिका कार्य नहीं है। तो जो पहिले शङ्काकारने अनुमान प्रयोग किया था कि शरीर इंद्रिय आदिक बुद्धिमान कारण जन्य हैं कार्य होनेसे। तो इस हेतुका इस ईश्वरके अनित्य ज्ञानके साथ अनेकान्तिक हेत्वाभासका दूषण लगता है क्योंकि अब यहाँ यह स्पष्ट हुआ कि ईश्वरका नित्य ज्ञान कार्य तो है किन्तु ईश्वरज्ञानके द्वारा वह उत्पन्न नहीं किया जा सकता। यदि शङ्काकार यह कहे कि ईश्वरका अनित्य ज्ञान कार्य है वह ईश्वर अपनी उस अनित्य बुद्धिको अन्य बुद्धिके द्वारा उत्पन्न कर लेता है। याने ईश्वरका जो अनित्य ज्ञाव है वह पहिलेके अनित्य ज्ञानसे उत्पन्न किया है ईश्वरने, तब कार्य बन गया, और बुद्धिमानके द्वारा किया गया। तो मूल जो अनुमान किया गया था कि शरीर इन्द्रिय जगत ये सब बुद्धिमान महेश्वरके द्वारा बनाये गए हैं, उसमें दोष नहीं आया। इसके उत्तरमें कहते हैं कि यदि ईश्वर अपनी बुद्धिको अन्य बुद्धिके द्वारा करता है तो परापर उपदेयकी परीक्षामें ही इसके निर्माणमें ही ईश्वरकी शक्ति क्षीण हो जायगी, क्योंकि कहाँ तक निर्माण करेगा ? जो भी बुद्धि बनेगी उसके लिए नई बुद्धि चाहिए। तो इस तरह पर अपर बुद्धि प्रतीक्षामें ही क्षीण हो गई तो प्रकृत बुद्धिका कारण कैसे हो सकेगा ? शङ्काकार कहता है कि महेश्वर अपनी वर्तमान बुद्धिको उत्पन्न करनेके लिए किसी नई बुद्धिमें अपेक्षा नहीं रखता। किन्तु पहिली उत्पन्न हुई बुद्धिकी सहायतासे वर्तमान बुद्धिको उत्पन्न कर लेता है। याने महेश्वरको प्रकृत बुद्धिके करनेके लिए अन्य अपूर्व बुद्धियोंकी प्रतीक्षा न करनी होगी। किन्तु ऐसा नियोग है कि पूर्व उत्पन्न हुई बुद्धिका आश्रय करके वे प्रकृत बुद्धिको पहिली बुद्धिके आश्रयमें कर लेते हैं। इस तरह अनादि बुद्धि संतान है ईश्वरके, तब अनवस्था दोष नहीं दिया जा सकता। इसके उत्तरमें कहते हैं कि उस प्रकार बुद्धिका जो संतान बनता है, यह बुद्धि पूर्व बुद्धि से उत्पन्न हुई और वह अपनी बुद्धिसे उत्पन्न हुई ऐसा बुद्धिका संतान कर्मसंतानका अपाय होनेपर सम्भव नहीं हो सकता। हमारी बुद्धिका संतान उन्हीं जीवोंके देखा गया है जिन जीवोंके कर्म लगे हुए हैं और उस अदृष्टके निमित्तसे इस प्रकारकी बुद्धि से बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। बुद्धि क्रमसे उत्पन्न होती है। और परापर जो बुद्धिके कारणभूत अदृष्ट विशेष है उसकी क्रमसे उत्पत्ति होती है अन्य प्रकारसे नहीं, इस अदृष्ट विशेषको धर्म कहो, पुन्य कहो, ज्ञानावरणका क्षयोपशम कहो जैसे वह होता है उस प्रकारसे यह बुद्धि उत्पन्न होती है। तो कर्म सहित जीवके ही तो बुद्धिकी संतान बन सकती। कर्मरहित अनादि मुक्त सदा शिव महेश्वरमें यह बुद्धि उत्पन्न हो ही नहीं सकती।

योगजधर्मसंततिसे ईश्वरके बुद्धिसंतान माननेहर दोषापत्तिका विवरण

शङ्काकार कहता है कि अनादि ईश्वरमें भी योगजधर्मकी संतति तो लगी हुई है इस कारण बुद्धि भी संतान उनकी बन जायगी। तब उपालम्भ नही दिया जायगा क्योंकि पूर्व समाधि विशेषसे धर्मकी उत्पत्ति हुई है, जिसको अदृष्ट विशेष कहते हैं और इस दृष्टि विशेषसे बुद्धिविशेषकी उत्पत्ति हुई। यों अदृष्ट संतानके कारणसे बुद्धिकी संतति बनती चली जायगी। इस कारणसे वह उक्त उलाहना नहीं दिया जा सकता। इसके उत्तरमें भी कहते हैं कि मान लो ऐसा कि पूर्व धर्मविशेषसे उत्तर बुद्धि उत्पन्न हुई और उत्तर बुद्धिसे अन्य धर्म विशेष हुआ यों हो जायगी धर्मकी संतति मानलो लेकिन ऐसा माननेपर ईश्वरकी सकर्मता कैसे सिद्ध न होगी ? वह धर्मविशेष अदृष्ट विशेष कर्मके निमित्तसे ही तो हुआ करता है। और तब ईश्वर कर्मसहित सिद्ध हो गया तो सकर्म भी कैसे सिद्ध न होगा। तो ईश्वर कर्मसहित और ईश्वर सहित सिद्ध बन गया तो कर्मसहित और शरीर सहित होनेपर अब उस ईश्वरमें सदामुक्त सिद्ध नहीं हो सकता। अब अनुपम सिद्ध नहीं हो सकता। वह तपश्चरण करे, कर्मोंका अभाव करे, तब वह सिद्ध बन सके। तो कर्म पहाड़का भेदने वाला सिद्ध हो गया ना ! तो अब यह भी सिद्ध हो गया कि उसकी सदेह मुक्ति है याने वह देह सहित परमात्मा हुये, उसे मुक्ति प्राप्त हुई। अब ऐसा वह जीवन मुक्त उसको यदि सदाशिव मानते हो तो उस जीवनमुक्त देहके साथ कार्यत्व आदिक साधनका शरीरादिक बुद्धिगत कारणपना सिद्ध करनेमें अनेकान्तिक दोष कैसे दूर किया जा सकता है ? क्योंकि अब देख लीजिए ! कि ये शरीरादिक कार्य अब बुद्धिमान कारण जन्य नहीं हुए। और यदि बुद्धिमान कारण जन्य मान लेते हो उस शरीरको तो अनवस्था दोष ज्योंका त्यों रहता है। ईश्वरके शरीर मानना ही पड़ेगा। और उस शरीरको यदि ईश्वरकृत नहीं मानते तो उसमें कार्यत्व हेतुका व्यभिचार दोष है और ईश्वर शरीरको यदि बुद्धिमन् निमित्तक मानते हो तो इसमें अनवस्था दोष आता है।

अव्यापि च यदि ज्ञानमीश्वरस्य तदा कथम्।
सत्कृतसर्वत्र कार्याणामुत्पत्तिर्घटते ततः ॥ ३२ ॥

यद्येकत्र स्थितं देशे ज्ञानं सर्वत्र कार्यकृत्।
तदा सर्वत्र कार्याणां भकृत् किं न समुद्भवः ॥ ३३ ॥

कारणान्तरवैकल्यात्तथाऽनुत्पत्तिरित्यपि।
कार्याणामीश्वरज्ञानाहेतुकत्वं प्रसाधयेत् ॥ ३४ ॥

सर्वत्र सर्वदा तस्य व्यतिरेका प्रसिद्धितः।
अन्वयस्यापि सन्देहात्कार्यं तद्धेतुकं कथम् ॥ ५३ ॥

ईश्वरज्ञानको अव्यापी माननेपर सर्वत्र एकदा कार्यानुत्पत्तिका प्रसंग—यह बतायें ये सृष्टिकर्ता मानने वाले लोग कि ईश्वरका ज्ञान अव्यापी है व्यापी अर्थात् सारे लोकमें फैला हुआ है या नहीं फैला हुआ है ? यदि कहो कि ईश्वरका ज्ञान अव्यापक है तो सब जगह एक साथ कार्योंकी उत्पत्ति नहीं बन सकती। अगर कहो कि एक जगह रहकर वह सब जगहके कार्योंको करता है तो सब जगहके कार्य एक साथ क्यों नहीं उत्पन्न हो जाते ? किन्तु एक जगह रह रहा है, सब जगहके कार्य होते तो कारण तो जो ईश्वरज्ञान है वह तो सदा है किसी जगह सही सारे कारण एक जगह क्यों न उत्पन्न हो जायेंगे ? तथा इस तरह सब कार्य ईश्वर ज्ञान हेतुक सिद्ध नहीं हो सकते, क्योंकि सब जगह सब कालमें ईश्वर ज्ञान भी व्यतिरेक न बन सकेगा। जब ऐसी बात बन सकती होती कि जहाँ ईश्वर ज्ञान नहीं है वहाँ कार्य नहीं होता, तब तो कुछ बात चलाई जाती, लेकिन ईश्वर ज्ञान तो सब जगह है, सब कालमें है। तो जब व्यतिरेक न बन सका तो उसके अन्वयमें भी सन्देह है। तब शरीरादिक कार्य ईश्वर ज्ञानके द्वारा किया गया है, यह कैसे सिद्ध हो सकेगा।

शङ्काकार द्वारा ईश्वरज्ञानकी अव्यापिताका समर्थन—तहाँ वैशेषिक कहते हैं कि ईश्वरके ज्ञानको हमने अव्यापक स्वीकार किया है क्योंकि वह प्रादेशिक है याने ईश्वर जितनेमें है उतनेमें ही वह ज्ञान है, बाहर नहीं है। कहीं है, कहीं नहीं है। जैसे सुख आदिक। तो जहाँ है वहीं तो अनुभव होता है, ऐसा हम आप जीवोंका सुख अपने ही प्रदेशोंमें अनुभव होता है। तो यह कहा जायगा कि हमारा सुख प्रादेशिक है। इसी तरह ज्ञान अपने आपमें ही अनुभव किया जाता है। यों ईश्वरका ज्ञान भी सुखकी तरह प्रादेशिक ही बना और जो प्रादेशिक है वह अव्यापी कहलाता है। तो ईश्वरज्ञान प्रादेशिक है इसकी भी सिद्धि करलो। अनुमान प्रयोग है कि ईश्वरज्ञान प्रादेशिक है, क्योंकि व्यापक द्रव्यका विशेष गुण होनेसे। जो विभु द्रव्यका विशेष गुण होता है वह प्रादेशिक हुआ करता है। जैसे सुख आदिक। उसी प्रकार ईश्वर ज्ञान भी विभु द्रव्यका विशेष गुण है। इस कारण वह प्रादेशिक ही सिद्ध होता है। जब ईश्वर ज्ञान प्रादेशिक है तो वह अव्यापी सिद्ध हो गया। यहाँ कोई यह आशङ्का न करे कि संयोग आदिक सामान्य गुणके साथ वे व्यभिचारी बन जायेंगे जैसे संयोग आदिक गुण विभु द्रव्यके विशेष गुण हैं लेकिन प्रादेशिक नहीं हैं। यह आशङ्का यों नहीं की जा सकती कि वह विभु द्रव्यका गुण है, पर विशेष गुण नहीं हैं। जो विभु द्रव्यका गुण होता है वह प्रादेशिक होता है। तब कोई यह आशङ्का न कर बैठे कि तब तो रूपादिक विशेष गुणके साथ व्यभिचारी हो जायेंगे यह हेतु। सो इसे व्यभिचारी यों नहीं बता सकते कि हेतुमें विभु द्रव्यादिक दिया है। रूपादिक विशेष गुण हैं तो विशेष गुण मगर विभु द्रव्यके विशेष गुण नहीं हैं। वह तो जो अणु है, जो पृथ्वी है, जो भी अग्नि आदिक है उसका वह गुण है, पर वह विभु द्रव्य

का विशेष गुण नहीं है रूपादिक। तो जो विभु द्रव्यका विशेष गुण होता है वह प्रादेशिक होता है। शङ्काकार ही कहे जा रहा है कि कोई अन्य लोग यहाँ ऐसा दोष न दे कि विभु द्रव्यका विशेष गुण हो तो वह अनित्यको सिद्ध कर देगा इसलिए विरुद्ध हेत्वाभास है। और, वहाँ ऐसी व्याप्ति न बनायें कि जो विभु द्रव्यका विशेष गुण होता है वह अनित्य होता है, ऐसा विभु द्रव्यका विशेषगुणपना हेतु देकर जैसे ईश्वरज्ञानको प्रादेशिक सिद्ध कर रहे हैं ऐसे ही अनित्य भी सिद्ध हो जायगा, क्योंकि विभु द्रव्यका विशेष गुण ऐसा कोई देखनेमें नहीं आता जो कि नित्य हो। शङ्काकार समाधानमें कहता है कि कोई ऐसी आशङ्का न करे, क्योंकि महेश्वर हम लोगोंकी अपेक्षा बहुत बड़ा महान विशिष्ट है और विशिष्ट है। यह नियम न लगाना चाहिए कि जो धर्म जो योग्यता इसमें देखी जाय वह धर्म ईश्वर ज्ञान, ईश्वरज्ञानमें भी जबरदस्ती लगा दिया जायगा। अगर ऐसा बर्ताव करने लगोगे कि जो बात इसमें पाई जाती है वह बात ईश्वरज्ञानमें भी लगा बैठें तो इसमें बड़ी विडम्बना बन जायगी। वह ऐसी विडम्बना बनेगी कि जिस प्रकार हम लोगोंका ज्ञान साधारण तुच्छ है, समस्त पदार्थोंका जानने वाला नहीं है, उसी प्रकार ईश्वरका ज्ञान भी सकल पदार्थों को जानने वाला सिद्ध नहीं हो सकता। अतः सब जगह हम लोगोंकी बुद्धि आदिक गुणोंकी अनित्यताके साथ व्याप्ति प्रसिद्ध है और उसके ही साथ अर्थात् अनित्यपनेके साथ साथ ही विभु द्रव्यके विशेष गुणपनेकी प्रसिद्धि है। अथवा इस प्रसङ्गमें विभु द्रव्य कहनेसे इसका महेश्वर ही इष्ट है। इससे यह अर्थ हुआ कि विभु द्रव्यका विशेष गुण है। दोनों ही इस अर्थको बताने वाले हैं। इस कारण, यह जो अनुमान प्रयोग किया गया है कि ईश्वरका ज्ञान अव्यापी है, प्रादेशिक होनेसे और ईश्वरका ज्ञान प्रादेशिक है विभु द्रव्यका विशेषगुण होनेसे। तो यहाँ इतना ही अर्थ लगाना चाहिए कि महेश्वरका विशेष गुण होनेसे। तब तो रूपादिक गुणोंके साथ या अनित्य पनेके साथ किसीके साथ दोष नहीं दिया जा सकता है। इस तरह जो हम वैशेषिकों का कथन है उसमें उदाहरणका अभाव भी नहीं बताया जा सकता। ईश्वरका सुख आदिक ही तो उसका उदारहण है। जैसे ईश्वरके सुख आदिक महेश्वरके विशेषगुण हैं और प्रादेशिक हैं इसी प्रकार ईश्वरका ज्ञान भी ईश्वरका है और वह प्रादेशिक है, तो यह अनुमान प्रयोग यथार्थ है। इसमें न साध्य विकलता है और न साधनविकलता है। तब यह अनुमान प्रयोग निर्बाध सिद्ध हुआ कि ईश्वरका ज्ञान प्रादेशिक है ईश्वर का विशेषगुण होनेसे और ईश्वरका ज्ञान अव्यापक है, क्योंकि ईश्वरका ज्ञान प्रादेशिक है। अब इसके उत्तरमें स्वाद्वादी कहते हैं।

शङ्काकार द्वारा कल्पित सृष्टिकर्ता ईश्वरज्ञानको अव्यापि माननेपर होने वाली अव्यवस्थाओंका विवरण—उक्त शङ्काका समाधान करते हैं कि वैशेषिक जिस ईश्वरज्ञानके द्वारा विश्वकी सृष्टि मान रहे हैं उस ज्ञानको अव्यापी कह

रहे हैं तो यदि ईश्वरज्ञान अव्यापी है तो सभी जगह एक साथ शरीरादिक कार्य कैसे हो हो सकते हैं ? जो ज्ञान अव्यापी है, एक देशमें स्थित है, उस ईश्वरज्ञानके द्वारा सारे विश्वमें एक साथ कार्य होना कैसे सम्भव है ? दूसरी बात यह है कि वह ईश्वर ज्ञान समस्त कार्योंकी उत्पत्तिमें सब जगह ता मौजूद नहीं है तो वह निमित्त कारण भी कैसे बन सकेगा ? देखो ! काल आदिक पदार्थ जब सब जगह व्यापक हैं, सर्वत्र मिलते हैं तो सब जगहके कार्योंकी उत्पत्ति में वे पदार्थ निमित्त कारण हो जाते हैं। अब ईश्वरज्ञान तो सब जगह व्यापक है नहीं, फिर वह कार्योंकी उत्पत्तिका निमित्त-कारण कैसे बन सकेगा ? यदि शङ्काकार यह कहे कि हम ईश्वरज्ञानको निमित्त कारण नहीं कह रहे किन्तु व्यापक महेश्वरको निमित्त कारण कह रहे हैं। शङ्काकार का यह भाव है कि ईश्वर तो विभु है, सर्वत्र व्यापक है और उसका ज्ञान एकदेशमें रहता है, अव्यापी है। तो ईश्वरज्ञान एक देशमें रहे, पर हम तो ईश्वरको निमित्त कारण कहते हैं, क्योंकि सब जगह रह रहा है तब तो वह दोष न आयगा। इसके समाधानमें कहते हैं कि ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जब शरीरादिक कार्योंका कारण बुद्धिमान माना है सब जगत बुद्धिमन्निमित्तक बताया गया है तो जिस जिस जगहमें बुद्धि होगी उस उस जगहमें ही वह निमित्त कारण बनेगा। जहाँ महेश्वरकी बुद्धि नहीं है वहाँके कार्योंका कैसे निमित्त कारण महेश्वरको बता दिया जायगा ? यदि बुद्धिके अभावमें भी महेश्वरको निमित्त कारण बता दिया जायगा, शरीरादिक सब कार्योंके लिए तब वस्तुत: वे सब कार्य बुद्धिमन्निमित्तकारण जन्य नहीं कहलाये। क्योंकि बुद्धि तो वहाँ है नहीं, तो बुद्धिमानके निमित्तसे वह कार्य नहीं हुआ। भले ही कुछ देरको अपनी अन्धाधुन्धीमें महेश्वरको निमित्तकारण न बना क्योंकि उन जगहों में बुद्धि ही नहीं है जहाँ वे कार्य हो रहे हैं। बुद्धि तो कहीं एक देशमें पड़ी हुई है। तब शरीरादिक कार्योंको बुद्धिमन्निमित्तक कारण मानना व्यर्थ है, क्योंकि अब देखो ! बुद्धिके अभावमें अतएव बुद्धिमान्‌के अभावमें वहाँके ये सब कार्य बन रहे हैं। इस प्रकार जो मूल अनुमान दिया था कि शरीर इंद्रिय आदिक बुद्धिमन्निमित्तकारणक हैं कार्य होनेसे, तो यह कार्यत्व हेतुसाध्यका साधक नहीं है क्योंकि कार्यत्वहेतु व्यभिचारी है। जिन जगहोंमें बुद्धिसे रहित केवल ईश्वर है वहां बुद्धिके अभावमें भी कार्य उत्पन्न देखे जा रहे हैं। जो हेतु साध्यके विपक्षमें रहे वह व्यभिचारी कहलाता है। साध्य है बुद्धिमन्निमित्तक और साधन है कार्य। तो देखो ! कार्यत्व हेतु वहाँ भी है जहाँ बुद्धि-मन्निमित्तकता नहीं है। यों कार्योंको बुद्धिमन्निमित्तकारणसे माना युक्त नहीं है।

प्रादेशिक ईश्वरज्ञानसे समस्त कारकोंका ज्ञाता हो जानेसे सिद्ध की जाने वाली बुद्धिमन्निमित्तकताकी आशंका व उसका समाधान—अब यहाँ वैशे-शिक कहते हैं कि यद्यपि ईश्वरका ज्ञान एकप्रदेशी है तो भी महेश्वरमें एकप्रदेशी ईश्वरज्ञानके द्वारा एक साथ समस्त कारकोंका ज्ञान कर लेते हैं। यही कारण है कि

वह समस्त कार्योंकी उत्पत्तिमें एक साथ सब कारकोंका प्रयोगता बन जाता है। तब तो समग्र शरीर इन्द्रिय आदिक कार्य बुद्धिमन्निमित्तक कारक हैं, यह सिद्ध हो ही जायगा। इसमें उपर्युक्त कुछ भी दोष नहीं आते। इस शङ्काके समाधानमें स्याद्वादी कहते हैं कि वैशेषिकोंका यह कथन ठीक नहीं है कि महेश्वर सब जगह है, बुद्धि कहीं एक जगह है और एक जगहकी बुद्धिके द्वारा वह महेश्वर सब कारकोंका ज्ञान कर लेता है और तब समस्त कार्योंका, कारकोंका प्रयोक्ता बन जाता है। यह कथन यों ठीक नहीं कि क्रमसे शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें वह महेश्वर निमित्तकारण नहीं बन सकता। इसका कारण यह है कि अब बात मान ली गई है यह कि ईश्वरका ज्ञान एक देशमें रहता है और ईश्वर समस्त कारकोंकी शक्तिका परिज्ञान कर लेता है और इस कारण वह समस्त कारकोंका प्रयोक्ता है। तो ऐसी स्थितिमें एक ही साथ सारे कार्योंकी उत्पत्ति जितने भविष्यकालमें होनी है, सभी कार्योंकी उत्पत्ति सभी जगह क्यों नहीं हो जाती? जब समर्थ निमित्तकारण मौजूद है अर्थात् महेश्वर सर्वत्र है और ईश्वर ज्ञानके द्वारा उसने समस्त कारकोंका साक्षात्कार कर लिया है तब और कमी क्या रह गई? फिर क्या वजह है कि समर्थ निमित्तकारणके रहनेपर भी सब कार्योंका उत्पाद नहीं होता। सारांश यह है कि महेश्वर ज्ञान शरीर इन्द्रिय आदिक कार्यका निमित्तकारण माना जाता है तो एक ही समयमें समस्त काल और समस्त देशमें होने वाले कार्य एक साथ उत्पन्न हो जाने चाहियें क्योंकि वह समस्त कारकोंका ज्ञाता है, प्रयोक्ता है, सब जगह है। तो वह जब योग्य पूर्णतया समर्थ है तो त्रैकालिक सब कार्य एक साथ उत्पन्न क्यों नहीं हो जाते? ऐसा होता तो नहीं है। इससे सिद्ध है कि महेश्वर विश्वके समस्त कार्योंका कारण नहीं है।

अन्य कारणान्तरोंसे युक्त होनेपर महेश्वरको जगत्कर्ता माननेपर अन्वयव्यतिरेक सिद्ध न होनेसे अकर्तृत्वका ही पोषण—अब यहां शङ्काकार कह रहे हैं कि हमारा कहना तो यह है कि केवल निमित्त कारणसे शरीर इन्द्रिय आदिक कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु समवायी कारण हो, असमवायी कारण हो और निमित्त कारण हो, तीन कारणोंके मिलनेपर ही कार्यकी उत्पत्ति हुआ करती है। सो ३ कारण एक साथ बन जायें, यह बात सम्भव नहीं है। कभी बनते हैं, तो यों क्रम सिद्ध हो जाता है। समस्त कार्य एक साथ उत्पन्न क्यों नहीं हो जाते, उसका कारण यह है कि यद्यपि महेश्वर निमित्त कारण सदाकाल है, किन्तु समवायी कारण और असमवायी कारण सदा नहीं हुआ करता है। इस कारण समवाय असमवाय कारणोंका अभाव होनेसे एक साथ सभी जगह कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होती। इस शङ्काके समाधानमें स्याद्वादी कहते हैं कि समवायी कारण असमवायी कारणके न होने पर निमित्त कारण कार्यको नहीं करता, इस कथनसे तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि कार्य ईश्वरज्ञानका अन्वय और व्यतिरेक दोनों असिद्ध हैं। देखिये! ईश्वरज्ञानके

होनेपर भी कितने ही कार्य समवायी कारण असमवायी कारणोंके अभावमें उत्पन्न नहीं हो रहे। और, जब समवायी कारण असमवायी कारण मिल जाते हैं तो कार्य उत्पन्न होते हैं। तब कार्योंका अन्वय व्यतिरेक अन्य कारणोंके साथ तो मिल गया पर ईश्वर ज्ञानके साथ अन्वय व्यतिरेक न बन सका। इस कारण शरीर इंद्रिय आदिक कार्योंको अन्य कारणोंके द्वारा उत्पन्न हुए मानना तो ठीक है, पर एक महेश्वरके कारण से उत्पन्न हुआ मानना ठीक नहीं है।

अवस्था विशेषकी अपेक्षासे महेश्वरका कार्यके प्रति अन्वयव्यतिरेक बतानेका शंकाकारका प्रयास-अब यहाँ वैशेषिक कहते है कि देखो! ज्ञानवान महेश्वर के होनेपर ही शरीर आदिक कार्य उत्पन्न होते हैं इस कारण तो महेश्वरका कार्योंके साथ अन्वय सिद्ध है। और विशिष्ट अवस्थाओंकी अपेक्षासे महेश्वरके व्यतिरेक भी सिद्ध है याने अन्य कारणोंसे युक्त महेश्वर जब नहीं होते तब कार्य नहीं होते, इस तरह विशिष्ट कार्योंकी अपेक्षासे वहाँ व्यतिरेक भी सिद्ध है। इस तरह व्यतिरेक भी सिद्ध है। इस तरह व्यतिरेक सिद्ध है कि कार्योंकी उत्पत्ति करनेमें समर्थ जो अन्य कारण हैं जैसे कि समवायी कारण और असमवायी कारण बताया गया है, उनका सन्निधान हुआ तो ऐसे सन्निधानसे युक्त महेश्वर जब न हुआ याने महेश्वर तो सदा है, पर कारण संयुक्त महेश्वर जब न हुआ तब उन कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होती। इस तरह विशिष्ट अवस्थाकी अपेक्षासे महेश्वरका सर्व विश्व कार्यके साथ व्यतिरेक भी सिद्ध होता है। यों अन्वय व्यतिरेक सिद्ध हो गया। कोई यहाँ यह आशङ्का न रखे कि अवस्थावानके होनेपर कार्योत्पत्ति नहीं होती। समस्त अवस्थाओंमें महेश्वरके होनेपर कार्यकी उत्पत्ति देखी जाती है अवस्थावानके न होनेपर कार्यका न होना भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अवस्थावान वह ईश्वर सदाकाल है, उसका कभी अभाव नहीं है। द्रव्यकी अवस्था विशेष न होनेपर उसके द्वारा साध्य कार्य विशेषकी उत्पत्ति नहीं होती है। इस तरह व्यतिरेक सिद्ध है, लो यों महेश्वरका शरीरादिक समस्त कार्योंके साथ अन्वय भी सिद्ध हो गया और व्यतिरेक भी सिद्ध हो गया। वस्तुतः अनादि अनन्त अवस्थावान द्रव्यका उत्पाद विनाशसे जो शून्य है ऐसा उस द्रव्यका अपलाप करना युक्त नहीं है, क्योंकि वह अवस्थित अन्वय ज्ञानसे सिद्ध है। कोई यह सोचे कि ऐसा कोई द्रव्य नहीं है जो अनादि अनन्त उत्पत्ति विनाशसे रहित हो ऐसा कोई अवस्थानवान पदार्थ नहीं है तो यह न कहा जा सकेगा क्योंकि हम सब जीवोंके अबाधित अन्वय ज्ञान बन रहा है, यह वही है जो पहिले था। बहुत कालमें रहने वाला अनेक अवस्थाओंमें रहने वाला कोई एक द्रव्य पदार्थ है, यह भली भाँति अन्वय ज्ञानसे सिद्ध हो रहा है। यदि उस अवस्थावान अनादि अनन्त द्रव्यका अपलाप कर दिया जाय तो क्षणिकवादका प्रवेश हो जायगा फिर स्याद्वादियोंकी इष्ट सिद्धि कहां रही? तो यह मानना चाहिए कि विशिष्ट अवस्थाकी अपेक्षासे महेश्वरका कार्योंके साथ व्यतिरेक सिद्ध होता है।

अवस्था विशिष्ट महेश्वरका कार्यके साथ अन्वय व्यतिरेक बनानेकी असंगतता—अब उक्त शङ्काके समाधानमें यहाँ वैशेषिक यों पूछे जाने योग्य हैं कि अवस्थावानसे अवस्था भी भिन्न है अथवा अभिन्न है ? अवस्थावान तो महेश्वर है और अवस्थामें बताया गया है कार्यके उत्पादन करनेमें समर्थ कारणोंसे युक्त होना। तो यों अवस्था अवस्थावानसे भिन्न है कि अभिन्न? यदि कहा जाय कि अवस्थावानसे अवस्था भिन्न है तब फिर किस अवस्था विशेषकी अपेक्षासे शरीरादिक कार्योंका ईश्वरके साथ साथ अन्वय व्यतिरेक लगाया जा सकता है याने अन्वय व्यतिरेक तो अवस्थाके साथ सिद्ध हुआ है। उस अन्वय व्यतिरेकको ईश्वरके साथ कैसे लगाया जा सकता है ? देखो जैसे इस पर्वतमें अग्नि है धुवाँ होनेसे इस अनुमानमें धुवाँका ही अग्निके साथ अन्वय व्यतिरेक पाया जा रहा तो अन्वय व्यतिरेक धूमका पावकके साथ बनेगा न कि पर्वत आदिक पदार्थोंके साथ अन्वय व्यतिरेक बन सकेगा, क्योंकि पर्वतका उस अग्नि विशिष्ट अवस्थासे भेद यहाँ बना हुआ है। यहाँ शङ्काकारका पक्ष यह चल रहा है कि अवस्था अवस्थावानसे भिन्न होती है। तो जैसे पर्वत आदिकसे अग्निकी भिन्नता है उसी प्रकार ईश्वरसे अन्य कारणोंके सन्निधानकी भिन्नता है अवस्था विशेष अन्य कारणोंका सन्निधान ही तो कहा गया है तो अन्य कारणोंका सन्निधान रूप अवस्था विशेष ईश्वरसे भिन्न माना है तो दोनों ही जगह भिन्नताकी अविशेषता है तो जैसे धूम का पावकके साथ अन्वय व्यतिरेक होनेपर पर्वतके साथ अन्वय व्यतिरेक नहीं लगाया जा सकता, इसी तरह अवस्थाका कार्योंके साथ अन्वय व्यतिरेक होनेपर महेश्वरके साथ अन्वय व्यतिरेक नहीं लगाया जा सकता। अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि यद्यपि ईश्वरका अवस्थासे भेद है अवस्था याने कारणान्तरका सन्निधान ये भिन्न चीज दे और ईश्वर भिन्न चीज है तो अवस्था भेद होनेपर भी अवस्थाओंका उस ईश्वर के साथ सम्बन्ध मौजूद है, इस कारणसे ईश्वरके साथ अन्वय व्यकिरेक विधान बन जायगा क्योंकि अवस्थाके साथ कार्योंका अन्वय व्यतिरेक है। और अवस्थाका ईश्वरसे सम्बन्ध है। इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं तब तो इसी तरह पर्वतका भी पावकके साथ सम्बन्ध है तो धुवेंका अग्निके साथ जो अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध बना है सो वह सम्बन्ध पर्वतके साथ भी बन बैठेगा क्योंकि पर्वतका अग्निके साथ सम्बन्ध है। यदि शङ्काकार यह कहे कि अग्नि विशिष्ट पर्वतके साथ अन्वय व्यतिरेक, धूमका हम मान ही रहे याने धुवेंका अग्नि विशिष्ट पर्वतके साथ अन्वय व्यतिरेक माननेमें कोई बाधा नहीं और उसी प्रकार अवस्था विशिष्ट ईश्वरके साथ शरीरादिक कार्योंका अन्वय व्यतिरेक माननेमें भी कोई बाधा नहीं है। इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि यह कथन यों ठीक नहीं है कि फिर तो पर्वत आदिककी तरह ईश्वरमें भी भेद प्रसङ्ग हो जायगा। जैसे कि अग्नि विशिष्ट पर्वतसे भिन्न अग्नि रहित पर्वत कोई हुआ करता है इसी प्रकार अन्य कारणोंके सन्निधानरूप अवस्थासे विशिष्ट ईश्वरसे पहिले कारणान्तरके सन्निधानमें रहित ईश्वर क्यों न सिद्ध हो जायगा ? याने अब ईश्वरमें

भेद बन गया। ईश्वर कारणान्तरके सन्निधानरूप अवस्थासे युक्त है और अवस्थासे रहित भी है तब तो महेश्वर अनेक स्वभाव सिद्ध हो गया।

सत्ता सामान्यकी तरह विशेषण विशिष्ट होनेपर भी ईश्वरके एकत्व का शंकाकार द्वारा समर्थन—यहाँ वैशेषिक कहता है कि हमारा अभिप्राय तो यह है कि जैसे सत्ता सामान्य द्रव्यादिक अनेक विशेषणोंसे विशिष्ट होनेपर भी उसके उन विशेषणोंसे भेद नहीं होता, वह एक ही बना रहता। जैसे पृथ्वी सदा सत् है ऐसा कहनेमें पृथ्वी अलग हो जाय, सत्ता अलग हो जाय, यह कथन तो ठीक नहीं है। पृथ्वी सत्ताविशिष्ट है ऐसा कहनेसे क्या कोई यह अर्थ लगा लेगा कि कोई पृथ्वीं सत्ता रहित भी होती है ? न लगा सकेगा ! तो जैसे सत्ता सामान्य द्रव्यादिक अनेक विशेषणोंसे विशिष्ट होनेपर भी सत्तामें भेद नहीं है, वह एक ही बना रहता है। अथवा जैसे समवाय अनेक समवायी विशेषणोंसे विशिष्ट होनेपर भी एक ही रहता है, अनेक नहीं हो जाते, इसी तरह यहाँ भी घटित करें कि ईश्वर अनेक अवस्थाओंसे विशिष्ट होने पर भी वे ईश्वर नाना नहीं हो जाते। देखिये समवाय एक है और कई पदार्थों और विशेषणोंमें वह पाया जाता है। शुक्लामें शुक्लत्वका समवाय है, पृथ्वीमें पृथ्वीत्वका समवाय है। यों विशेषणोंके भेद होनेपर भी समवाय एक ही रहता है। अनेक नहीं होता, इसी तरह अवस्था विशेषसे विशिष्ट होनेपर भी महेश्वर नाना नहीं होता है।

विशेषणविशिष्टताकी अपेक्षा सत्ता समवाय व ईश्वर सभीमें अनेकताकी सिद्धि बताते हुए उक्त शङ्काका समाधान—उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि यह बात शङ्काकार अपने ही घरमें बैठा हुआ मान रहा है। सत्ता सामान्य और समवायका भी अपने विशेषणके भेदसे भेद पायगा ही। सामान्य और समवाय भी भेदका उल्लंघन न कर सकेंगे, जबकि उन्हें विशेषणोंसे विशिष्ट माना जा रहा है। वह सत्ता सामान्य और समवाय भी एकानेक स्वभावरूप होनेसे ही प्रमाणके विषयभूत हो सकता है। प्रमाणका विषयभूत सामान्य विशेषात्मक पदार्थ होता है। सामान्यसे वह एक है, तो विशेशसे वह अनेक है। तो ऐसे ही सत्ता और समवाय भी एक है तो विशेषकी अपेक्षा किससे सम्बन्ध है, किसमें तन्मय है, सत्ता किसमें तन्मय है, ऐसे विशेषकी दृष्टिसे वह अनेक है। इस कथनसे वैशेषिकोंका यह मानना भी निराकृत हो जाता है कि चाहे कितने ही मूर्तिमान द्रव्योंका संयोग बना हो फिर भी आकाश एक है या अन्य विभु द्रव्य एक है। और जब उस एकको किन्हीं विशेषणोंसे विशिष्ट निरखा जा रहा हो तो एक कैसे रहेगा ? वह भी अपने विशेषणोंके भेदसे भिन्न प्रतीत होता है और ये समस्त पदार्थ एक अनेक स्वभाव वाले व्यवस्थित हो जाते हैं। अब शङ्काकार पूर्व विकल्पका समाधान पाकर द्वितीय विकल्पमें आता है। उसका कथन है कि हम अवस्थाको अवस्थावानसे भिन्न नहीं मानते। जिन अवस्था-

ओंसे संयुक्त अवस्थावान महेश्वरके साथ शरीर इंद्रिय आदिक कार्योंका अन्वय व्यतिरेक मान रहे हैं उन अवस्थाओंसे हम अवस्थावान महेश्वरको भिन्न नही मानते। तो इन विकल्पोंका यह उत्तर है कि यह अवस्थाओंसे अवस्थावान भिन्न नहीं है तो एक होनेका अर्थ तो यह है कि जो बात अवस्थाओंमें पायी जाय वही बात अवस्थावानमें मिलेगी। तो अवस्थायें तो नाना हैं तब अवस्थावान महेश्वर भी नाना होने पड़ेंगे, अथवा अवस्थावान जब एक माना है और उसकी अवस्था अभिन्न माना है तो अवस्थावानकी तरह अवस्था भी एक क्यों न हो जायगी ? अभेदमें तो एक दूसरेंरूप परिणति हो जाया करती है। तो यों अवस्थाओंकी अपेक्षासे भी महेश्वरमें अन्वय व्यतिरेक सिद्ध नहीं कर सकते।

अवस्था और ईश्वरमें भेद माननेपर धर्म धर्मीरूप व्यवहारकी भी असिद्धि— इस प्रसङ्गमें वैशेषिक कहते हैं कि यद्यपि अवस्थायें अवस्थावानसे अलग नहीं हैं, एक हैं, अभिन्न हैं, फिर भी एक नहीं कहला सकते। इसका कारण यह है कि वे अवस्थायें तो धर्म हैं और अवस्थावान धर्मी है। धर्म धर्मीसे अभिन्न नहीं होता, अन्यथा धर्म धर्मीवान ही न बोल सकेंगे। धर्म अपना अस्तित्व रखता है, धर्मी अपना अस्तित्व रखता है, यह बात धर्म और धर्मी इस प्रकाके भेद व्यवहारसे प्रसिद्ध है तो अवस्थायें अवस्थावानसे अभिन्न हैं, फिर भी वे एक नहीं हो जाती हैं। इस तरह धर्म और धर्मीमें भेद सिद्ध है। तो धर्मोंके भेदसे धर्मीका भेद नहीं माना जा सकता। जिससे कि अवस्थाओंके भेदसे ईश्वरमें भेद कर दिया जाय। अवस्थायें और ईश्वर यद्यपि भिन्न-भिन्न नहीं हैं फिर भी अवस्थायें तो नाना हैं, ईश्वर एक है। अवस्थायें अवस्थावानसे अन्य पदार्थोंकी तरह भिन्न नहीं है। इसपर भी अवस्थायें उसका धर्म है और अवस्थावान धर्मी है। उन अवस्थाओंका धर्मी महेश्वर है। इस तरह अवस्था और अवस्थावानमें जो धर्म धर्मी भाव सिद्ध है उससे यह प्रकट है कि धर्म नाना होते हैं धर्मी नाना नहीं हुआ करते हैं। इस कारण अवस्थाओंके नाना होनेसे ईश्वरको भी नाना हो जानेका प्रसङ्ग नहीं आता या ईश्वरके एक होनेसे अवस्थाओंके भी एक होनेका प्रसङ्ग नहीं आ जाता। समाधानमें कहता है कि शङ्काकारका यह कथन अपने मनोरथमात्र है। केवल अपनी कल्पनामें मान लिया है कि धर्म और धर्मी अभिन्न हैं फिर भी धर्म नाना हैं। धर्मी एक है अरे धर्मीका धर्मके साथ यदि अवस्था भेद मान लिया जाय तो उनमें धर्म धर्मी भावका विरोध हो जायगा, फिर वह धर्म धर्मी न कहला सकेगा। जैसे विन्ध्याचल पर्वत और हिमालय ये भिन्न भिन्न हैं, तो इसमें कोई क्या यह कह सकता है कि अमुक पहाड़ धर्म है और अमुक पहाड़ धर्मी है। इस प्रकार अवस्था और महेश्वरमें भेद माननेपर उनमें धर्म धर्मी भाव सिद्ध नहीं किया जा सकता।

अबाधित इहेदं प्रत्ययके द्वारा भिन्न ईश्वर व ज्ञानमें भी सम्बन्ध मान

लेनेका शङ्काकारका प्रस्ताव— शङ्काकार कहता है कि धर्म और धर्मीका सर्वथा भेद माननेपर भी चूंकि वहाँ बाधारहित एक ज्ञानविशेष बनता है कि यह उसका है। तो यों निर्बाध ज्ञानका विषय होनेके कारण धर्म धर्मी भावमें विरोध नहीं है। यह धर्म इस धर्मीका है, ऐसा चूंकि ज्ञान होता है स्पष्ट इस कारण धर्म धर्मी भिन्न होने पर भी धर्म धर्मी भावके माननेमें विरोध नहीं है। लेकिन विन्ध्याचल और हिमालय आदिक अत्यन्त पृथक पदार्थोंमें निर्बाध धर्म धर्मीका ज्ञान भी नहीं होता। तो यों धर्म धर्मीके ज्ञानका विषयपना न होनेके कारण धर्म धर्मी भावकी व्यवस्था नहीं बनती। तो स्याद्वादियोंने यह आपत्ति दी थी कि धर्म धर्मीमें भेद होनेपर हिमालय और बिंध्याचलकी तरह धर्म धर्मीकी व्यवस्था न बनेगी, ऐसा नहीं कह सकते। इस पर्वत में तो धर्म धर्मीका ज्ञान नहीं हो रहा और ईश्वर ज्ञान अथवा ईश्वर ज्ञानके साथ अन्य सहकारी कारणोंके बिना निर्बाध बोध हो रहा है इसलिए धर्म धर्मी भावकी व्यवस्था बन जायगी। हम लोग भेदसे ही धर्म धर्मीकी व्यवस्थाका कारण नहीं कहते। भेद होनेसे धर्म धर्मीकी व्यवथा होती है, यह तो हमारा अभिप्राय है ही नहीं, जिससे कि भेद होनेपर धर्म धर्मीका विरोध दिखाया जाय और इसी प्रकार सर्वथा अभेदसे भी कुछ धर्म धर्मी भावकी व्यवस्थाका कारण नही मानते। उसमें भी धर्म धर्मी भावका विरोध नहीं बताया जा सकता। तो भेद होनेसे अथवा अभेद होनेसे धर्म धर्मी भावकी व्यवस्था नहीं होती, किन्तु ज्ञान विशेषसे धर्म धर्मी भावकी व्यवस्था बतायी गई है सो वैशेषिकोंके यहाँ सर्वत्र अबाधित ज्ञानके उपायसे ही धर्म धर्मी भावका सद्भाव माना गया है। यदि वहाँ अबाधित प्रत्ययका विरोध हो तो धर्म धर्मी भावमें विरोध सिद्ध होगा।

भिन्न पदार्थोंमें इहेदं प्रत्ययमें बाधा बताते हुए उक्त शंकाका समाधान-शङ्काकारकी उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि ऐसा कहने वाला यह वैशेषिक अपने दर्शनके अनुरागमें मुग्ध हो गया है। सो वह बाधक प्रत्यय को देख भी रहा है फिर उसको मानते नहीं हैं। पहिले तो यह ही बतलाइये कि जहाँ धर्मीका एकान्त हुआ वहाँ धर्म धर्मी ज्ञानका विषय ही नहीं बन सकता। अत्यन्त भिन्न दो चीजें हों उनमें यह ज्ञान कैसे बनेगा कि यह धर्म है यह धर्मी है। जैसे कि विन्ध्याचल और हिमालयमें भेद है तो धर्म धर्मी ज्ञानका विषय भी नहीं हो पाता, तो चूंकि धर्म धर्मी ज्ञान विशेष नहीं हो सकता है जहाँ कथञ्चित् भेद स्वीकार किया जाय। शङ्काकार कहता है कि ईश्वर और ईश्वरके ज्ञानमें, अवस्थावोंमें भेद है तो भी उनमें प्रत्यासत्ति विशेष है, खास सम्बन्ध है, उस सम्बन्धके कारण धर्म धर्मीके प्रत्ययका उद्भव हो जाता है। परन्तु हिमाञ्चल, विन्ध्याचल पर्वतमें प्रत्यासत्ति विशेष नहीं है इस लिए वहाँ धर्म धर्मीका बोध न हो सकेगा। तो ईश्वर और ईश्वरकी अवस्थाओंमें धर्म धर्मी-पना जब सिद्ध कर रहे हैं तो उसका विरोध करनेके लिए विन्ध्याचल और हिमालय

जैसे अत्यन्त पृथक् पदार्थोंका उदाहरण देना उचित नहीं है। इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि ऐसा माननेपर भी शंककारकी इष्ट सिद्धि नहीं हो सकती। कारण कि वह धर्म धर्मीसे भिन्न है तो धर्मधर्मीकी यह प्रत्यासत्ति है यह भी कैसे कहा जा सकता है ? धर्म धर्मीमें कोई सम्बन्ध विशेष बतला रहे हों तो हम उसी सम्बन्ध विशेषके बारेमें कह रहे हैं कि यह भी तो धर्म धर्मीसे भिन्न नहीं है विशेषवादके सिद्धान्तकी जड़ ही भेद है। विशेषवाद कहो या भेदवाद कहो तब ही तो द्रव्य गुण, कर्म सामान्य विशेष समवाय ये भिन्न-भिन्न पदार्थ मान डाले गए हैं। भली प्रकार कोई सोचे तो गुण द्रव्यसे न्यारा कहां रहता है ? जिस समय क्रिया द्रव्यमें हो रही है तो वह द्रव्यमें हो रही है तो वह द्रव्यमें हो तो चल रहा है, अलग कहाँ है ? द्रव्य का सामान्य अलग कहाँ है ? द्रव्यका विशेष न्यारा कहाँ है ? और जब यह कुछ भेद नहीं है तो समवायकी कहाँ कल्पना उठाना योग्य है ? तो यों विशेषवादका सिद्धान्त भेदके आधारपर ही बना हुआ है। तो धर्मधर्मीका प्रत्यासत्तिमें सम्बन्ध बताते हो तो वह प्रत्यासत्ति भी तो धर्म धर्मीसे भिन्न है। तब फिर यह प्रत्यासत्ति धर्म धर्मीके हैं यह भी नहीं कहा जा सकता। और कहेंगे तो फिर वहाँ ही कहा जायगा और हिमालय और विन्ध्याचल पर्वतमें प्रत्यासत्ति न कही जाय इसका कारण तो बताओ! तो धर्म धर्मीकी यह प्रत्यासत्ति है, यह सिद्ध करनेके लिये कारण बतायें। यदि शङ्काकार कहे कि अन्य प्रत्यासत्ति प्रत्यासत्तिको धर्म धर्मीको जुटानेके कारण बनती है तब तो वह दूसरी प्रत्यासत्ति इन दोनों धर्मोंकी प्रत्यासत्तिकी प्रत्यासत्ति है, इसके सिद्ध करनेके लिए और तीसरी प्रत्यासत्ति कहनी होगी, इस तरह अनवस्था दोष आयगा। तो प्रकृत (पहिले) प्रत्यासत्तिके नियमकी व्यवस्था ही नहीं बन सकती।

भिन्न पदार्थोंमें धर्म धर्मीकी व्यवस्था बनानेके लिये प्रत्यासत्तिविशेष बतानेका विफल प्रयास—यदि शङ्काकार यह कहे कि धर्म धर्मीकी यह प्रत्यासत्ति है यह व्यवस्था प्रत्ययविशेषसे बन जायगी, याने उसमें जो ज्ञानविशेष होता है कि यह प्रत्यासत्ति धर्म धर्मी की है इस ज्ञानविषेशसे व्यवस्था बन जायेगी तब उत्तर कि इतना ही है वस्तुका ही तो विचार चल रहा है कि यह प्रत्ययविशेष कैसे बन गया जिसके लिये जवाब देते हुये प्रत्यासति भी बनी। और जब हम यह पूछते हैं कि यह प्रत्यासति किसके है यह कैसे जाना ? तो कहते हैं कि इसी तरहका ज्ञान होरहा उससे जाना। तो अब सोचिये कि यदि प्रत्ययविशेषसे धर्म धर्मीके सम्बन्धकी कोई व्यवस्था बनाई जायेगी तो यहां यह विचारना है कि वह जो प्रत्ययविशेष हुआ, ज्ञान विशेष हुआ तो क्या सम्बन्धका सम्बन्ध वालोंमें सर्वथा भेद माननेपर याने धर्म और धर्मीको भिन्न माननेपर ईश्वर और उसकी अवस्थामें सम्बन्ध है। इसतरहसे उत्पन्न होता है या सम्बन्ध सम्बन्धवानमें अभेद माननेपर वह सम्बन्धका ज्ञानविशेष उत्पन्न होता है या उनमें कथञ्चित तादात्म्य मानने पर वह ज्ञानविशेष उत्पन्न होता

हैं। सर्वथा भेद माना तो बाधा, सर्वथा अभेद माना तो बाधा और इस सम्बन्धमें अनेक दोषोंकी कथनी पहले कही जा चुकी है। तो सर्वथा भेद या सर्वथा अभेद स्वीकार करनेपर सम्बन्ध वाला ज्ञानविशेष उत्पन्न नहीं हो सकता। अब रह जाता है विचारणीय कथञ्चित तादात्म्य, सो हाँ कथञ्चित तादात्म्य माननेपर धर्म धर्मीका यह प्रत्ययविशेष उत्पन्न होते हैं लेकिन इस तरह ईश्वर और की अवस्थामें कथञ्चित तादात्म्य मान लिया जाय तो यह दोष आता है कि अवस्थाऐ जब अनेक हैं तो ईश्वर अनेक हो जायेंगे अथवा ईश्वर एक है तो अवस्था याने धर्म एक हो जायगा।

धर्म धर्मीके अर्थचित् तादात्म्य विषयक वैशेषिकोंका असङ्गत उलाहना

अब वैशेषिक कहते हैं कि जरा स्याद्वादी भी तो अपने घरकी गल्ती देखें ! एक और अनेक में कथञ्चित् तादात्म्य होना ही धर्म और धर्मीकी प्रत्यासत्ति स्याद्वादियोंने कहा है। तो जरा वे बतायें कि यह उनका व्यपदेश, वह उनका तादात्म्य यदि एक और अनेक दोनोंसे भिन्न है तो यह तादात्म्य इसका है यह व्यपदेश कैसे हो सकेगा ? और यदि वह तादात्म्य एक अनेकसे भिन्न है तो अभिन्नके होनेपर सब एक कहलाया फिर कौन किसके द्वारा कहा जायगा ? याने एक अनेकसे तादात्म्यकी अभेद वृत्ति मान लेनेसे दोनोंकी एकरूप परिणति हो जायगी। फिर किसके द्वारा कौन कहा जायगा ? यदि स्याद्वादी यह कहें कि उन दोनोंसे तादात्म्य कथंचित् भिन्न है, कथंञ्चित् अभिन्न है। तब उसका यह तीसरा कथञ्चित भिन्न अर्थचित अभिन्न सम्बन्ध मानना पड़ेगा और इस तरह अनवस्था दोष आयगा। एक अनेकमें कथंचित् तादात्म्य सिद्ध करनेके लिये दूसरा कथञ्चित तादात्म्य माननेपर उसका भी सम्बन्ध सिद्ध करके के लिये कथञ्चित तादात्म्य तीसरा माने यों अनवस्था बन जायगी। जब यह अनवस्था कथंचित् तादात्म्यको स्वीकार न करने देगी तब एक अनेकमें कथञ्चित् तादात्म्य वाली बात तो निर्दोष न बनी। मगर इस अनवस्थाको दूर करना चाहते हैं तो कथंचित् तादात्म्यको धर्म धर्मीसे जुदा ही स्वीकार करना होगा। वैशेषिक यहाँ यह कथन कर रहे हैं जैसा कि उनके सिद्धान्त भेदवादपर निर्भर है। उसी दृष्टिको बतला रहे हैं कि स्याद्वादियोंके यहाँ भी जो एक अनेकका कथंचित् तादात्म्य माना सो उस तादात्म्यमें भेद ही मानना पड़ेगा। तो जब धर्म धर्मीके कथञ्चित् तादात्म्यसे भिन्न माननेसे ही पूरा पड़ सकता हुआ तो मूलमें धर्म और धर्मीमें भेद मान लीजिए, जिसे आगे जाकर स्वीकार करना पडेगा, उसे पहलेसे ही क्यों न स्वीकार करलें ! उस भेदको स्वीकार न करनेपर धर्म धर्मीमें जो भेद व्यवहार प्रसिद्ध है वह न बन सकेगा। उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि ऐसी शङ्का करने वाले विशेषवादीकी अज्ञता ही प्रकट होती है। मानो अज्ञानसे उनका मन आकुलित हो बैठा हो। बात यह है कि कथंचित् तादात्म्यको ही धर्म धर्मीका सम्बन्ध कहा करते हैं सो वह कथंचित् तादात्म्य धर्म धर्मीका सम्बन्ध उन दोनोंसे विजातीय होनेके कारण वह अपृथक ही सिद्ध होता है। धर्म और धर्मीमें भेदभाव है। यह व्यवहार कहीं दूसरे सम्बन्धके

कारण नहीं बनता, किन्तु स्वतन्त्रतासे ही यह व्यवहार चलता है और जब स्वरूपत: धर्म धर्मीमें व्यवहार चलता है तो अन्य कथंचित् तादात्म्यके माननेकी जरूरत नहीं है और इसी कारण अनवस्था दोष भी नहीं आता। इसी कथंचित् तादात्म्यको धर्म धर्मीमें कथंचित् तादात्म्य प्रसिद्ध है और धर्म धर्मीका कथंचित् तादात्म्य है, यह ज्ञान भी सिद्ध होता है।

तादात्म्यका सम्बन्ध सम्बन्धवानोंमें अभेद प्रसिद्धि व तत्त्वबोधके लिये भेदप्रसिद्धि कथञ्चित् तादात्म्य भेदाभेदरूप माना गया है। वस्तुत: कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद ये दोनों ही कथञ्चित् तादात्म्य कहलाते हैं। जब धर्म धर्मी में कथञ्चित् भेदकी विवक्षा होती है तब धर्म और धर्मीका कथञ्चित् तादात्म्यका सम्बन्ध कारकके ढङ्गसे भेद विभक्त बनता है। धर्मीका धर्म इस तरह भेदको प्रसिद्ध करने वाले षष्ठी विभक्ति हुआ करती है और उसमें भेद व्यवहार किया जाता है। इस प्रसङ्गमें जरा देखिये तो सही कि षष्ठी विभक्ति भेद ज्ञापक है, लेकिन मोहियोंने षष्ठी विभक्तिका उपयोग अभेद प्रयोगमें किया है। जैसे यह मेरा पुत्र है, यह मेरा धन है, तो षष्ठीके प्रयोगसे ही यह सिद्ध होता है कि बिल्कुल जुदे जुदे हैं। लेकिन मोह अवस्थामें लोग उसका अभेद बना लेते हैं, मेरा ही है, मुझमें ही मिला हुआ है। तो षष्ठी विभक्ति भेदज्ञापक हुआ करता है। धर्म धर्मीका कथञ्चित् यादात्म्य है, ऐसा षष्ठी विभक्तिके माध्यमसे जो प्रयोग किया गया वह है कथञ्चित् भेदकी विवक्षाका परिणाम। अब आगे देखें! जब वहाँ कथञ्चित अभेदकी विवक्षा की जाती है तो इस तरहका अभेद व्यवहार वहाँसे उठता है कि धर्म और धर्मी ही कथञ्चित तादात्म्य है, क्योंकि धर्म धर्मीसे अलग कोई भेदाभेद नहीं है। याने कथञ्चित भेद धर्म धर्मीसे अलग कोई भेदा भेद नहीं है। याने कथञ्चित भेद धर्म धर्मीसे अलग हो या कथंचित अभेद धर्म धर्मीसे अलग हो ऐसा नहीं है। धर्म ही धर्मीरूपसे कभी परखा जाता, यह भेद और अभेद विवक्षाका परिणाम है। वास्तवमें धर्म ही कथञ्चित भेद है और धर्मी ही कथञ्चित् अभेद है और धर्म धर्मी ये दोनों ही कथञ्चित् भेदाभेद हैं, इसीको कहते हैं कथञ्चित यादात्म्य। तो स्याद्वादियोंके कथञ्चित तादात्म्यका उदाहरण देकर ईश्वर और ईश्वरकी अवस्थामें सम्बन्ध सिद्ध करनेका साहस एक दु:साहस है। देखिये! तादात्म्य शब्दका व्युत्पत्य अर्थ क्या है? तादात्म्य शब्दकी व्युत्पत्ति है—तस्य आत्मानौ यदात्मानौ तयोर्भावस्तादात्म्यम् अर्थात् वस्तुके जो दो स्वरूप हैं आत्मा है, उसे कहते हैं तदात्मा। और तदात्माका जो भाव है उसे कहते हैं तादात्म्य! तादात्म्य शब्दका ही अर्थ है भेदोभेद स्वभावपना। वस्तुके दो स्वरूप हैं! एक भेद और दूसरा अभेद। इन दोनोंको ही तादात्म्य कहा जाता है। और, तादात्म्यके साथ कथञ्चित् शब्द लगा देनेसे परस्पर निरपेक्ष भेद और निरपेक्ष अभेदका निराकरण हो जाता है। जब भेद पक्षमें जो दोष दिया गया वह कथञ्चित तादात्म्य माननेपर नहीं आता और

अभेद पक्षमें जो दोष दिया गया वह भी कथञ्चित तादात्म्य माननेपर नहीं आता। तो एक अनेकमें, द्रव्य पर्यायमें कथञ्चित तादात्म्यका बोध किया गया है।

सापेक्ष भेदाभेद स्वीकारतासे अनेक मिथ्या आशयोंका निराकरण — अब यहाँ एक नई बात यह भी समझ लेना है कि परस्पर सापेक्ष भेद अभेदका ग्रहण किया जानेसे सर्वथा भेदाभेदसे विलक्षण कथञ्चिक भेदाभेदरूप वस्तुकी व्यवस्था बनती है और जब कथंचित् भेदाभेद रूप वस्तु हो तो सर्वथा शून्यवाद भी खण्डित हो जाता है। अतएव स्याद्वादनयके विवेचन करने वाले विद्वान् वस्तुको कथचित् भेदाभेदरूप मानते, कथंचित् धर्मधर्मी रूप कहते, कथंचित् द्रव्य पर्याय रूप कहते। इसी तरह स्याद्वादके न्यायमें जिनको निष्ठा है उन्होंने वस्तुके स्वरूपकी ऐसी प्रतिष्ठा की है। हमें इनकी तरह प्रतिष्ठा मान लेनी चाहिये जैसे सामान्य और विशेष तथा मेचक ज्ञान। क्षणिकवादियोंके यहाँ मेचक ज्ञान माना गया है तो नाना चित्र-विचित्र पदार्थोंका प्रतिभास है, फिर भी वह एक ज्ञान है तो उससे ही तो सिद्ध हुआ कि वह ज्ञान सामान्यविशेषात्मक है। नैयायिक और वैशेषिक तो द्रव्यत्व आदिकको सामान्य और विशेष दोनों रूप मानते हैं। मानना पड़ता है और सामान्य विशेषरूप मानकर अभेद भेदरूप मानते हैं। बौद्ध भी देखलो मेचक ज्ञानको नील आदिक अनेक रूप मानते हैं। और उन रूपोंसे भेदरूप स्वीकार करते हैं। जो उनके भी इस छुटपुट कथनके द्वारा यह सिद्ध हुआ कि सब पदार्थ कथञ्चित भेदाभेदरूप हैं। कथंचित धर्मीधर्मरूप हैं और कथंचित द्रव्यपर्यायरूप है, ऐसी कथंचित भेदाभेदकी व्यवस्था होनेसे यहाँ विरोध वैयाधिकरण्य आदिक कोई दूसरा उपस्थित नहीं होते।

ईश्वरज्ञान व कार्यके साथ अन्वयव्यतिरेकाभावकी तरह द्रव्य व पर्यायके साथ भी अन्वयव्यतिरेकाभावके प्रसङ्गका शङ्काकार द्वारा कथन— अब यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि स्याद्वादियोंके यहाँ भी तो ऐसा ही दोष आता है कि जैसा दोष महेश्वरज्ञान और कार्योंके साथ अन्वयव्यतिरेकका विरोध कहा गया है। देखिये ! स्याद्वादी मानते हैं कि द्रव्यमें पर्यायके कारण अगली पर्यायकी उत्पत्ति होती याने पूर्व पर्यायको हेतु और उत्तरपर्यायको कार्य मानते हैं किन्तु यह बतायें ये स्याद्वादी कि द्रव्य तो नित्य होता है, सो द्रव्यके साथ कार्योंका अन्वय व्यतिरेक घटित नहीं हो सकता। जैसे कि हमारे प्रति कहा गया था कि ईश्वर तो नित्य है तब उसके साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध नहीं बन सकता। ईश्वरके होनेपर हो और ईश्वर के न होनेपर न हो, यह बात अन्वय सम्बन्ध में नहीं बनती। ऐसे ही द्रव्यके होनेपर कार्य हो, द्रव्यके न होनेपर कार्य न हो यह बात नहीं बन सकती। क्योंकि द्रव्य सदा है। तब सारे कार्य एक साथ हो जाने चाहियें। द्रव्य तो सदा काल रहता हैं तब समस्त कार्यों की उत्पति एक साथ हो जानी चाहिये। द्रव्यका कभी अभाव

नहीं होता, इस कारण व्यतिरेक व्याप्ति न नहीं सकती है। तो द्रव्य के साथ अन्वय व्यतिरेक तो बना नहीं। अब पर्यायकी बात देखिये पर्यायें क्षणिक होती हैं। इसकारण उनके साथ कार्यका अन्वय व्यतिरेक नहीं बन सकता। पूर्व पर्याय नष्ट हो जानेपर अब वह पूर्व पर्याय जब असत हो गयी तब उत्तर कार्यकी उत्पति हुई। तो कैसे कारण कहा जायगा ? और पूर्व पर्याय जब तक मौजूद थी तब तक कार्य उत्पन्न नहीं होता तो कैसे व्याप्ति बन जायगी ? यदि अभाव होनेपर भी कार्य बने और होनेपर कार्य न बने और फिरभी सम्बन्ध मानलें तो एक क्षणमें ही सर्व पर्यायों का सद्भाव सिद्ध हो जायगा तब अविनाभाव तो न रहा तो पर्यायों के साथ भी कार्यका अन्वय व्यतिरेक नहीं बनता। यदि स्याद्वादी यह कहें कि द्रव्यके होनेपर ही कार्यकी उत्पत्ति होती है इस कारणसे तो अन्वय सिद्ध है और उन कार्योंके निमित्त भूत पर्यायका अभाव होनेपर कार्यकी अनुत्पत्तिहोती है इस तरह व्यतिरेक सिद्ध हो जायगा। यों कार्य का अन्वय व्यतिरेक का विधान बन जायगा। तब वे शैषिक कह रहे हैं कि यह बात तो हम ईश्वर के सम्बन्ध में कह रहे हैं कि ईश्वर की इच्छा और ज्ञान नित्य है। तो नित्य होनेपर भी उनके होनेपर शरीरादिक कार्यों का सद्भाव बनता है, इस कारणसे अन्वय बन गया। अन्वयकी यही तो मुद्रा है कि उसके होनेपर होना। अब व्यतिरेक देखिये ! किस तरह बनता है कि ईश्वर अथवा इच्छा विज्ञानके सहकारी कारणरूप जो अवस्था नहीं हैं तो अवस्थाके न होनेमें कार्य नहीं बना। यों व्यतिरेक बन गया। इस तरहका अन्वय व्यतिरेक हमारा ही मान लीजिए। द्रव्य पर्यायके अन्वय व्यतिरेकके समान हमारे ईश्वरज्ञान और कार्यका अन्वय व्यतिरेक बन जाता है। तब तो समस्त कार्य बुद्धिमन निमित्तक हुए, यह बात सिद्ध हो ही जाती है।

द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुमें कार्यका अविरोध बताते हुए उक्त शङ्काका समाधान--उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि स्याद्वादियोंके द्रव्यपर्यायकी बात मानकर उलहना देने वाले विशेषवादी कार्यकारण भावको समझने वाले नहीं हैं। स्याद्वादियोंके पर्यायनिरपेक्ष द्रव्यको अथवा द्रव्यनिरपेक्ष पर्यायको अथवा परस्पर निरपेक्ष द्रव्यपर्यायको कार्यकारी नहीं मानते हैं। पर्यायशून्य द्रव्य कार्यकारी नहीं है, द्रव्यशून्य पर्याय कार्यकारी नहीं है। प्रथम तो यह बात है कि पर्यायशून्य द्रव्य द्रव्य कभी भी नहीं है और द्रव्यशून्य पर्याय भी कभी नहीं है। तो परस्पर निरपेक्ष होकर ये द्रव्य पर्यायें कार्यकारी नहीं मानी गई हैं। क्योंकि निरपेक्ष द्रव्य या पर्याय कुछ भी कार्य कर सके, ऐसी प्रतीति नहीं देखी गई है। द्रव्यपर्यायात्मक ही जात्यंतर वस्तुके अतिरिक्त न केवल द्रव्य, न केवल पर्याय, किन्तु द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु ही कार्यकारी रूपसे लोगोंको विदित है और कार्यकारण भाव भी द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुकी ही प्रसिद्धि है। अब देखिये ! वस्तु द्रव्य रूपसे तो अन्वयज्ञानका विषयभूत है सो अन्वय

ज्ञानके विषयभूत वस्तुके होनेपर ही कार्यकी उत्पत्ति होती है तब अन्वय बन गया और उस कार्यके निबंधन भूत हेतुभूत पर्याय विशेषके उत्पन्न होनेपर कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है। सो यहाँ व्यतिरेक बन गया। इस तरह द्रव्य पर्यायात्मक वस्तुका कार्यके साथ अन्वय व्यतिरेक बनता है और यों कार्यकारण भेद सिद्ध होता है। दृष्टान्तके लिए ऐसा समझें कि घड़ा रूप कार्य होनेके लिए मिट्टी तो द्रव्य स्थानीय है और घड़े से पहले होने वाला मृतपिण्ड रूप पर्याय अथवा कुसूलरूप पर्याय वह कार्यका निबंधन-भूत पर्याय विशेष है। सो यों देख लीजिए कि मिट्टीके होनेपर ही तो घड़ा बना और उस मिटटीका जब तक कुसूलरूप पर्याय नहीं आता तब तक घड़ा नहीं बनता। तो यों मिट्टी और कुसूलात्मक उस वस्तुसे घड़ेका अन्वय व्यतिरेक बन गया तो इसी तरह सर्वत्र द्रव्य पर्यायात्मक वस्तुमें ही कार्यके साथ अन्वय व्यतिरेक बनता है। यों कार्य कारण भाव सिद्ध होता है। यहां यह बात ध्यान पूर्वक समझियेगा कि द्रव्य रूपसे भी वस्तुका सर्वथा नित्यपना निश्चित नहीं किया गया, क्योंकि वह द्रव्यरूप वस्तु क्षणिक पर्यायोंके साथ कथंचित अनर्थान्तररूप है अर्थात् पर्याय शून्य द्रव्य नही है। जो द्रव्य होगा वह क्षणिक किसी न किसी पर्यायरूप ही रहता है, इस कारणसे कथंचित अनित्यपना सिद्ध होता है। तब वस्तु केवल नित्य न रही किन्तु नित्यानित्यात्मक है। लेकिन वैशेषिक सिद्धान्तमें तो महेश्वरको सर्वथा नित्य माना है और इसी कारण वहाँ कार्यके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं बन सकता। तब कार्योंकी उत्पत्तिका योग न बनेगा। अब यहाँ देखें तो पर्यायोंकी द्रव्यरूपसे नित्यत्वकी सिद्धि है इस लिए कथंचित नित्यपना होनेसे सर्वथा अनित्यरूप नहीं माना जाता है। तो विशिष्ट पर्याय के सद्भावमें कार्यकी उत्पत्ति होती है और विशिष्ट पर्यायके अभावमें कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है। तब द्रव्य पर्यायात्मक वस्तुके साथ कार्यका अन्वय व्यतिरेक सिद्ध हो जाता है। हाँ जो निरन्वय क्षणिक पर्यायें हैं, जिन क्षणिकवादियोंके यहाँ पर्यायका यह स्वरूप माना है कि उसका कुछ भी अन्वय नहीं रहा करता है. वह तो अपूर्व ही नई वस्तु उत्पन्न होती है और दूसरे समयमें वह मूलतः नष्ट हो जाती है। तो ऐसे क्षणिकवादियोंके निरन्वय क्षणिक पर्यायोंमें अन्वय व्यतिरेक नहीं घटित होता सो वहाँ कार्यकारण भाव न बनेगा। पर्यायात्मकनयकी प्रधानतासे अविरोध है और द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानतासे उसका विरोध हैं अर्थात् द्रव्य ही नया बने द्रव्य ही पूरा मिटे, इस प्रकारकी दृष्टि रखे तब वह निरन्वय क्षणिकवाद प्रमाण सम्मत नहीं रहता, हाँ यदि द्रव्यार्थिकनयकी प्रधानता स्वीकर की जाय तो वहाँ भी कार्यकारण भाव बन जायगा। वे क्षणिकवादी यह मान लें कि यह पर्याय दृष्टिसे कथन हो रहा है तो वहाँ विरोध न रहेगा। जैसे द्रव्यार्थिकनयकी प्रधानतासे द्रव्यमें कार्यकारण भावका विरोध नहीं है उसी प्रकार पर्यायार्थिकनय नयकी प्रधानतासे यदि वर्णन चले तो वहाँ भी कार्य कारण भावका विरोध न बनेगा। अथवा और देखिये! जब प्रमाणकी विवक्षा होती है तो द्रव्य पर्यायात्मक वस्तुके होनेपर ही कार्यकी उत्पत्ति होती है और

द्रव्य पर्यायात्मक वस्तुके न होनेपर कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती। इस तरह द्रव्य पर्यायात्मक वस्तुका कार्यके साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध बन जाता है। और वह समस्त जनोंके लिए साक्षीभूत है। तो ऐसे कार्य कारण भावकी ही व्यवस्था मानना चाहिए। सर्वथा एकान्तकी कल्पना होनेपर अन्वय व्यतिरेकका अभाव ही प्रकट होता है। वहाँ कार्यकारण भावका अभाव ही सिद्ध होता है। इस विषयमें अधिक चर्चा करना आवश्यक नहीं है। इससे यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि महेश्वरका ज्ञान जो कि नित्य माना, अव्यापक माना और सब जगहके कार्य करनेमें समर्थ माना तो ऐसा वह समर्थ महेश्वर ज्ञान नित्य अव्यापक माना जानेपर भी उसके सब देश और सब कालमें व्यतिरेक सिद्ध नहीं होता। तो जब व्यतिरेकका निश्चय नहीं है तो नियमित अन्वयका भी निश्चय नहीं बननेका। ये शरीरादिक कार्य अन्य कारणों की अपेक्षासे भी महेश्वरकृत सिद्ध नहीं होते हैं, क्योंकि अन्वयव्यतिरेक अन्य कारणों के साथ आना घटित हो गया, किन्तु महेश्वरके साथ अन्वयव्यातिरेक घटित नहीं होता। इस प्रकार नित्य अव्यापी माननेपर ईश्वरज्ञानसे सृष्टि नहीं चल सकती, यह वर्णन किया गया। अब ईश्वरज्ञानको नित्य व्यापक मानें तो इस मान्यतामें भी दूषण बताते हैं।

एतेनैवेश्वरज्ञानं व्यापिनित्यमपाकृतम् ।
तस्येशवत्सदा कार्यक्रमहेतुत्वहानितः ॥ ३६ ॥

ईश्वरज्ञानको नित्य व्यापि माननेपर भी सृष्टिकर्तृत्वकी असिद्धि—महेश्वरज्ञान नित्य अव्यापि है इस पक्षमें जो दूषण दिया गया है उस विवेचनसे यह भी घटित हो जाता है कि ईश्वर ज्ञान नित्य व्यापक हो तो भी वह शरीरादिक कार्योंका कर्ता नहीं बन सकता, क्योंकि जैसे ईश्वर सब जगह सदा अकेला उपस्थित है तो वहाँ अन्वय व्यतिरेक नहीं बनता और इसी प्रकार कार्योंके क्रममें उत्पन्न हुआ सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार ईश्वरज्ञान भी नित्य और व्यापी मान लिया गया तब वह भी शरीरादिक कार्योंका क्रमसे जनक सिद्ध नहीं हो सकता। अभी उक्त प्रकरणोंमें नित्य अव्यापक ईश्वरज्ञानमें व्यतिरेकका अभाव सिद्ध किया और व्यतिरेक का अभाव सिद्ध होनेमें अन्वयमें भी सन्देह होनेकी बात कही थी तो उसी कथनसे व्यापक नित्य ईश्वरज्ञानमें भी वे ही सब दोष समझ लेने चाहिएं तब महेश्वर शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण सिद्ध नहीं होसकता। जैसे ईश्वर सर्वव्यापी और नित्य है तो वहाँ व्यतिरेक नहीं बनता। इसी प्रकार ईश्वरज्ञान भी सर्वव्यापी और नित्य है तो वहां भी व्यतिरेक नहीं बनता है। अब रही अन्वयकी बात तो व्यतिरेकशून्य केवल अन्वय अन्य आत्माओंकी तरह संदिग्ध है। दूसरी बात यह है कि ईश्वरज्ञानको अब नित्य व्यापक मान लिया तो जब ईश्वर ज्ञान नित्य व्यापक

है तो वह सदा ही है और सब जगह है, फिर सभी कार्य एक साथ क्यों नहीं उत्पन्न हो जाते ? और यों एक साथ उत्पन्न होनेका प्रसङ्ग आता है । तब कभी भी महेश्वर इन कार्योंका क्रमसे उत्पादक नहीं बन सकता । जब वह ईश्वरज्ञान व्यापक है तो वहां देशकृत क्रम नहीं आ सकता । इसी प्रकार जब ईश्वरज्ञान नित्य है तो वहाँ कालकृत क्रम नहीं बन सकता और स्वयं महेश्वर तो सर्वथा क्रमरहित है ही इसी प्रकार ईश्वरज्ञान भी अक्रम है । उसे क्रमवान माना जायगा तो वह नित्य और व्यापी नहीं बन सकता याने ईश्वरज्ञान क्रम वाला है तो क्रममें यह ही तो बात आई कि काल की अपेक्षा क्रम है । पहले वह न था । अब यह हो गया तो वहाँ कालका क्रम तो न बन सकेगा । अगर देश की अपेक्षा क्रम कहा जाय कि वहाँ था, अब यहाँ नहीं है तो इस अपेक्षामें भी क्रम नहीं बन सकता । जो जैसे अग्नि आदिक क्रमवान अनित्य और एक देश हैं तो वे पदार्थ नित्य और सर्वव्यापी तो नहीं हैं । जो तो क्रमवान होगा वह नित्य और सर्वव्यापक नहीं हो सकता । इस प्रकार ईश्वरज्ञानको नित्य व्यापक माननेपर भी शंकाकारकी इष्टसिद्धि नहीं होती ।

सहकारी कारणके सम्बन्धसे ईश्वरज्ञान व कार्यके साथ अन्वय व्यतिरेक माननेपर कारणान्तरोंके साथ ही कार्य व्याप्तिकी सिद्धि—अब शंकाकार कहता है कि हम यह मानते हैं कि प्रतिनियत देशकालमें प्राप्त होने वाले सहकारी कारणोंकी अपेक्षासे महेश्वरकी तरह महेश्वरके ज्ञानमें भी सर्व कार्योंके क्रमसे उत्पन्न करनेमें कारणपना बन जाता है । जैसे महेश्वर ज्ञान विभिन्न देशमें विभिन्न कालमें जैसे सहकारी कारण प्राप्त हुयेतो उन सहकारी कारणोंकी अपेक्षासे कार्योंके प्रति वह क्रमका जनक बन जाता है इस कारण अब उपरोक्त दोष नहीं हैं । इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि विशेषवादियोंका यह कथन भी सङ्गत नहीं है । क्योंकि इस तरह वास्तविक सहकारी कारणोंमें ही बना । तब क्रमवान सहकारी कारणोंके होनेपर शरीरादिक की उत्पति हुई और उन कारणोंके न होनेपर उत्पन्न नहीं हुई तब उन कारणोंके साथ ही अन्वयव्यतिरेक रहा, कार्यकारण भाव रहा । पर महेश्वरज्ञानके साथ उन कार्योंका अन्वय व्यतिरेक न रहा तब कार्योंका हेतु महेश्वर अथवा महेश्वरज्ञान सिद्ध नहीं हो सकता ।

कारणान्तरोंका महेश्वराधिष्ठितपना होनेसे कर्तृत्वसिद्धिकी आरेका—विशेषवादी कहते हैं कि यद्यपि यह ठीक है कि सहकारी कारण अनित्य है । क्रमजन्य भी है इससे उनके साथ ही सीधा कार्यका अन्वय व्यतिरेक बना देना चाहिए । लेकिन यहां यह समझलें ये स्याद्वादी लोग कि वे सहकारी कारण अचेतन हैं सो कितने ही सहकारी कारण मिल जायें, जब तक किसी चेतनाके द्वारा अधीष्ठित नहीं होते जब तक उन कार्योंमें कारणोंकी उत्पति करनेके लिए प्रवृत्ति नहीं हो सकती जैसे घड़ा बननेके सब साधन मौजूद हैं । चका, डन्डा, जल आदिक सब चीजें रखी

हुई हैं लेकिन वे सब अचेतन हैं। स्वयं कार्य तो न बना देंगे। उनका प्रयोगता कुम्हार जब प्रयोग करता है। वे कारण तब कुम्हारके द्वारा अवाधित होता है तब कार्य की उत्पत्ति होती है। इसी तरह यह भी समझना चाहिए कि सब कुछ कारण मौजूद हैं शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिके लिए किसी चेतनके द्वारा अधीष्ठित होकर ही वह कारण कार्यको उत्पन्न कर सकता है। इससे सिद्ध होता है कि उन कारणोंका अधिष्ठाता कोई चेतन है यह बात अनुमान प्रयोगसे भी सिद्ध होती है कि एक विवादापन्न कारणान्तर याने शरीरके उत्पादक उन समस्त कारणोंके प्रति कहा जा रहा है कि ये सभी कारण जो कि क्रमवर्ती हैं और अक्रम हैं वे सब चेतनके द्वारा अधिष्ठित होते हुए ही शरीरादिक कार्योंको किया करते हैं, क्योंकि स्वयं अचेतन होने से जैसे दण्ड चक्र आदिक कारण मौजूद हैं लेकिन वह कुम्हार चेतनके द्वारा अधिष्ढित होकर ही घट कार्योंको कर सकता है। क्योंकि स्वयं अचेतन है। जो जो अचेतन पदार्थ होते हैं वे वे सब चेतनके द्वारा अधिष्ठित होते हुए ही अपने कार्यको करते हुए देखे गए हैं। जैसे तुरी तन्तु बेम सलाका आदिक अनेक साधन मौजूद हैं लेकिन वे जुलाहाके द्वारा अधिष्ठित होते हुए ही कपड़ा रूप कार्यको कर सकते हैं। तब यहाँ देखिये कि ये कारणान्तर सब स्वयं अचेतन हैं इस कारण चेतन द्वारा अधिष्ठित होते हुए ही शरीरादिक कार्योंको ये कर पाते हैं। अब जो उनका अधिष्ठाता है यहाँ वह कोई महेश्वर पुरुष विशेष ही हो सकता है जो कि क्लेश कर्म बिपाक आदिकसे अछूता हुआ, समस्त कारक शक्तिओं का परिज्ञान रखता हुआ सृष्टि करनेकी इच्छा और विशेष प्रयत्न रख रहा हो। ऐसा प्रभु ही हो सकता है इन समस्त कारणान्तरों का अधिष्ठाता, क्योंकि जो अभी प्रभुकी विशेषता बताया है उससे बिपरीत कोई पुरुष हो याने जिसके क्लेश कर्म विपाक लग रहे हों कारक शक्तियोंका परिज्ञान जो न रखता हो, जिसकी सृष्टि करनेकी इच्छा और पौरुष न बना हो, ऐसा कोई भी पुरुष समस्त कारकोंका अधिष्ठाता नहीं हो सकता है। तो यहाँ एक बात और विशेष समझना है कि कुम्हार जुलाहा आदिक बहुतसे जीव भी कारकोंके अधिष्ठाता बन रहे हैं, वे अपने अपने कार्योंके करनेमें अधिकार रखते हैं। तो उनको भी यह समझना चाहिए कि वे बहुतसे भी मनुष्य जो प्रतिनियत ज्ञानादिक शक्ति रखते हैं, सब तो चेतन नहीं हैं। तो ऐसी प्रतिनियत शक्तियाँ रखने वाले इन समस्त पुरुषोंमें भी यह घटाना चाहिए कि वे सब एक महाप्रभु महेश्वरके द्वारा अधिष्ठित होकर ही प्रवृत्ति कर पाते हैं। जैसे दण्ड, चक्र आदिक कारण कुम्हारके द्वारा प्रतिष्ठित होकर कार्य कर पाते हैं ऐसे ही कुम्हार, जुलाहा आदिक भी महेश्वरके द्वारा अधिष्ठित होकर अपना कार्य कर पाते हैं। यों समझना कि जैसे सामन्त, महामंत मंडरीक राजा महा राजा आदिक ये एक चक्रवर्तीके द्वारा अधिष्ठित होकर प्रवृत्ति करते हैं याने सब राजाओंका अधिपति जो एक चक्रवर्ती है उसके द्वारा अधिष्ठित होकर ये प्रवृत्ति कर पाते हैं। या जैसे किसी कारखानेमें अनेक पुरुष काम करते हैं तो वे किसी एक बड़े

इंजीनियरके द्वारा अधिष्ठित होकर कार्य करते हैं। ऐसे ही जगतमें जितने भी पुरुष घड़ा, कपड़ा आदिक कार्योंको करते हुए देखे गये हैं, वे भी एक महापुरुषके द्वारा अधिष्ठित होकर ही कार्यको करनेमें समर्थ होते हैं। शङ्काकार ही कह रहा है सब कि इन सब युक्तियोंसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि विवादापन्न सभी कारणान्तर चेतनके द्वारा अधिष्ठित होकर शरीरादिक कार्योंको करते हैं, क्योंकि वे सब अचेतन हैं। यहाँ हेतु बताया गया है 'स्वयं अचेतनत्वात्'।

अचेतनत्व हेतुसे एक चेतनाधिष्ठित सिद्ध करने का विफल प्रयास— शंकाकार कहता है कि हमारा मूल अनुमान यह है कि समस्त कारणान्तर चेतनके द्वारा अधिष्ठित होकर ही शरीरादिक कार्योंको करता है, क्योंकि वह कारणान्तर स्वयं अचेतन है। कोई इस अनुमानमें यह दोष न दिखा सकेगा कि अचेतनत्व हेतु गाय दूधके साथ अनैकान्तिक दोष वाला बन जाता है। जैसे बछड़ेकी वृद्धिके लिए गायका दूध प्रवृत्त होता है तो गायका दूध अचेतन है और वह किसी चेतनसे अधिष्ठित होकर प्रवृत्त तो नहीं होता इस कारण इसमें अनैकान्तिक दोष आयगा। ऐसी शंका कोई इस कारण नहीं कर सकता है कि जो गोक्षीर प्रवृत्ति होती है वह भी बछड़के द्वारा जिसके कि धर्म अधर्म अदृष्ट विशेषका सहकारी है उस चेतन बछड़ेके द्वारा अधिष्ठित होकर प्रवृत्त हुआ है। गायसे जो दूध निकला वह चेतन बछड़ेके द्वारा अधिष्ठित होकर निकला, वहाँ अनैकान्तिक दोषकी गुञ्जाइश नहीं है कि गोक्षीर अचेतन है वह भी चेतन बछड़ेके द्वारा अधिष्ठित है। यदि ऐसा न हो अर्थात् गायसे जो दूध निकलता है वह चेतन प्राणियोंकी अदृष्टसे अधिष्ठित होकर निकलता है, ऐसा न माना जाय तो बछड़ेके मर जानेपर जो गोभक्त जन हैं, मालिक हैं जो गायकी सेवा करता है उसके साथ भी क्षीरकी प्रवृत्ति न होना चाहिए। या जब बछड़े के गुजर जानेपर भी गायसे दूध निकलता है और वह दूध निकल रहा है गायकी सेवा करने वाले लोगोंके भाग्यसे तो वहाँ जो गायसे दूध निकला वह है गोभक्त गोसेवक पुरुषसे अधिष्ठित अर्थात सभी लोग यह जानते हैं कि गायका बछड़ा गुजर जाय फिरभी जिन जिन को दूध पीने में आयगा उन उन गोभक्तोंके अदृष्टसे गायका दूध निकलता रहता है और वहाँ गायके दूधका अधिष्ठाता ये गोभक्त लोग हैं। शंकाकार कह रहा है समाधानकर्ताओंसे कि यहाँ ऐसा भी ये लोग न कह सकेंगे कि जब गोभक्त लोगोंके भाग्यसे दूध निकल रहा है तो जब बच्चा जीवित है उस अवस्था में भी जो गोका दूध निकल रहा है उस दूधकी प्रवृतिमें गोभक्तोंको ही अधिष्ठाता मानलेवें अर्थात बछड़ा भले ही जीवित है लेकिन गायका जो दूध निकलता है वह गायकी सेवा करने वाले लोगोंके भाग्यसे अधिष्ठित होकर निकलता है और तब अदृष्ठ विशेषसे सहकृत चेतन गो बचड़ेको अधिष्ठान न मानना चाहिए कि उसे अधिष्ठित होकर दूध निकलता है। शंकाकार कहता है कि ऐसा कहना भी उनका

ठीक नहीं है, क्योंकि गायके दूधको पीने वाले जितने भी व्यक्ति हैं, बछड़ा हो, पुरुष हो, सभीके दृष्ट विशेषसे विशिष्ट चेतन द्वारा अधिष्ठित होकर गायसे दूधकी प्रवृत्ति बनती है। एक कार्यके होनेमें, सहकारी कारण कितने भी हो जायें, उनका कोई नियम नहीं है। सहकारी कारण अनेक हो सकते हैं। तो गायसे जो दूध निकलता है वह बछड़ेके द्वारा या गोभक्त पुरुषोंके द्वारा सभीके द्वारा अधिष्ठित होकर निकलता है। यदि कोई ऐसा कहे कि महेश्वरमें भी यह बात घटा लो कि महेश्वर अन्य चेतन द्वारा अधिष्ठित होकर कार्यमें प्रवृत्त होता है, क्योंकि महेश्वर चेतन है। जैसे कि किसी कार्यालयमें अनेक कर्मचारी काम करते हैं तो वे सब कर्मचारी किसी एक विशिष्ट अधिकारीके द्वारा अधिष्ठित होकर कार्य करते हैं और वह विशिष्ट अधिकारी भी अन्य अधिकारी द्वारा अधिष्ठित होकर कार्य करता है। शङ्काकार कहता है कि यह तर्क देना भी ठीक नहीं है, क्योंकि कितने भी कर्मचारी हों, विशिष्ट अधिकारी हों, आखिर उनका सर्वोच्च अधिष्ठाता वह महेश्वर कहलाता है। अधिष्ठाताकी कल्पना ऐसी बन जायगी पर आखिरी जो अधिष्ठाता है वह महेश्वर ही कहलाता है। यह महेश्वर अंतिम अधिष्ठाता है, क्योंकि वह पूर्ण स्वतन्त्र है। जो स्वतन्त्र होता है उसका दूसरा अधिष्ठाता नहीं होता। जिसका दूसरा कोई अधिकारी न हो वही तो महेश्वर है। उससे भिन्न अन्य किसी भी चेतनमें महेश्वरपना सिद्ध नहीं किया जा सकता है। साथ ही कोई यह भी नहीं कह सकता कि अन्तिम अधिष्ठाता व्यवस्थित नहीं है, क्योंकि शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिकी जो व्यवस्था चल रही है समझ लीजिए कि वे सभी प्रत्येक कार्य व्यवस्थित ढङ्गसे पैदा हो रहे हैं। जैसे प्रतिनियत पशुवोंसे प्रतिनियत पशुओंकी उत्पत्ति होना, सभी मनुष्य एक सकलके उत्पन्न होते हैं, सबके अपने-अपने चेतन जुदे-जुदे हैं। तो यह जो ढङ्गसे कार्योंकी उत्पत्तिकी व्यवस्था बनी हुई है वह किसी एक अधिष्ठाताके न होनेपर सम्भव नहीं है। साथ ही यह भी विचारें कि यदि महेश्वर भी अन्य महेश्वरकी अपेक्षा करे तो यों वह भी किसी अन्य की अपेक्षा करेगा, तो यों अन्य-अन्य महेश्वरोंकी अपेक्षामें ही शक्ति क्षीण हो जायगी शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती। यों अचेतनत्व हेतुसे यह सिद्ध हो जायगा कि जितने भी जगतमें कारणान्तर हैं, कार्यके उत्पादक कारण हैं वे सब किसी महेश्वर द्वारा अधिष्ठित होकर ही कार्यको करते हैं।

अचेतनत्व हेतुसे एक चेतनाधिष्ठितता सिद्ध करनेकी आशंकाका समाधान—अब शङ्काकारकी उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि अचेतन स्वहेतुसे कारणान्तरको अचेतनाधिष्ठित होकर ही कार्यकारिणी कहने वाले वैशेषिक हेतुकी सामर्थ्यके जानकार नहीं हैं। कौनसे हेतुमें समर्थता है? किसमें नहीं है? कौन निर्दोष होता है? कौन निर्दोष नहीं होता? इसका परिज्ञान नहीं है। देखिये! संसारी जीवोंके ज्ञानमें अचेतनत्व हेतु तो नहीं पाया जाता यानी संसारी जीवोंके ज्ञान

अचेतन नहीं है लेकिन वह पक्षके अन्तर्गत है। पक्ष बनाया गया है समस्त कारणान्तर चेतनके द्वारा अधिष्ठित होकर कार्य करते हैं। तो संसारी जीवोंका ज्ञान ही कुछ कार्य तो करता है मगर उसमें अचेतनत्व हेतु नहीं पाया जाता, क्योंकि संसारी जीवों का ज्ञान चेतन है। तब शंकाकारका यह अचेनत्व हेतु सम्पूर्ण पक्षमें न रहनेसे याने कुछ कारणोंमें रह गये, कुछ कारणोंमें न रहे तब पक्षव्यापक याने भागासिद्ध दोष आता है। भागासिद्ध दोषका अर्थ यह है कि हेतु समस्त पक्षोंमें नहीं पाया जाय किन्तु पक्षके एक देशमें पाया जाय तो उसे कहते हैं भागासिद्ध दोष। भागासिद्ध दोषसे जो हेतु दूषित होता है वह साध्यका साधक नहीं समझा जाता। तब अचेतनत्व हेतुको निर्दोष कैसे कहा जा सकता है? उसमे तो स्पष्ट दोष मौजूद है।

चेतन समवायको चेतन कहनेकी अयुक्तता शंकाकार कहता है कि अचेतनत्व हेतुका अर्थ तो पहिले सुन लीजिये! हमारे अचेतनत्व हेतुका अर्थ चेतनपने का अभाव होना यह नहीं है, किन्तु चेतनाके समवायका अभाव होना सो अचेतन है। अचेतनका अर्थ यह न लेना कि जहाँ चेतना न हो सो अचेतन है किन्तु यह अर्थ लेना कि जहाँ चेतनाका समवाय नहीं बनता उसे अचेतन कहते हैं, तब यहाँ संसारी जीवों का जो ज्ञान है वह स्वयं चेतन है वह चेतनाके समवायसे चेतन नहीं है हमारे अचेतनत्व हेतुका अर्थ यह है कि जिनमें चेतनाका समवाय न हो वह अचेतन कहलाता है। मगर संसारीं जीवोंके ज्ञान तो खुद अचेतन हैं। उसमें चेतनाके समवायकी आवश्यकता ही नहीं है और इसी कारण चेतनाके समवाय का वहाँ प्रसङ्ग ही नहीं बताया जा सकता। वह चेतनाके समवायीसे चेतन नहीं है। क्योंकि चेतनमें अन्य चेतनाका समवाय सिद्ध नहीं होता। तो जब अचेतनत्व हेतुका यह अर्थ कर दिया कि जहाँ जहाँ चेतनका समवाय न हो वह चेतन है तो संसारी जीवोंके ज्ञानमें भी चेतन का समवाय नहीं है क्योंकि वह ज्ञान खुद चेतन है। यों अचेतनत्व हेतु पक्षाव्यापक न रहा। पक्षके कुछ क्षेत्रमें न रहे यह बात न रही. संसारीं जीवोंके ज्ञान भी अचेतन हैं, मगर कैसे अचेतन हैं? वे यों अचेतन हैं। कि संसारी जीवोंके ज्ञान खुद अचेतन हैं। उनमें चेतनका समवाय नहीं है यों चेतना का समवाय न होनेसे संसारी जीवों के ज्ञान अचेतन हैं। यों भागासिद्ध दोष न आया तब तब अचेतनत्व हेतु हमारे साध्य को सिद्ध करनेमें पूर्णतया समर्थ है। उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि शङ्काकार की यह मान्यता युक्तिसङ्गत नहीं है। इसका कारण यह है कि संसारी आत्माओं में भी अचेतनाके समवाय का चेतनपना प्रसिद्ध है। तब अचेतनाका यह अर्थ करके कि जहाँ चेतनाका समवाय न हो सो अचेतन है। यों अर्थ करके संसारी जीवोंके ज्ञानोंको अचेतन नहीं कहा जा सकता उनमें चेतनाका समवाय है। अतएव वे चेतन हैं, उनमें अचेतनतारूप हेतु प्रविस्ट नहीं होता।

अचेतनोंको चेतनाधिष्ठितताका एकांत माननेपर अनेक दोषापत्तियाँ

अब यहाँ शङ्काकार वैशेषिक कहते हैं कि हमारा यहाँ यह आशय है कि संसारी आत्मा यद्यपि चेतनाके समवायसे चेतन है परन्तु वह आत्मा स्वत: तो अचेतन है। तब उनमें अचेतनत्व हेतु पाया ही गया। यों अचेतनत्व हेतु पक्षाव्यापक नहीं है। याने अचेतनत्व हेतु समस्त पक्षोंमें रह गया। इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि शङ्काकारका यह अभिप्राय ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह यदि संसारी आत्माओंको अचेतन माना जायगा और अचेतन होनेसे वह चेतनाके समवायसे चेतन नहीं माना जाता और यों अचेतनत्व हेतुको उनमें घटित किया जाता है तो इस तरह महेश्वर भी अचेतन बन जायगा, क्योंकि वह महेश्वर भी स्वयं तो अचेतन है। चेतनाके समवायसे ही तो उस महेश्वरको चेतन कहा गया है। तो वह स्वत: चेतन न रहा। ऐसी स्थितिमें जितने अनेक सहकारी कारण देखे गए हैं, अथवा जो दिखनेमें नहीं आते हैं उन दृष्ट और अदृष्ट सहकारी कारणोंकी तरह अर्थात जैसे ये सहकारी कारण महेश्वरके द्वारा अधिष्ठित बताये गए हैं उसी तरह वह महेश्वर भी उन दूसरे चेतन द्वारा अधिष्ठित होकर कार्य कर पायगा और तब दूसरा महेश्वर भी तीसरे महेश्वरके द्वारा अधिष्ठित होकर कार्य कर पायगा। यों महेश्वरकी अनवस्था बन जायगी, क्योंकि बहुत दूर जाकर भी शङ्काकारने किसीको भी तो स्वयं चेतन माना ही नहीं है। जितने भी आत्मा हैं–संसारी हों, योगी हों, महेश्वर हो, सभी आत्मा स्वत: अचेतन हैं, उनमें चेतनाके समवायसे उन्हें चेतन स्वीकार किया है तो इस कारण उन महेश्वरोंमें अनवस्था दोष आ जायगा। यदि शङ्काकार यह कहे कि महेश्वर भले ही स्वत: अचेतन है, लेकिन कोई उसका दूसरा चेतन अधिष्ठाता नहीं है तो ऐसा कहनेमें शकाकारका अचेतनत्व हेतु तो इस ही महेश्वरके साथ व्यभिचारी बन गया, क्योंकि यह महेश्वर है तो स्वत: अचेतन पर उसका कोई दूसरा चेतन अधिष्ठाता नहीं है। शंङ्काकारका तो यह संकल्प था कि जो अचेतन होता है वह किसी चेतनके द्वारा अधिष्ठित होता है, तो यहाँ महेश्वरका आत्मा भी अचेतन ही तो है और उसे किसी चेतनाके द्वारा अधिष्ठित मान नहीं रहे तो हेतु यही व्यभिचारी बन गया। तो अचेतनपना हेतु जब महेश्वरके साथ व्यभिचारी बन गया तो ऐसा व्यभिचारी हेतु अपने साध्यका साधक कैसे हो सकता है? व्यभिचारी हेतु साध्यका साधक नहीं बनता। तब उस हेतुसे समस्त कारकोंका चेतनसे अधिष्ठित बताना कैसे सिद्ध हो सकता है? और, फिर यह दुहाई देना कैसे शोभा दे सकता है कि यह अज्ञानी संसारी प्राणी अपने सुख दुखमें असमर्थ हैं? वह तो ईश्वरके द्वारा प्रेरित होता हुआ ही स्वर्गको जाता है अथवा नरकको जाता है। यह कथन किस बलपर शोभा देगा? तब तो यहाँ समस्त कारक चेतन द्वारा अधिष्ठित होकर कार्य करें, यह सिद्ध ही नहीं हो रहा।

समस्त कारकान्तरोंकी ज्ञानाधिष्ठतताके सम्बन्धमें विचार— शङ्काकार कहता है कि आप इस सब प्रकरणको इस आशयसे देखिये कि जो चेतना

है वह ज्ञान कहलाता है। उस ज्ञानसे अधिष्ठितपना समस्त कारकान्तरोंमें सिद्ध कर रहे हैं और वह भी अचेतनत्व हेतुके द्वारा सिद्ध कर रहे हैं, याने सारे कारण किसी चेतन द्वारा अधिष्ठित होकर ही कार्य कर पाते हैं। यह बात रखी जा रही है और वह ज्ञान जिस ज्ञानके द्वारा अधिष्ठित होकर कारक कार्य कर पाता है, वह ज्ञान समस्त कारकोंकी शक्तिका जाननहार होता है, नित्य होता है तथा चूंकि वह ज्ञान गुण है अतएव आश्रयके बिना रह नहीं सकता। इस कारण उस ज्ञानका आश्रयभूत जो भी आत्मा है वह हम लोगोंके आत्माओंसे विलक्षण है, वही तो हमारा महेश्वर है। सारांश यह है कि इस प्रकरणको यहाँसे लेकर चलें कि जगतमें जितने भी कारण हैं वे सब ज्ञानके द्वारा अधिष्ठित होकर ही कार्य करते हैं। तो जो ऐसा कोई ज्ञान है वह ज्ञान सारे कारक पदार्थोंकी शक्तियोंका जाननहार होना चाहिए, नित्य होना चाहिए। तो ऐसा जो भी ज्ञान होगा, जो समस्त कारकोंकी शक्तियोंका जाननहार होगा वह ज्ञान भी गुण ही तो है और गुण द्रव्यके आश्रय रहता है। तो वह ज्ञान गुण भी किसी आत्माके आश्रय रहेगा। तो ऐसा विशिष्ट ज्ञान जो समस्त कारकोंकी शक्तियोंका जाननहार है वह जिसके आश्रय रहेगा वह संसारी समस्त आत्माओंसे विलक्षण होगा, उत्कृष्ट होगा। तो ऐसा वह उत्कृष्ट ज्ञान जिस आत्माके आश्रय रहता है उस हीका नाम महेश्वर है। इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि शङ्काकारका यह अभिप्राय भी समीचीन नहीं है, क्योंकि बात तो कुछ ठीक की जा रही है पहिले २ लेकिन उसे घटित यों करना चाहिए कि संसारी आत्माओंके ज्ञानोंके द्वारा भी अधिष्ठित होकर दृष्ट अदृष्ट सहकारी कारण शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिके कारण बन जाते हैं। सामान्यतया यह कहा जाय कि ज्ञान द्वारा अधिष्ठित होकर अदृष्ट विशेष शरीरादिक कार्योंका उत्पादक है, यहाँ तक तो सही है। संसारमें अनन्त जीव हैं उन सबमें ज्ञान पाया जाता है और उनमें अधिष्ठित हैं धर्म अधर्म अदृष्ट विशेष सहकारी कारण और वे उन उन आत्माओंसे सम्बन्धित शरीरादिक कार्योंको करलें इसमें क्या विरोध है? तो मानना यह चाहिए कि सभी आत्माओंका अदृष्ट शरीरादिक कार्योंका उत्पादक है न कि कोई एक पृथक महेश्वर समस्त शरीरादिक कार्योंका उत्पादक है। क्योंकि कार्योंकी व्यवस्था उन समस्त कारणोंके साथ अन्वय व्यतिरेक रखते हुए बन रही है। और इस तरह शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें शुभाशुभ कर्म जो कि स्वयं उन प्राणियोंके द्वारा अधिष्ठित हैं और अनेक सहकारी कारण इनका ही व्यापार सिद्ध होगा, उससे ही शरीरादिक कार्य बनेंगे, फिर ईश्वर ज्ञानसे अधिष्ठित कुछ कल्पनायें करना व्यर्थ है।

विप्रकृष्टार्थ विषयोकी सृष्टिमें प्रवृत्तिके सम्बन्धमें आरेका—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि हमारा मत तो यह है कि संसारी आत्माओंके विज्ञान विप्रकृष्ट अर्थको विषय नहीं करते अर्थात् जो परोक्षभूत अर्थ है, भविष्यकालमें होने वाला है,

कहले पहिले हो चुका है, अत्यन्त दूरवर्ती है, ऐसे पदार्थोंको विषय नहीं करता, इस कारण संसारी आत्माओंके ज्ञान धर्म अधर्म परमाणु काल आदिकके अतीन्द्रिय पदार्थ हैं कार्यके सहकारी कारण होनेसे कारक हैं, उनका विशेष साक्षात्कार करनेमें समर्थ नहीं है याने संसारी आत्मा अतीन्द्रिय कारकोंका परिज्ञान नहीं कर पाते हैं और जब वे संसारी आत्मा अतीन्द्रिय कारकोंका ज्ञान नहीं कर पाते तब वे कार्यके प्रयोजक हैं यह बात सिद्ध नहीं हो सकती। तब संसारी आत्मा अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञान ही नहीं कर पाते तो वे कार्योंके करने वाले कैसे बन सकते हैं? और जब संसारी आत्मा उनके कार्योंके प्रयोजक न रहे तब उन ज्ञानोंसे अधिष्ठित धर्मादिक कार्योंकी, शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें प्रवृत्ति नहीं बन सकती। संसारी आत्माओंके ज्ञान अतीन्द्रिय कारकोंको जानते नहीं हैं तब उन ज्ञानोंसे अधिष्ठित जो आत्मा है अथवा धर्मादिक कारण हैं वे शरीरादिक कार्योंको उत्पन्न न कर सकेंगे। तब यह मानना चाहिए कि अतीन्द्रिय पदार्थोंका साक्षात्कार करने वाले ज्ञानके द्वारा जो अधिष्ठित हो वह कारणान्तर अपने कार्यमें व्यापार कर सकता है। तो ऐसा ज्ञान कौन है जिससे अधिष्ठित होकर कारणान्तर कार्य कर सके? वह ज्ञान है महेश्वरका ज्ञान। उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि यह सब कथन बिना विचारे ही कहा गया है, इसकी त्रुटियोंपर विचार नहीं किया गया है। देखिये! समस्त अतीन्द्रिय पदार्थोंका साक्षात्कार करने वाले ही ज्ञानको यदि कारकोंका अधिष्ठाता मानते हो तो देखिये!! अब ऐसा कोई दृष्टान्त न मिलेगा कि जो आपके इस पक्षका समर्थन कर सके कि समस्त अतीन्द्रिय पदार्थोंके साक्षात्कार करने वाला ज्ञान ही कारकोंका अधिष्ठाता हुआ करता है। जब ऐसा कोई दृष्टान्त न मिला तो इस हेतुका अन्वय सिद्ध न हो सका। कोई अधिकसे अधिक कुम्हारका दृष्टान्त देगा किन्तु वहाँपर भी बात घटित न होगी। कुम्हार आदिक कोई पुरुष कुम्भ आदिककी उत्पत्तिमें जितने कारक कारण हैं उनका साक्षात्कार करने वाले ज्ञानमें कोई समर्थ नहीं है। कुम्हार घडेकी उत्पत्तिके कारणोंका साक्षात्कार कर सकने वाला ज्ञान नहीं रख रहा। दण्ड चक्र आदिक जो कारण देखे गए हैं उनका भी साक्षात्कार करनेमें बाधा है क्योंकि उनके निमित्तभूत जो अदृष्ट विशेष है, काल आदिक हैं, उनका तो साक्षात्कार नहीं हो रहा। अधिकसे अधिक यह कह सकते कि दण्ड चक्र आदिक कारणोंका साक्षात्कार बनता रहता है, लेकिन उसके अतिरिक्त अन्य भी तो कारण हैं, काल भी कारण है पर कालका साक्षात्कार कुम्हारको कहाँ हो रहा? तो यह बात नहीं कह सकते कि समस्त कारणोंका जो साक्षात्कार कर सकता हो ऐसे ज्ञानसे अधिष्ठित कारण ही कार्यके करनेमें समर्थ हैं शङ्काकार कहता है कि कुम्हार आदिकको भी सब कारकोंका किसी न किसी ढङ्गसे ज्ञान बनता ही रहता है। साधन विशेषसे साध्यका ज्ञान कर लिया जाता है तो देखिये वहाँ आनुमानिक ज्ञान तो मौजूद ही है। तब उस प्रकार अपनी ही दृष्टि विशेष कुम्हार आदिक कुम्भ आदिक कार्योंको करते हैं, अन्य जन नहीं करते। जिन

पुरुषोंको कारकोंका ज्ञान है चाहे प्रत्यक्ष हो चाहे अनुमानसे हो, किसी भी प्रकार हो, ऐसा ही पुरुष कार्योंको करता है, अन्य पुरुष नहीं किया करते, क्योंकि अन्य पुरुषोंको उस प्रकारके अदृष्ट विशेषका अभाव है। कुम्हारके ही ऐसे अदृष्ट विशेषका प्रभाव है तत्सम्बंधी संस्कार, तत्सम्बंधी कुछ भाग्य भावतव्यकी बात मौजुद है। इस कारण कुम्हार ही कुम्भका उत्पादक हुआ, अन्य लोग नहीं हुए, दूसरी बात उस प्रकारका अदृष्ट विशेष न होनेसे अन्य जन कार्योंको नहीं कर सकते, ऐसा वहाँ आगमज्ञान भी मौजूद है, जो कि उन कारणोंके परिज्ञानका कारणभूत है। तब यह सिद्ध हुआ कि कुम्हार आदिकका ज्ञान कुम्भ आदिक कारकोंका परिच्छेदक है और उनके द्वारा उन कार्योंका प्रयोग होता है। इससे उनके द्वारा ये कुम्भ आदिक रचे गए हैं, यह अन्वय मिल जाता है। तो जब यह दृष्टान्त मिल गया तब हेतुको अन्वय नहीं कह सकते।

विप्रकृष्टार्थ विषयीकी सृष्टिप्रवृत्तिके सम्बन्धमें आरेकाका समाधान

उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि इस तरहसे तो सर्व संसारी जीवोंके यथा स्वच्छंद होते हुए शरीरादिक कार्योंकी उत्पत्तिमें परिज्ञान मान लिया जायगा। किसीको अनुमानसे ज्ञान है, किसीको आगमसे ज्ञान है, तो कार्योंके कारणभूत अदृष्ट कारकोंका परिज्ञान सिद्ध हो जायगा। फिर तो किसी भी संसारी जीवको आप अज्ञ नहीं कह सकते। कारकोंका परिज्ञान होना चाहिए, चाहे वह किसी रूप भी हो प्रत्यक्षसे हो, अनुमानसे हो अथवा आगमसे हो जिन्हें कारकोंका परिज्ञान हो वे कारकोंको कर सकते हैं तब उन्हें अज्ञ कैसे कहा जा सकता है? जिससे कि संसारी आत्माओंको सुख दुःख आदिक कार्योंकी उत्पत्तिमें कारण न नाना जाय। सब ही संसारी जीव ज्ञान रखते हैं और उस ज्ञानसे अधिष्ठित होकर अनेककारण सुखदुःख आदिक कार्यों को कर देते हैं फिर भी आगम बनाना कि सभी संसारी जीव ईश्वरसे प्रेरित होकर ही स्वर्ग या नरकमें जाते हैं, यह बात युक्त नहीं बैठती। सारांश यह है कि यह बात सिद्ध हो जाती है कि जितने भी आत्मा हैं वे सब ज्ञानी हैं और उन ज्ञानोंसे अधिष्ठित कारणान्तर शरीरादिक सुख दुःख आदिक कार्योंको कर देते हैं, फिर सृष्टिके होनेमें ईश्वरकी कल्पना करना व्यर्थ है। जो कारणान्तर देखे गए हैं अथवा नहीं देखे गए अथवा क्रमसे उत्पन्न हुए हैं या अक्रमसे उत्पन्न हुए हैं उन कारणान्तरोंके साथ स्वयं ही शरीरादिक कार्योंके साथ अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है तो उन क्रमजन्य दृष्टादृष्ट कारणोंको क्रमजन्य क्षरीराकि कार्य मान लिया जाय। और भीतरसे यह भी व्यवस्था बनती है कि उन शरीरादिक कार्योंके उपभोक्ता जो संसारी जीव हैं वे ज्ञानवान हैं और वे ही उस शरीरादिकके, सुख दुःखादिकके अधिष्ठापक हैं, यह बात भी सिद्ध है, किन्तु बडे आश्चर्यकी बात है कि जो बात सुगम है, प्रमाण सिद्ध है, निर्बाध है उसे तो माना नहीं जा रहा और जो एक कल्पनाकी चीज है, परोक्षभूत है उस बातको स्वीकार कराया जा रहा है। खैर किसी तरह मान लो कि है महेश्वर ज्ञान,

जिससे अधिष्ठित होकर कारणान्तरको कार्यका उत्पादक कहते हो। लेकिन यहां अब यह तो बताओ कि जो महेश्वरका ज्ञान है वह अस्वसम्विदित है या स्वसम्विदित है ? अस्वसम्विदितका अर्थ यह है कि वह ईश्वरज्ञान अपने आपका ज्ञान नहीं कर पाता। अपने आपके ही ज्ञानसे वह जाना गया नहीं है। और स्वसम्विदितका अर्थ है कि वह ईश्वरज्ञान अपने ही ज्ञानके द्वारा जाना गया है अर्थात् जो ज्ञान दूसरोंको तो जाने पर खुद अपने स्वरूपको भी जान लेता हो उसे तो स्वसम्विदित कहते हैं। जो ज्ञान चाहे पर पदार्थोंको जानता रहे, पर अपने आपके स्वरूपको नहीं जान पाता, अपने द्वारा विदित नहीं हो पाता, उसे अस्वसम्विदित कहते हैं। इन दो कल्पनाओं से जिसे आप पसन्द करेंगे कि महेश्वरका ज्ञान अस्वसम्विदित है। तो इस कल्पनामें क्या दूषण आता है, सो सुनो !

अस्वसंविदितं ज्ञानमीश्वरस्य यदीष्यते ।
तदासर्वज्ञता न स्यात्स्वज्ञानस्याप्रवेदनात् ॥ ३७ ॥

ज्ञानान्तरेण तद्वित्तौ तस्याप्यन्येन वेदनम् ।
वेदनेन भवेदेवमनवस्था महीयसी ॥ ३८ ॥

गत्वा सुदूरमप्येवं स्वसंविदितवेदने ।
इष्यमाणे महेशस्य प्रथमं तादृगस्तु वः ॥ ३९ ॥

अस्वसंविदित ज्ञानी महेश्वरके सर्वज्ञत्वकी असम्भवता – महेश्वरका ज्ञान अपने आपके ज्ञानको नहीं जान पाता ऐसा माना जायगा तो इसका अर्थ यह है कि अब महेश्वर सर्वज्ञ न रहा, क्योंकि उस महेश्वरने अधिकसे अधिक सारी दुनियाको जान लिया, पर पदार्थोंको जान लिया मगर खुदके ज्ञानको तो नहीं जान पाया। तो ज्ञानतत्त्व तो जाननेसे रह गया। तो अपने ज्ञानका वेदन न करनेसे अब ईश्वरके ज्ञान सर्वज्ञता न रह सकी। यदि शङ्काकार कहे कि महेश्वरका ज्ञान अपने ज्ञानको जान लेता है और यों सर्वज्ञ बन जाता है, लेकिन वह अपने ज्ञानको जान पाता है अन्य ज्ञानके द्वारा, यों अन्य ज्ञानके द्वारा अपने ज्ञानको जानकर महेश्वर सर्वज्ञ बन गया। तो ऐसी कल्पना करनेमें भी दोष आता है और वह दोष यही है कि जब महेश्वरके ज्ञानको किसी दूसरे ज्ञानने जाना तो उस दूसरे ज्ञानको किसी तीसरे ज्ञानने जाना। इस तरह अन्य अन्य ज्ञानोंके द्वारा ज्ञानीका वेदन मानना पड़ेगा और इस तरह बहुत बड़ी अनवस्था हो जायगी। इस अनवस्थासे घबड़ाकर बहुत दूर तक अनेक ज्ञानोंकी कल्पना करनेके बाद यदि किसी ज्ञानको स्वसम्वेदी मान लिया जाता है कि ५०-६०

ऐसे ज्ञान मानें कि अब ६१ वाँ ज्ञान स्वयं अपने आपको जानने वाला मान लिया तो बहुत दूर जाकर किसी ज्ञानको स्वसम्वेदी मानोगे तो उससे अच्छा यह है कि महेश्वर का वह पहिला ही ज्ञान स्वसम्वेदी क्यों न मान लिया जाय ? यह शङ्काकार महेश्वर के ज्ञानको स्वसम्वेदी न माने तो महेश्वरका ज्ञान निज ज्ञानको नहीं जान पाता और इसमें युक्ति वे यह देते हैं कि स्व आत्मामें क्रियाका विरोध है। खुद खुदमें क्या क्रिया करे, कुछ भी वस्तु अन्य वस्तुमें अपनी क्रिया कर सकती है, लेकिन एक आपत्ति इसमें साक्षात् यह है कि जो अपने ज्ञानको ही नहीं जान सकता, अपने आपमें ही क्रियाको नहीं कर सकता, वह समस्त कारकोंके शक्तिसमूहको कैसे जान लेगा ? इस बातकी अनुमानसे भी सिद्धि होती है कि ईश्वरज्ञान समस्त कारकोंकी शक्ति समूहका जाननहार नहीं है, क्योंकि वह स्वका जाननहार नहीं। जो जो पदार्थ स्वके जाननहार नहीं होते वे वे पदार्थ समस्त कारक शक्तियोंके समूहके भी जाननहार नहीं होते। जैसे—आँखें अपने आपको जानने वाली नहीं हैं, किसीकी भी आँखें अपनी आँखोंके स्वरूपको नहीं जान पा रही, तब हीं तो लोग आँखोंको देखनेके लिए दर्पण उठाते हैं। दर्पणको देखकर दर्पणमें प्रतिबिम्बित आँखोंको निरखकर, आंखोंके दोष मैल आदिक जान लिया करते हैं। तो जैसे चक्षु अपने आपका सम्वेदक नहीं है तो वह समस्त कारक शक्तियोंके समूहका भी जाननहार नहीं है, इसी तरह ईश्वरज्ञान भी स्वका सम्वेदक नहीं है इस कारण वह समस्त कारक शक्ति समूहका जानने वाला नहीं हैं, फिर ईश्वरज्ञानको समस्त कारकोंका अधिष्ठापक कैसे कहा जा सकता है ? और जिससे कि उन कारकोंका आश्रयभूत ईश्वरको समस्त कार्योंका कर्ता कह दिया जाय कि ईश्वरज्ञान शरीरादिक समस्त कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण हैं और इस तरह महेश्वरकी असर्वज्ञता ही सिद्ध हो जायगी। समस्त कारकोंका जाननहार न रहा, समस्त कार्योंका निमित्त न रहा, और यों वह सर्वज्ञ भी न रहा। अथवा और भी देखिये ! यदि ईश्वरका ज्ञान स्वयं ईश्वरके द्वारा नहीं जाना जाता, इस तरह उसे अस्वसम्विदित मानते हो तब महेश्वरके सर्वज्ञता न रही, क्योंकि उसने अपने ज्ञानको नहीं जान पाया। महेश्वरका ज्ञान भी तो एक वस्तु है। जैसे किसीने ९९ वस्तुओं को जाना हो और एकको न जाना हो तो वह शतज्ञ अर्थात् १०० का जाननहार तो न कहलायगा। इसी तरह जिस महेश्वर ज्ञानने अन्य समस्त पदार्थोंको जान लिया हो किन्तु अपने ज्ञानको न जान पा रहा हो, वह सर्वज्ञ कैसे कहा जा सकता है ?

सर्वके जाने बिना सर्वज्ञत्वकी सिद्धिकी असंभवता—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि समस्त ज्ञेयोंको ही जानकर कोई सर्वज्ञ कहा जाता है। एक अपने ज्ञान को न जाने, उससे सर्वज्ञता न रहे, यह बात नहीं है। जो समस्त ज्ञेयोंको जानता हो वह सर्वज्ञ है। ज्ञान तो ज्ञेय नहीं है। ज्ञान तो ज्ञान है। तो उस ज्ञानको यदि किसी ने न जाना तो कहीं ज्ञेयोंका ज्ञान न रुक जायगा। जैसे कि चक्षुका ज्ञान नहीं हो

पाया चक्षुको तो वह चक्षुके द्वारा परिच्छेदरूपका ज्ञान तो होता ही है। यदि यह नियम बना लिया जाय कि जो खुद अपने आपको न जान पाये वह दूसरेको नहीं जान सकता तो चक्षु अपने आपको नहीं जान पाती तो उसके द्वारा फिर रूपका ज्ञान न हो सकेगा और फिर कारकोंका परिज्ञान न होनेपर भी विषयोंको परिच्छेदन होता है इसमें कोई विरोध नहीं है। चौकीका दृष्टान्त सामने उपस्थित है। तो इसी तरह ईश्वर अपने ज्ञानको नहीं जान पाता, किन्तु समस्त ज्ञेयोंको जान लेता है। तो यों ईश्वरका ज्ञान सर्वज्ञ बन जायगा। उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि यह कल्पना भी सही नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञका अर्थ है जो सबको जाने और सबमें आ गए चारों तत्त्व–ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञप्ति। जो इन चारोंको जानेगा सो सर्वज्ञ कहलायगा। शङ्काकारके आगममें भी ऐसा ही कहा गया है कि तत्त्व चार प्रकारके परिसमाप्त होते हैं प्रमाण प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति। इन चारों ही चीजोंमें तत्त्व समाया हुआ है। अर्थात् तत्त्व चार प्रकारके हैं। तो अब कोई चारोंका ज्ञान करले तब ही वह सर्वज्ञ कहलायगा। उन चारोंमेंसे किसी एकका ज्ञान न कर पाया तो उसे कहा जायगा कि वह समस्त तत्त्वोंका ज्ञान नहीं कर सकता। तो जब महेश्वरका ज्ञान न जान पाया तो वह सर्वका ज्ञाता कैसे हो सकता है? यों महेश्वरका ज्ञान सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता। यदि महेश्वर यह कहे कि महेश्वर अपने ज्ञानको भी अन्य ज्ञानसे जान लेता है इस कारण सर्वज्ञताका उसमें दस्तूर बना रहे, तो ऐसी कल्पना करना असङ्गत है। क्योंकि इस तरहकी कल्पना की जानेपर जिस दूसरे ज्ञानके द्वारा प्रथम ज्ञान जाना गया है वह दूसरा ज्ञान भी तीसरे ज्ञानके द्वारा जाना जायगा, ऐसा मानना ही पड़ेगा, तब बड़ी अनवस्था उपस्थित हो जायगी। बहुत दूर ऐसा मान मानकर किसी ज्ञानको यदि स्वीकार कर लेते हैं कि वह अपने स्वरूपको भी जाननेका स्वभाव रख रहा है तब पहिले ही ज्ञानको सूर्यकी तरह अपने आपके स्वरूपका प्रतिभास करनेका स्वभाव वाला क्यों नहीं मान लेते? जैसे सूर्य स्वयंका भी प्रकाश करता है और पर पदार्थोंका भी प्रकाश करता है इसी प्रकार महेश्वरज्ञान स्वयंका भी प्रकाश करता है और अन्य ज्ञेयोंका भी प्रकाश करता है, ऐसा क्यों नहीं मान लेते? फिर महेश्वरज्ञान अस्वसंविदित है, इस तरहकी कल्पना ही क्यों उठा रहे हो? तो महेश्वरका ज्ञान अस्वसंविदित होकर अन्य समस्त कारकोंका अधिष्ठाहक बनता है इस तरह अन्य कारक और यह महेश्वरका ज्ञान ये सब निमित्त कारण बन जाते हैं और चूंकि अन्य कारण अचेतन हैं इस लिए उसमें कारणपनेका व्यपदेश नहीं है। एक महेश्वरज्ञान चेतन है। उसमें ही कारणपनेका व्यपदेश होता है। इस तरहकी सारी कल्पनायें कपोल कल्पित हैं। सीधी बात यह मानना चाहिए कि जितने भी संसारी जीव हैं वे ज्ञानवान हैं, उनके साथ धर्म अधर्म लगे हैं उनसे सहकृत होकर अन्य कारण उन कार्योंके उत्पादक होते हैं। महेश्वरज्ञानसे अधिष्ठित होकर कारणान्तर शरीरादिक कार्योंके उत्पादक होते हैं इस कारण महेश्वर सबका निमित्तकारण सिद्ध हो जाता है ऐसा

शङ्काकारका कथन है। उस सम्बन्धमें विकल्प पूछा गया है कि वह महेश्वर ज्ञान क्या स्वसंविदित है या अस्वसंविदित है। अस्वसम्विदित पक्ष माननेपर जो दोष आता है उनका वर्णन किया गया। अब यदि महेश्वरज्ञानको स्वसंवेदन माना जाय तो क्या दोष आता है ? उसका कथन करते हैं।

तत्स्वार्थव्यवसायात्म ज्ञानं भिन्नं महेश्वरात्।
कथं कस्येति निर्देश्यमाकाशादिवदञ्जसा ॥ ४० ॥

समवायेन, तस्यापि तद्भिन्नस्य कुतो गतिः।
इहेदमिति विज्ञानादबाध्याद्व्यभिचारि तत् ॥ ४१ ॥

इह कुण्डे दधीत्यादि विज्ञानेनास्तविद्विषा।
साध्ये सम्बन्धमात्रे तु परेषां सिद्धसाधनम् ॥ ४२ ॥

विशेषवादमें भिन्न ज्ञानका महेश्वरसे सम्बन्ध समझनेकी अशक्यता—यदि महेश्वरज्ञानसे स्वार्थ व्यवसायात्मक मानते हो अर्थात् स्वसंविदित मानते हो याने वह ज्ञान पदार्थोंका भी निर्णय करता है और अपने आपका भी सम्वेदन करता है, ऐसा स्वसंविदित ज्ञान महेश्वरसे भिन्न माना गया है यह तो उनका सिद्धान्त ही है। तो महेश्वरसे भिन्न वह ज्ञान कैसे कहा जा सकेगा कि यह महेश्वरका ज्ञान है। जब ज्ञान महेश्वरसे भिन्न है तो आकाशसे भी वह ज्ञान भिन्न है जैसे, तो ज्ञान आकाशका है यह तो नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार यह ज्ञान महेश्वरसे भिन्न है तो यह महेश्वरका ज्ञान इस प्रकार कैसे निर्दिष्ट किया जा सकेगा ? शङ्काकार यदि यह कहे कि समवायसे सिद्ध हो जायगा, महेश्वरके साथ ज्ञानका समवाय है, इस कारण यह सिद्ध हो जायगा कि ज्ञान महेश्वरका है। तो वहाँपर भी यह ही शङ्का होती है कि महेश्वर और ज्ञान इन दोनोंसे भिन्न है वह समवाय। तो यह समवाय इन दोनोंमें लग बैठता है, यह ज्ञान कैसे होगा ? यदि यह कहे शङ्काकार कि वहाँ यह प्रत्यय बनता है कि इसमें यह है 'इह इद' इस प्रत्ययके द्वारा समझ लिया जायगा कि महेश्वरमें ज्ञानका समवाय माननेकी बात जो कही है तो उस हेतुमें व्यभिचार आता है। ऐसा ज्ञान तो यहाँ भी होता है कि इस कुण्डमें दही है। तो इह इदं बोध तो हो गया मगर समवाय सम्बन्ध तो नहीं आना। यदि कहो कि हम सम्बन्ध मात्र मान लेंगे तो ठीक है इसमें कोई विरोध नहीं पर समवायकी बात न बनी और सम्बन्ध मात्रमें भी यह प्रश्न होता है कि महेश्वरमें ही ज्ञानका सम्बन्ध कैसे होगा ? यही बात टीकामें स्पष्ट की गई है कि वह स्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञान अर्थात् स्वसम्वेदी ज्ञान ईश्वरका

है यह कैसे जाना गया ? इसके लिये शङ्काकार यदि ऐसा अनुमान बनाये कि स्वार्थ-व्यवसायात्मक ज्ञान ईश्वरका माना जाता है, क्योंकि वह ईश्वर हम लोगोंसे विशिष्ट पुरुष है। यों स्वसम्वेदी माननेपर ईश्वरसे भिन्न ज्ञान तो मानना ही होगा, क्योंकि अगर महेश्वरसे अभिन्न है तो ऐसा तो विशेषवादमें कहा नहीं गया। विशेषवादके सिद्धान्तका विरोध होगा, क्योंकि विशेषवादमें उस ज्ञान को महेश्वरसे भिन्न माना गया है। और, फिर आकाश आदिककी तरह वह ज्ञान महेश्वरका है यह भी व्यपदेश कैसे बनेगा ? यह एक प्रश्न सामने आता है। उसका उत्तर निकालनेके लिए यदि शङ्काकार यह कहे कि देखिये ! महेश्वरसे भिन्न होता हुआ भी वह ज्ञान महेश्वर का है, ऐसा व्यपदेश होना ठीक है, क्योंकि ज्ञानका महेश्वरमें समवाय है, आकाश आदिकके साथ ज्ञानका समवाय नहीं है। इस कारण यह ज्ञान आकाश आदिकका है, ऐसा निर्देश भी नहीं होता। तो यह ज्ञान महेश्वरका है, ऐसा निर्देश होनेके कारण समवाय सिद्ध हो जाता है। इसके उत्तरमें कहते हैं कि यहाँपर भी तो यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि ईश्वर और ईश्वरज्ञान अथवा ज्ञान इन दोनोंसे भिन्न जो समवाय है उसका भी बोध कैसे होगा ?

इहेदं प्रत्ययसे समवायाधिष्ठानके निर्णयका अनियम—अब शङ्काकार उक्त मंतव्यका समर्थन करनेके लिए कहता है कि देखिये ! इह इदं ऐसे ज्ञानविशेषके द्वारा समवायका परिज्ञान हो जाता है। इह इदं इस प्रकारके ज्ञानमें कोई बाधा भी नहीं पाई जाती है। सभी लोगोंको ऐसा परिचय हो रहा है कि महेश्वरमें ज्ञान है। तो ऐसा जब अबाधित प्रत्यय बन रहा है तो उससे समवायकी सिद्धि हो जायगी। इस महेश्वरमें ज्ञान है, इस प्रकारका जो इह इदं बोध है वह विशिष्ट पदार्थोंके कारण है, क्योंकि सब बाधाओंसे रहित यह इह इदं बोध बन रहा है। तो जो भी सर्व बाधारहित बोध होता है वह किसी न किसी विशिष्ट पदार्थके कारणसे ही होता है। जैसे द्रव्योंमें यह द्रव्य है, ऐसा जो अन्वय सम्बन्धी परिज्ञान हो रहा है याने सभी द्रव्योंमें द्रव्य है, इस तरहका जो एक अन्वय पाया जा रहा है वह सामान्य पदार्थके कारण पाया जा रहा है याने सामान्य पदार्थके सम्बन्धसे यह व्यवस्था बनी है कि जितने भी द्रव्य हैं उन सब द्रव्योंमें द्रव्य है, इस तरहका परिज्ञान होता रहता है। तो इसी तरह सब बाधाओंसे रहित इह इदं ज्ञानविशेष है। इस कारणसे यह ज्ञानविशेष विशिष्ठ पदार्थके कारणसे हुआ है, ऐसा समझना चाहिए। अर्थात् महेश्वरमें ज्ञान है इह इदं और जो भी विशेष होता है उसका कोई कारण अवश्य है, और जो भी कारणभूत पदार्थ है उस पदार्थका नाम समवाय है, क्योंकि समवायको छोड़कर अन्य किसी भी पदार्थका हेतुपना नहीं बन सकता। उत्तर इसमें यह है, इस प्रकारके परिज्ञानमें समवाय ही तो कारण बन सकता। द्रव्य गुण आदिक कोई भी पदार्थ कारण नहीं बन सकते हैं, क्योंकि समवायको छोड़कर अन्य पदार्थोंमें इह इदं

इस ज्ञानका हेतुपना नहीं है । इन तंतुओंमें पट है, यहाँ जो यह ज्ञान बन रहा है सो वह कहीं तंतुवोंके कारण नहीं बन रहा, क्योंकि तंतुओंमें तंतु ही हैं, ऐसा ज्ञान होता है । इन तंतुओंमें पट है, इस प्रकारका जो बोध हो रहा है वह पटके कारण नहीं हो रहा है, क्योंकि पटसे तो पट है, इस प्रकारका ही ज्ञान बनेगा । तथा किसी वासनाके कारण भी इन तंतुवोंमें पट है, ऐसा ज्ञान नहीं हो रहा, क्योंकि वासना तो कारण रहित कैसे यहाँ सम्भव हो जायगी ? उसमें भी कुछ कारण तो है ही । कोई कहे कि पहिले उस प्रकारके ज्ञानका वासना कारण नहीं तो वह पूर्व ज्ञान भी किस हेतुसे रहा ? यह विचार करना होगा । अगर कहो कि पूर्व वासनासे रहा तो वह ज्ञान किससे रहा ? अन्य पूर्व वासमासे ! तो इस तरह अनवस्था दोष आता है । यहां शंका-कार इह इदं, ऐसे ज्ञानको समवाय हेतुक सिद्ध कर रहा है और उसके लिए काट छाँट करते हुए उदाहरण दे रहे हैं कि देखो इन तंतुओंमें पट है, ऐसा जो ज्ञान हो रहा है वह ज्ञान समवायके कारण हो रहा है अन्यके कारणसे नहीं हो रहा । यदि कोई इसमें अन्य किसीको कारण ढूंढे तो उसपर विवेचन कर लिया जायगा । कोई कहे कि तंतुओंमें पट है, ऐसा ज्ञान तंतुओंके कारण है सो बात गलत है । तंतुओंके कारण तो तंतुओंमें तंतु है एसा ज्ञान बनेगा । तंतुओंमें पट है यह ज्ञान पटके कारण भी नहीं बनता । पटके कारण तो पट है ऐसा ज्ञान बनेगा । तंतुओंमें पट है ऐसा ज्ञान कहीं वासना विशेषके कारण भी न बनेगा, क्योंकि वासनाका कारण तो बतलाओ । यदि कहो कि पहिले उस प्रकारका ज्ञान वासनाका कारण है तो पहिले वह ज्ञान किस कारणसे हुआ ? वासनासे ! वह वासना कैसे हुई ? पहिले ज्ञानसे ! इस तरह तो अनवस्था दोष आता है । यदि कोई कहे कि ज्ञान और वासनामें अनादि संतान मान लिया जायगा तो भाई जब नित्य संतान मानते हो तो बाह्य अर्थकी कैसे सिद्धि होगी ? यदि कहो कि अनादि वासनाके बलसे होगी तो नील आदिक ज्ञान भी अनादि वासना के बलसे हो जायें फिर उनमें विज्ञान संतानकी, नानापरकी सिद्धि नहीं हो सकती । संतान भिन्न भिन्न अन्य अन्य संतानोंका ग्रहण करने वाला जो विज्ञान है वह भी संतानान्तरके बिना वासना विशेषसे बन जायगा । जैसे कि स्वप्न संतानान्तरका परि-ज्ञान होता है । यहाँ शङ्काकार ही क्षणिकवादियोंको लक्ष्यमें लेकर कहे जा रहा है कि ज्ञान और वासनामें अनादि संतान कल्पना माननेपर बाह्य अर्थकी सिद्धि नहीं हो सकती, फिर तो एक अंतरिक ज्ञान ही ज्ञान रहेगा और इस तरह अनादि वासना माननेपर विग्यान संतानका भी नानापना न बन पायगा । और, नाना संतान न मानने पर एक ग्यान संतानकी भी सिद्धि कैसे होगी ? जब अपनी संतान नहीं है तो उसका ग्रहण करने वाला ग्यान बन गया । स्वसंतान यदि नहीं मानते तब फिर संविदित द्वैत कैसे सिद्ध होगा ? यदि क्षणिकवादी यह कहे कि स्वतः प्रतिभास हो जानेसे ग्यान सिद्ध हो जायगा तो वह भी बात यों नहीं बनती कि वह प्रतिभास भी तो उस प्रकार की वासना विशेषके कारण बनेगा । वहाँ भी यह कहा जा सकेगा कि स्वसंतानके

प्रतिभास करनेकी वासनाके द्वारा ही स्वत: प्रतिभास होता संवेदनका पर परमार्थत: नहीं होता। उसका प्रतिभास होनेमें वासना विशेष कारण रहा, तब फिर वासनामें कोई ग्यान ही सिद्ध न सो सकेगा। ये सब प्रतिभास कल्पना उपचारसे ही बातें बनेंगी तब फिर ऐसा सिद्धान्त बनाना कि स्वरूपकी स्वत: गति होती है। ग्यानस्वरूपका स्वत: ही ग्यान होता है, यह युक्ति खण्डित हो जाती है। तब किसी कारणसे किसी भी तत्वको परमार्थसे सिद्ध करने वालेके लिए अथवा कुछ दूषण देने वालेके लिए साधनका ग्यान और दूषणका ग्यान भ्रान्ति रहित, आलम्बन सहित मानना ही पडेगा। उस ही प्रकार सारा अबाधित ग्यान अवलम्बनसहित होता है, तो हमारा भी जो यह ग्यान हो रहा इह इदं, महेश्वरके ग्यान है इस प्रकारका जो ग्यान हो रहा वह भी अबाधित है, तो आलम्बन शून्य कैसे होगा ? वह किसी कारणसे होगा और जिस कारणसे इहइदं ग्यान होता है वह कारण समवाय। केवल वासना भरके कारणसे हो रहा है यह ग्यान, यह बात नहीं, किन्तु वासनामें समवाय नामका पदार्थ है और उस पदार्थके कारण इहइदं ऐसा ग्यान हो रहा है। इहइदं इस प्रकारका ग्यान हेतु शून्य नहीं है, क्योंकि वह कादाचित्क है, जो कादाचित्क होता है वह किसी न किसी हेतुसे होता है। तो वह हेतु कौन है यहाँ ? वह है समवाय नामका विशिष्ट पदार्थ। यों ही समवायकी सिद्धि होती है और समवायसे महेश्वरका ग्यान सिद्ध होता है। तब जो शङ्का उठायी थी कि महेश्वरका यह ग्यान है, यह कैसे सम्भव है ? वह शंका युक्त नहीं है। वह समवाय सम्बन्धसे सिद्ध हो जाता है। उक्त वैशेषिकोंके मंतव्यपर उत्तरमें यहाँ वे पूछते जा रहे हैं कि इह इदं इस प्रकारके ग्यानने किसी विशिष्ट पदार्थको जो हेतु कहा है वह हेतु क्या है, क्या समवाय है या सम्बन्ध मात्र है ? महेश्वरमें ग्यान हुआ कि महेश्वरमें ग्यान है तो ऐसा जो इह इदं ग्यान है वह समवाय के कारण है या सम्बन्ध मात्रके कारण है ? यदि कहा जाय कि समवायके कारण है इह इदं इस ग्यानमें समवाय नामका पदार्थ कारण है तो जैसे महेश्वरमें ग्यान है वहाँ इह इदंका बोध होता है उसी प्रकार इस कुण्डमें दधि है इस प्रकारका भी बोध होता है। और जैसे महेश्वरमें ग्यान है इस प्रत्ययको अबाधित बताते हैं ऐसे ही इस कुण्डमें दधि है, यह ग्यान भी अबाधित है। लेकिन इसमें तो समवाय नहीं मानी गई। यहाँ तो सुना गया ही है, उस दधीको अलग करके दिखा देते हैं दधी अलग चीज है, कुण्ड अलग चीज है तो इह इदं इतना ग्यान होने भरसे अगर समवाय सम्बन्ध मान लिया जाता तो इस कुण्डमें दधि है, यहाँ भी इह इदं इतना भर ग्यान होनेसे यह भी समवाय सम्बन्ध कल्पित कर लेना चाहिए। वह भी तो अबाधित रूपसे ग्यान हो ही रहा है, पर इस कुन्डमें दही है, ऐसा ग्यान समवायके कारण नहीं बन रहा। वह ग्यान तो संयोगके कारणसे बन रहा है। यदि इह इदं इस ग्यानको सम्बन्ध मात्रके कारणसे मानते हो तो यह जैनियोंको सम्मत ही है। दधिमें भी सम्बन्ध मात्रकी बात मान ली जायगी और ग्यानमें भी सम्बन्ध मात्र मान लो। स्याद्वादियोंके यहाँ सभी

जगह इह इदं ऐसा जो भी अबाधित ग्यान हो रहा हो उसका कारण सम्बन्ध मात्र ही माना गया है।

ईश्वरमें ज्ञानका सम्बन्ध बताने वाले समवायका लक्षण और उस लक्षणमें कहे गये विशेषणोंकी उपयोगिताका शंकाकार द्वारा प्रकाशन—अब शङ्काकार कह रहा है कि देखिये! वैशेषिकोंके यहाँ ईश्वरमें ज्ञानका सम्बन्ध हम पहिले सामान्य रीतिसे करते हैं। जब सामान्य रीतिसे सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है तब हम वहाँ विशेष सम्बन्धकी सिद्धि करते हैं। जैसे कि अबाधित इह इदं ज्ञानके साधन से पहिले हम सामान्यतया ईश्वरमें और ज्ञानमें सम्बन्ध सिद्ध करते हैं। ईश्वरमें ज्ञान है, इतना तो सभीको अबाधित ज्ञान हो रहा है। उस ज्ञानके बलसे वहाँ सामान्यरूप से सम्बद्ध सिद्ध किया। अब उसके बाद विशेष सम्बन्धका कारणभूत इह इदं प्रत्यय होता है जो कि अवयव अवयवीमें, गुण गुणीमें, क्रिया क्रियावानमें, सामान्य सामान्यवानमें, विशेष विशेषवानमें जो एक इह इदं ज्ञान होता है वह विशेष सम्बन्धको सिद्ध करता है और ऐसा विशेष सम्बन्ध समवाय ही हो सकता है, क्योंकि समवायका लक्षण इसमें घटित होता है। समवायका लक्षण यह किया गया—

"अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहेदं प्रत्ययलिङ्गो यः सम्बन्धः सः समवायः।"

अपृथक सिद्ध और आधार आधेयभूत पदार्थमें जो इह इदं इस ज्ञानके साधन से सम्बन्ध बनता है उसका नाम समवाय सम्बन्ध है। यहाँ अपृथक सिद्ध व आधार आधार्यभूत ये दो खास विशेषण बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। साथ ही इह इदं प्रत्ययके द्वारा होने वाला सम्बन्ध यह वचन भी खास महत्त्वपूर्ण है। जैसे कि कोई यदि यहाँ यह आशङ्का कर बैठता है कि समवायका लक्षण केवल इतना ही कहना चाहिए कि इह इदं इस प्रत्ययके साधन द्वारा समवाय सिद्ध होता है। तो यदि कोई इतना ही कहता तो जैसे कहते हैं कि उस ग्राममें वृक्ष हैं, तो ग्राममें जो वृक्ष हैं वे तो अन्तरालपूर्वक हैं तो ऐसे दूसरे ग्राममें वृक्ष हैं, इस तरहके इह इदं प्रत्ययमें व्यभिचार आ जाता है। यहाँ बोध तो हो गया लेकिन समवाय नहीं माना गया है। तो इहेदं प्रत्ययके साधन पूर्वक समवाय बनता है, ऐसा कहनेमें दोष आता है। इस कारण सम्बन्ध शब्द दिया गया है। लेकिन इहेदं ज्ञानको कराने वाला सम्बन्ध है वह समवाय है। तो इस ग्राम में वृक्ष हैं, यहाँ इहेदंका तो बोध हुआ मगर सम्बन्ध नहीं है। लेकिन इहेदं प्रत्ययपूर्वक सम्बन्ध होता है उसे समवाय कहते हैं। कोई यहाँ भी यह बात उपस्थित करदे कि ग्राम और वृक्षमें अन्तरालका अभाव तो है इसलिए सम्बन्ध बन जायगा, तब व्यभिचार दोष न आयगा। मानो ग्राममें वृक्ष हैं और अन्तरालका अभाव है। ग्राम दूर हो

वृक्ष दूर हो, ऐसा अन्तराल नहीं है। इस कारण सम्बन्ध भी बन गया। तो उसके साथ व्यभिचार न आयगा। ऐसा कहने वाले यद्यपि वहाँ कुछ खींचातानी करके बचाव भी करलें लेकिन दूसरा उदाहरण देखिये ! जैसे कहते हैं कि इस आकाशमें पक्षी हैं, यहाँ इहेदं यह ज्ञान तो हुआ अब वहां संयोग सम्बन्ध मात्र है। कहीं आकाश में पक्षी का समवाय नहीं है तो संयोग सम्बन्ध मात्र जहाँ कारण है ऐसा इह इदं इस प्रत्यय वाले आकाशमें पक्षी है, उसके साथ व्यभिचार आ जायगा। उसी कारणसे समवायके लक्षणमें आधार आधेयभूत शब्द डाला गया है याने इह इदं प्रत्यय ऐसा सम्बन्ध होना भी हुआ और साथ ही वह आधार आधेयभूत भी हुआ। तो आधार आधेय शब्द डालनेसे आकाशमें पक्षी है, इस ज्ञानके साथ व्यभिचार न आयगा। जैसे अवयव अवयवीमें जो कि आधार आधेयभूत है, अवयवी आधार है, अवयव आधेय है अथवा अवयव आधार है, अवयवी आधेय है। तो जैसे वहाँ आधार आधेय सम्बन्ध लगता है उस तरह आकाश और पक्षीके आधार आधेय भाव प्रसिद्ध नहीं है, क्योंकि आकाश और पक्षीमें आधार आधेय सम्बन्ध होना असिद्ध है। कहा कि आकाश तो व्यापक है। जैसे वह पक्षीके नीचे आकाश है, वैसे ही ऊपर भी आकाश है। तो आधार तो नीचे होता आधेय ऊपर होता है, मगर आकाश व्यापक होनेसे उसके बीच रहने वाला पक्षी आधेय नहीं कहा जा सकता है। तो आधार आधेय भूतोंके यह विशेषण देनेसे आकाशमें पक्षीके साथ इह इदं प्रत्ययका दोष न आयगा। अर्थात् आकाशमें पक्षी है, यह एक साधारण सम्बन्ध वाली बात है। वहाँ समवाय सम्बन्ध नहीं सिद्ध होता।

समवाय लक्षणोक्त विशेषणोंकी उपयोगिताका पुनः प्रकाशन--यदि कोई यहाँ यह कहे कि आकाश तो अतीन्द्रिय है। उसके सम्बन्धमें तो हम लोगोंको इह इदं यह ज्ञान हो ही नहीं सकता। और, जब वहाँ इह इदं ज्ञान नहीं हो सकता तो अतिव्याप्ति प्रदर्शित करनेमें यह कथन ठीक नहीं, ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि किसी भी साधनसे अनुमान कर लीजिए। जो भी पदार्थ है उसमें बराबर व्यवहार चलता है, तो यों ही किसी लिङ्गसे अनुमान लिए गए आकाशमें पक्षी आदिक किसीका भी इह इदं यह ज्ञान हो सकता है। प्रायः करके लौकिकजनोंको भी आकाश के विषयमें संदेह नहीं है तो यों आकाशमें पक्षी है इस प्रकारका ज्ञान हो सकता है, इसमें कोई विरोध नहीं है। अथवा उसमें भ्रान्तिसे किसी भी इह इदंका ज्ञान बन जाय तो उसके साथ अतिव्याप्तिकी बात संगत हो जाती है। तो उस अतिव्याप्तिके परिहारके लिए आधार आधेयभूत यह विशेषण कहना सर्व प्रकार उचित है। अब वैशेषिकोंके प्रति कोई शङ्का करता है कि समवायके लक्षणमें आधार आधेयभूत भी कह दे फिर भी वह लक्षण समीचीन नहीं बनता। जैसे इस कुण्डमें दही है, ऐसा ज्ञान तो होता है तो वहाँ इह इदंका ज्ञान हुआ, और आधार आधेयभूत भी है, कुण्ड आधार

है और दधि आधेय है इतनेपर भी यह समवाय सम्बन्ध नहीं माना गया। इस कारण से आधार आधेयभूत पदार्थोंमें इह इदं इस ज्ञानके द्वारा समझा गया सम्बन्ध समवाय कहलाता है। यह कथन युक्त न रहा। इसके उत्तरमें वैशेषिक कहते हैं कि तभी तो मैंने इस लक्षणमें अयुतसिद्ध शब्द डाला है, याने कोई पदार्थ आधार आधेयभूत हो और साथ ही अभिन्न हो तो उनमें समवाय सम्बन्ध बनता है। तो जिस तरह अवयव अवयवीमें अभिन्नता सिद्ध है उस तरह दही और कुण्डमें अभिन्नता सिद्ध नहीं है। तो अभिन्नता न होनेमें कारण अयुतसिद्ध पदार्थोंमें जो सम्बन्ध माना गया है वह समवाय नहीं कहला सकता। तब वैशेषिकोंके प्रति कोई शङ्का कर रहे हैं कि फिर तो अयुत सिद्ध इतना ही विशेषण दीजियेगा। आधार आधेयभूत यह विशेषण न कहना चाहिए क्योंकि अयुत सिद्ध इतना कह देनेसे ही सब बात सिद्ध हो जाती है। जो अभिन्न होंगे उनमें आधार आधेयभूतकी बात क्या कहना ? समवाय तो अभिन्नमें ही हुआ करता है। तो अयुतसिद्ध इतना ही विशेषण देकर आधेयभूत यह न कहकर सम्बन्धका लक्षण कह देना चाहिए। इसके समाधानमें वैशेषिक कहते हैं कि ऐसा विचार न रखिये। क्योंकि आकाश और आश शब्द इनमें बाच्य वाचक सम्बन्ध है। समवाय सम्बन्ध तो नहीं है, लेकिन अयुतसिद्ध तो है ही। तो अयुतसिद्ध होने वाले आकाश और आकाश शब्दके साथ अतिव्याप्ति हो जायगी। आधार आधेयभूत यह शब्द न कहकर यह दोष आता है, इस आकाश वाच्यमें वाचक आकाश शब्द है। यहाँ वाच्य वाचक भाव तो हो गया और वह इह इदं इस ज्ञानसे भी जाना गया और अयुतसिद्ध भी है लेकिन समवाय सम्बन्ध नहीं है। तो यदि सम्बन्धका लक्षण इतना ही कहा जाता अयुतसिद्ध पदार्थमें इह इदं इस प्रत्ययके कारण जो सम्बन्ध सिद्ध होता है उसका नाम समवाय है। मात्र इतना कहनेसे वाच्य वाचकके साथ अतिव्याप्ति आता है तो उस अतिव्याप्तिको दूर करनेके लिए आधार आधेयभूत यह शब्द देना अत्यन्त आवश्यक है।

आधार आधेयभूत व अयुतसिद्धके अवधारणसे विषय विषयी भाव सम्बन्धका निराकरण और समवायका समर्थन—अब वैशेषिकोंके प्रति कोई आशङ्का करता है कि जो आधार आधेयभूत है तथा जो अयुतसिद्ध हैं उनमें विषय विषयी भाव सम्बन्ध बन जायगा। समवायकी सिद्धि कैसे बनेगी ? जहाँ भी आधार आधेयभाव है वहाँ सिद्ध हो गया विषय विषयी सम्बन्ध और जहाँ अयुतसिद्ध भी होगा उसमें भी सिद्ध है विषय विषयी सम्बन्ध, वहां समवायकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? और, यह कहा नहीं जा सकता कि आत्मामें इच्छा आदिकका ज्ञान होना अयुत सिद्ध नहीं है। जैसे कोई कहता कि आत्मामें इच्छा है तो वह अयुतसिद्ध ही तो है। कोई कहता है कि मैं हूं तो मुझमें अस्तित्व है। इस प्रकार की जो बुद्धि बनती है उसमें आधार आधेय सम्बन्ध सिद्ध हो जाता। तब मैं हूं इस ज्ञानमें जो आत्म विषयक

है, अयुत सिद्ध है। आत्मा ही जिसका आधार है यह बात तो सिद्ध है और साथ ही उनमें विषय विषयी भाव है तब अयुतसिद्धमें भी, आधार आधेयभूतमें भी समवाय सम्बन्ध कैसे सिद्ध होगा ? उनमें तो विषय विषयी भावका सम्बन्ध मानना चाहिए। इसके समाधानमें वैशेषिक कहते हैं कि यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि हम तो वहाँ अवधारण कर रहे हैं कि आधार आधेयभूतके ही और अयुतसिद्धके ही समवाय सम्बंध होता है। ऐसा अवधारण कर लेनेसे अब उक्त दोष दूर हो जाता है। वाच्य वाचक भाव जैसे अयुतसिद्धमें होता वैसे युतसिद्धमें भी होता है। तब यह अवधारण तो न रहा कि वाच्य वाचक भाव अयुतसिद्धके ही होता है, इसी तरह आधार आधेयभूतमें भी वाच्य वाचक भाव होता है और जो आधार आधेयभूत नहीं हैं उनमें भी वाच्य वाचक भाव हो तो तब यह अवधारण कर लिया जायगा कि अयुतसिद्धके ही और आधार आधेयभूतके ही समवाय नामका सम्बन्ध होता है। तो इसमें यह दोष नहीं रहता। क्योंकि विषय विषयी भाव अनवधारित है। भिन्नके भी होता, अभिन्नके भी होता। आधार आधेयभूतके हो और आधार आधेय नहीं है जहाँ वहाँ भी न हो तब हमारे समवाय सम्बन्धका लक्षण भली प्रकार सिद्ध है।

अयुतसिद्ध व आधाराधेयभूत दोनों विशेषणोंके एक साथ कहनेकी उपयोगिता—अब यहाँ वैशेषिकोंके प्रति पुनः कोई शङ्काकार करता है कि अयुत सिद्ध के ही ऐसा अवधारण भी बना लिया जाय फिर भी वहाँ तो अतिव्याप्तिका अभाव हो जायगा, लेकिन आधार आधेयभूतके ही इस अवधारणका कहना व्यर्थ हो जायगा। जैसे आधार आधेयभूतके ही इतना जब अवधारण बना लिया तो अयुत सिद्धके ही यह कहना व्यर्थ है याने दोनोंमेंसे कोई एक कह लीजिए। देखिये ! कोई विषय विषयी भाव और वाच्य वाचक भाव युतसिद्धमें भी सम्भव है। यही कहकर तो दोष मिटाते हो। सो जैसे आधार आधेय भाव रहित कि यह वाच्य वाचक भाव सिद्ध होता है और इस कारणसे इसमें अतिव्याप्ति दोष नहीं आता, ऐसे ही अयुत सिद्धके ही ऐसा कह देनेपर अतिव्याप्ति दोष दूर हो जाता है। इस कारण अवधारण वाला एक ही विशेषण कहा गया अयुतसिद्धके ही और आधार आधेयभूतके ही ऐसे दो विशेषणोंका अवधारण बनानेको आवश्यकता नहीं है। इसके समाधानमें वैशेषिक कहते हैं कि यह कथन ठीक नहीं है। देखो ! घट आदिक एक द्रव्यमें समवाय सम्बन्ध से रहता है रूप रस आदिक, इसे कहा करते हैं पदार्थ समवाय। एक पदार्थमें अनेक पदार्थ समवाय सम्बन्धसे रह रहे हैं और वे रूप रस आदिक अयुतसिद्ध है। कहीं पृथक पृथक सिद्ध नहीं हैं और फिर भी उनका आपसमें सम्बन्ध नहीं है। याने रूपका और रसका परस्परमें समवाय सम्बन्ध नहीं है। अयुतसिद्ध इसपर भी समवाय सम्बन्ध नहीं पाया गया तो यों एकार्थ समवाय सम्बन्ध रहा तो उसके साथ अतिव्याप्ति दोष आ जायगा। याने केवल अयुतसिद्धके ही इतना कहा जाय तो अयुतसिद्ध तो

रूप रस भी हैं, उनमें परस्पर समवाय सम्बन्ध तो है नहीं, इस कारण जो वैशेषिकोंके विरुद्ध यह शङ्का कर रहा है कि अयुतसिद्धमें ही इतना भर कहदें तो इसका समवाय सम्बन्ध बन जायगा सो नहीं बनता। अयुतसिद्धके ही इतना कहनेपर रूप रस आदि के साथ परस्पर समवाय सम्बन्ध माननेका प्रसङ्ग आ जायगा। लेकिन वहाँ समवाय सम्बन्ध नहीं है। और ऐसा भी नहीं है कि यह एक अर्थ समवाय भिन्न पदार्थोंमें हो जाता हो। जैसे कि विषय विषयी भाव, वाच्य वाचक भाव पृथक सिद्धके हो जानेसे अवधारण कहकर उनका व्यभिचार डाल दिया जाता है, ऐसे ही रूप रस आदिकमें व्यभिचार डाला नहीं जा सकता, क्योंकि एकार्थ समवाय सम्बन्ध रूप रस आदिककी स्थिति युतसिद्धमें नहीं होती। अतः अयुतसिद्धके ही ऐसा अवधारण करनेपर उसके साथ व्यभिचार आया, रूप रस आदिकके साथ उसे दूर करनेके लिए आधार आधेय-भूत, यह शब्द अवश्य ही कहना चाहिए। तब देखिये ! रूप और रस इनका परस्पर आधार आधेयभाव नहीं है। रूपमें रस नहीं, रसमें रूप नहीं। तो आधार आधेयभूतके ही, इतना विशेषण और दे देनेपर रूप रसके साथ व्यभिचार नहीं आता, तब दोनों ही अवधारण देना समवाय सम्बन्धके लक्षणमें युक्तिसङ्गत नहीं है। इसी प्रकार आधार आधेयभूतके ही इनका मात्र अवधारण करे और अयुतसिद्धका विशेषण हटा दे तो जहां आधार आधेयभूत ही होता है ऐसा कुछ पदार्थोंके साथ व्यभिचार आयगा, जैसे—संयोग विशेष। उनमें कुछ आधार आधेय भाव है और वह संयोग विशेष कभी भी आधार आधेय रहितमें सम्भव नहीं, तो उसके साथ अतिव्याप्ति बन बैठेगा। याने सम्बन्धके लक्षणमें सिर्फ आधार आधेयभूतके ही, इतना कहा जाय तो संयोग विशेष तो आधार आधेयभूतके ही होता है। फिर उसमें समवायका लक्षण घटित करनेका प्रसङ्ग आ पड़ेगा। इस कारण दोनों ही विशेषण देकर दोनोंमें अवधारण करना उचित है। इस प्रकार अयुतसिद्ध और आधार आधेयभूत इन दोनोंमें ही अवधारण करके इहेदं ज्ञानके द्वारा सिद्ध होने वाला सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध है, यह भलीभाँति सिद्ध होता है। तो इस तरह ईश्वरमें ज्ञान है यहाँ समवाय सम्बन्ध बन जाता है और समवाय सम्बन्ध बननेसे इसमें ईश्वर और ज्ञानका सम्बन्ध बन गया और तब वह सृष्टि करनेमें निमित्त बनेगा।

समवायसम्बन्ध लक्षणोक्त विशेषणोंकी व्यभिचारिता दिखाते हुए उनकी शङ्काओंका समाधान—उक्त सब शङ्काओंके समाधानमें कहते हैं कि देखो, सबसे पहिले हम आपके अयुतसिद्ध विशेषणपर ही कुछ विचार कर रहे हैं। भला बतलाओ ! अयुतसिद्धपनेका अर्थ क्या है ? वैशेषिक सिद्धान्तमें जो अयुतसिद्धकी बात कही है वह अयुतसिद्ध क्या है ? शास्त्रीय अयुतसिद्ध है या लौकिक ? याने वैशेषिक शास्त्रोंमें जिस ढङ्गसे अयुतसिद्धकी व्याख्या की गई है क्या उसके अनुसार समवाय सम्बन्धके लक्षणमें अयुतसिद्धपनेकी बात कह रहे हो या लोकरूढ़िमें जैसे अभिन्नपना

प्रख्यात है उस प्रकारके अयुतसिद्धपनेकी बात कह रहे हो ? ऐसे दो विकल्पोंको उठाकर उनका निराकरण करनेके लिए दो कारिकायें कहते हैं—

सत्यामयुतसिद्धौ चेन्नेदं साधुविशेषणम् ।
शास्त्रीययुतसिद्धत्वविरहात्समवायिनोः ॥ ४३ ॥

द्रव्यं स्वावयवाधारं गुणो द्रव्याश्रयो यतः ।
लौकिक्ययुतसिद्धिस्तु भवेद् दुग्धाम्भसोरपि ॥ ४४ ॥

समवायी पदार्थोंके आधार भिन्न भिन्न होनेसे अयुतसिद्ध विशेषणकी अयुक्तता—यदि यह कहा जाय कि अयुतसिद्ध विशेषण देनेपर व्यभिचार दोष नहीं आता, तो सुनो ! वह अयुतसिद्ध विशेषण ही सम्यक नहीं है, क्योंकि अवयव अवयवी आदिक जो समवायी पदार्थ हैं उनमें शास्त्रीय अयुतसिद्ध घटित नहीं होता । याने वैशेषिक सिद्धान्तमें अयुतसिद्धकी जो व्याख्या की गई है उसके अनुसार अयुतसिद्धपने की बात समवायमें घटित नहीं होती । इसका कारण यह है कि देखिये ! द्रव्य तो अपने अवयवमें रहता है और गुण द्रव्यमें रहता है । तो अब देखिये ! दृष्टा और गुण जिनमें कि समवाय सम्बन्ध बना रहे हो, ये दोनों भिन्न–भिन्न आश्रयमें रहते हैं, देखो ! रहा ना द्रव्य तो अवयवोंमें और गुण द्रव्यमें । द्रव्य और गुण ये दोनों एक तत्त्वमें न रहे । तो जब ये दोनों भिन्न–भिन्न आश्रयमें रहे याने दोनोंका एक आश्रय जब न रहा तब उनमें शास्त्रीय अयुतसिद्धपना कैसे हो सकेगा ? यदि कहो कि शास्त्रीय अयुतसिद्ध सम्बन्ध नहीं बनता तो लौकिक अयुतसिद्ध बन बैठे । तो वह भी कथन यों युक्त नहीं है कि लौकिक अयुतसिद्ध तो दूध और पानी है । जैसे दूध और पानी मिला दिये जायें तो वे अभिन्न हो गए । सभी लोग ऐसा कहते हैं, लेकिन दूध और पानीमें समवायका सम्बन्ध तो नहीं माना गया । तो अयुतसिद्धका अर्थ शास्त्रीय व्याख्याके अनुसार भी न बना और लोकरूढ़िके अनुसार भी न बना । तो जब अयुतसिद्ध यह विशेषण ही सिद्ध न हुआ तब समवाय सम्बन्धका लक्षण बनाना कैसे सिद्ध होगा ? वैशेषिक कहते हैं कि देखिये ! तंतुओंमें पट है, यह जो इहेदं प्रत्यय बन रहा है वह समवाय सम्बन्धके कारणसे ही बन रहा है, क्योंकि तंतुओंमें वस्त्र है, यह निर्बाध और अयुतसिद्ध ज्ञान है । सभी लोग इस तरहका ज्ञान कर रहे हैं कि तंतुओंमें वस्त्र है और साथ ही अयुतसिद्ध भी है । तो यहाँ यह अनुमान प्रयोग बना लीजिए कि तंतुओंमें वस्त्र है, इस प्रकारका जो इहेदं प्रत्यय है वह समवाय समवाय सम्बन्धके कारणसे ही होता है, क्योंकि वहाँ निर्बाध अयुतसिद्ध इहेदं ज्ञान है । जो समवाय सम्बन्धके निमित्तसे नहीं होता वह निर्बाध अयुतसिद्ध ज्ञान भी नहीं होता । जैसे इन समवायियोंमें समवाय है, यहाँ होनेवाला इहेदं ज्ञान यह समवाय सम्बन्धके निमित्तसे

नहीं है और इस कुण्डमें दही है, यह युतसिद्ध इह इदं ज्ञान यह भी समवाय सम्बन्ध नहीं है। तो जहाँ निर्बाध अयुतसिद्ध इहेदं ज्ञान होता है वहाँ समवाय सम्बन्ध जानना चाहिये। तंतुओंमें वस्त्र है, यहाँ इस ही प्रकारका सम्बन्ध है। और, वह समवाय सम्बन्धके कारणसे हुआ है। तो हमारे इस अनुमानमें हेतु केवल व्यतिरेकी है और असिद्ध आदिक कोई दोष नहीं है। तो वह समवाय सम्बन्धरूप साध्यको सिद्ध करनेमें पूर्णतया समर्थ है। तो यह सब सिद्धि अयुतसिद्ध इस विशेषणके आधारपर ही हो सकी है। अब उक्त शङ्काके उत्तरमें स्याद्वादी कहते हैं कि आपने जो हेतु दिया है कि निर्बाध होनेपर अयुतसिद्ध इहेदं ज्ञान होनेसे इस हेतुमें जो अयुतसिद्धत्व विशेषण दिया गया है वह क्या शास्त्रीय अयुतसिद्ध है या लौकिक अयुतसिद्ध है? शास्त्रीय अयुत-सिद्ध तो यहाँ ठीक ठहरता नहीं, क्योंकि अयुतसिद्धकी बात बताई गई थी कि समवाय समवायीमें, अवयव अवयवीमें, गुण गुणीमें, क्रिया क्रियावानमें अयुतसिद्ध समवाय सम्बन्ध है। लेकिन इसमें अयुतसिद्धपना तो घटित ही नहीं होता। वह कैसे घटित नहीं होता? सो सुनो! वैशेषिक सिद्धान्तमें यह बात प्रसिद्ध की गई है कि "अपृथगाश्रयवृत्तित्वयुतसिद्धत्वम्" अर्थात् अभिन्न आश्रयमें रहनेका नाम है अयुतसिद्ध-पना याने जिसका पृथक आश्रयमें रहना न हो, किन्तु अपृथक आश्रयमें रहना हो उसे कहते हैं अयुतसिद्ध। ऐसा अयुतसिद्धपना यहाँ नहीं है। किस तरह नहीं है? सो सुनो! जैसे तंतुवोंमें पट है, यहाँ समवाय सम्बन्ध घटित किया जा रहा है। तो यहाँ जो तंतुरूप कारण द्रव्य है वह तो अपने अवयवरूप अंशोंमें रहता है और पटरूप जो कार्यद्रव्य है वह अपने अवयवरूप तंतुओंमें रहता है। याने तंतु और पट ये दो चीजें बताते हैं। तंतु तो है कारण द्रव्य और पट है कार्य द्रव्य। तंतु तो रहता है अपने अवयवमें और पट रहता है तंतुओंमें। तो आश्रय अभिन्न कहां रहा? पटका आश्रय कुछ है, तंतुओंका आश्रय और कुछ है। तो इस तरह तंतुओंमें पट है, इसका समवाय सम्बन्ध घटित नहीं कर सकते, क्योंकि अपृथक आश्रयमें रहने वाले रहे दोनों।

अवयव अवयवी, गुण गुणवान, कर्म कर्मवान, आदिमें भी समवायका अघटन—उक्त विवेचनके अनुसार अवयव अवयवीमें भी अभिन्न आश्रय बृत्तिपना सिद्ध नहीं होता। वहाँ पर भी पृथक आश्रयमें रह रहे हैं अवयव और अवयवी। और, भी देखिये! किसी भी पदार्थमें रूप, रस आदिकका रहना बताया जाता है। जैसे पट में रूप इसका समवाय सम्बन्ध कहते हैं। मगर यहाँ भी यह विलक्षणता आती है कि रूपादिक गुण है वे तो हैं कार्य द्रव्यके आश्रय और कार्यद्रव्य है अपने अवयवके आश्रय तो जब गुण गुणीका अभिन्न आश्रयमें रहना न बना तो इसमें भी समवाय सम्बन्ध कैसे सिद्ध किया जा सकता है, इसी प्रकार और भी सुनो! कर्मका कार्य द्रव्यमें समवाय सम्बन्ध माना है विशेषवादमें। लेकिन वहाँ भी समवाय सम्बन्धका लक्षण घटित नहीं होता। अपृथक आश्रयमें रहनेपर ही तो समवाय सम्बन्ध कहा जाता है। तो

क्रिया तो रही कार्य द्रव्यमें और कार्य द्रव्य रहा अपने अवयवोंमें तो क्रिया रही अन्य आश्रयमें और कार्य द्रव्य रहा अन्य आश्रयमें तो क्रिया और क्रियावानका अपृथक आश्रयमें रहना सिद्ध न हुआ। उसी प्रकार सामान्य सामान्यवानमें भी अपृथक आश्रय में रहना नहीं बन रहा। जैसे सामान्य तो है द्रव्यत्व, तो रह रहा है द्रव्यत्वादिकमें और द्रव्यादिक रह रहे हैं अपने आश्रयमें, अवयवमें। इस तरह सामान्य सामान्यवान का भी भिन्न भिन्न आश्रयमें रहना सिद्ध हुआ तो सामान्य सामान्यवानमें भी समवाय सम्बन्धका लक्षण घटित नहीं होता उसी प्रकार विशेषवानमें भी समवाय सम्बन्धका लक्षण घटित नहीं होता, क्योंकि वहाँ जो अपर विशेष है वह तो रहता है कार्य द्रव्य में और कार्य द्रव्य रहा करता है अपने अवयवोंमें। तो यहाँ भी विशेष और विशेषवान इनका एक आश्रय न रहा। तो इस तरह कहीं भी शास्त्रीय अयुतसिद्ध समवायियोंमें घटित नहीं होती। तो शास्त्रीय अयुतसिद्ध तो असिद्ध हो गयी, अब यदि लौकिकी अयुतिसिद्धका विश्वास रखा तो यह भी बहुत दोष है। जैसे दूध और जल इनमें लौकिकी प्रसिद्ध है कि इसमें एकपना है, एक आधारमें रह रहे हैं। एकमेक हो गए हैं, पर वस्तुतः ये दोनों पृथक सिद्ध हैं, दूधमें दूध है पानीमें पानी है, तो यहाँ भी अयुतपना सिद्ध नहीं हो रहा, तो न लौकिकी अयुत सिद्ध होता न शास्त्रीय अयुत सिद्धपना सिद्ध होता। शङ्काकार अपने पक्षका समर्थन करता है और उसके समाधानमें स्याद्वादी कहते हैं

पृथगाश्रयवृत्तित्वं युतसिद्धिर्न चानयोः।
साऽस्तीशस्य विभुत्वेन परद्रव्याश्रितिच्युतेः ॥४५॥

ज्ञानस्यापीश्वरादन्यद्रव्यवृत्तित्वहानितः।
इति येऽपि समादध्युस्तांश्च पर्यनुयुञ्जमहे ॥४६॥

विभुद्रव्य विशेषाणामन्याश्रय विवेकतः।
युतसिद्धिः कथं नु स्यादेकद्रव्यगुणादिषु ॥४७॥

समवायः प्रसज्येताऽयुतसिद्धौ परस्परम्।
तेषां तद्बुद्धितयाऽसत्त्वे स्याद्व्याघातो दुरुत्तरः ॥४८॥

युतसिद्ध और अयुतसिद्धके अर्थकी अनास्पदता—शङ्काकार कहता है युतसिद्धका अर्थ है भिन्न आश्रयमें रहना सो ऐसा युतसिद्ध ईश्वर और ईश्वरज्ञानमें नहीं है। ईश्वर कहीं रहता हो, कहीं ईश्वरज्ञान न रहता हो, ऐसा पृथक सिद्धपना

नहीं है, क्योंकि ईश्वर तो व्यापक है और इस कारणसे वह किसी पर द्रव्यका आश्रय कैसे करेगा ? दूसरे द्रव्यमें नहीं रहता और ईश्वरज्ञान भी ईश्वरसे भिन्न अन्य द्रव्यों में नहीं रहता, इस कारण ईश्वर और ईश्वरज्ञानमें युतसिद्ध तो है नहीं अयुतसिद्ध है, मायने अभिन्न है, एकमेक है, ऐसा वैशेषिकजनोंका कथन है। उसके उत्तरमें स्याद्वादी कहते हैं कि ऐसा कहने वाले वैशेषिक यहाँ इस प्रकार पूछे जाने योग्य हैं कि जो विभु द्रव्य होता है, व्यापक द्रव्य विशेष हैं उनमें अन्यका आश्रय तो होता नहीं, तब एक द्रव्यके गुणादिकमें युतसिद्ध क्यों न हो जायगा ? अथवा जब विभु द्रव्य अन्य द्रव्यमें नहीं रहता तो उन सर्व द्रव्योंकी पृथक सत्ता कैसे रह सकेगी ? जैसे आत्मा, आकाश, पृथ्वी आदिक अनेक द्रव्य हैं, इस प्रकार जो व्यापक द्रव्य है आत्मा, आकाश दिशा, आदिक तो इन व्यापक द्रव्योंमें फिर भिन्नता कैसे ठहरेगी ? क्योंकि अभी तो यह कहा है कि ईश्वर और ईश्वरज्ञान व्यापक हैं इस कारण अन्य द्रव्यके आश्रय नहीं है तो ऐसे ही समस्त व्यापक द्रव्योंकी बात है। उनका भी एक आश्रय बताना चाहिए और इस तरह उनमें युतसिद्ध घटित न हो सकेगा और इसी प्रकार उनमें तथा एक द्रव्यमें रहने वाले रूप रस आदिक गुणोंमें जब अयुतसिद्ध हो गया तो इसका परस्परमें समवाय सम्बन्ध मान लेना चाहिए। यदि उनमें अयुतसिद्ध न माने तो युतसिद्ध मान नहीं रहे, अयुतसिद्ध मान नहीं रहे। दोनोंका अभाव होनेपर विरोध आयगा और विरुद्ध उत्तर दिया जा सकना योग्य नहीं है।

शङ्काकार द्वारा युतसिद्ध व अयुतसिद्धके लक्षणका समर्थन— शङ्काकार अपने पक्षका विवरण देता है कि देखिये ! पृथक आश्रयमें रहनेका नाम युतसिद्ध है। ऐसा बताया गया है कि पृथक आश्रयमें होनेका नाम युतसिद्ध है। तो इस तरह युतसिद्धका लक्षण करने वाले हम वैशेषिक जनोंके समवाय विचार कोटिमें स्थित हो गया और तब समवाय लक्षणकी असिद्धिका प्रसङ्ग होता है। सारांश यह है कि समवायका जो लक्षण बताया है वह तो अयुतसिद्धमें घटित है और अयुतसिद्धका जो लक्षण बताया है कि पृथक आश्रयमें समवाय होना सो युतसिद्धि है। सो वह है समवाय गर्भित। तो अब ये दोनों परस्पर आश्रित हो गए। यों किसी एककी भी सिद्धि नहीं हो सकती। इस कारण युतसिद्धका लक्षण समवाय घटित न होना चाहिए। जहाँ समवाय न हो उसे युतसिद्ध मान लेना चाहिए। दूसरी बात यह है कि लक्षण कारक नहीं होता किन्तु ज्ञापक हुआ करता है याने लक्षण कुछ काम नहीं करता किन्तु ज्ञान कराता हैं। तो जो लक्षण होता, जो ज्ञान कराने वाला है उसे तो सिद्ध ही होना चाहिए। जो असिद्ध है, विचार कोटिमें स्थित है अथवा संदिग्ध होता है वह लक्षण सम्यक नहीं कहलाता। जो लक्षण सिद्ध हो वही अन्यका परिच्छेदक होता है। लक्षणका काम यह है कि बहुतसे मिले हुए पदार्थोंमें अलक्ष्यको अलग करादे सो लक्षण कहलाता है। तो युतसिद्ध ईश्वर और ईश्वरज्ञानमें तो है नहीं, क्योंकि महेश्वर व्यापक

है और नित्य है। इसी कारण उनके दूसरे पदार्थकी वृत्ति नहीं हो सकती। इसी तरह ज्ञान भी ईश्वरको छोड़कर अन्य किसी पदार्थमें नहीं रहता। तो अब उनमें युतसिद्ध कैसे बन जायगा ? उनका आश्रय पृथक तो न रहा। जैसे दधि और कुण्डका आश्रय पृथक पृथक है तो उनमें युतसिद्ध है। कुण्ड तो रहता है अपने कुण्डके अवयवमें और दधि रहता है अपने दहीके अवयवीमें तब कुण्डके आश्रय हुए कुण्डके अवयव और दहीके आश्रय हुए दहीके अवयव यों पृथक-पृथक आधार हैं। यों उनमें कुण्ड और दहीकी वृत्ति है। इस प्रकार पृथक आश्रय ही कहा जा सकता है। लेकिन इस प्रकारके भिन्न-भिन्न आश्रयमें रहते हुए समवायियोंमें सम्भव नहीं है। जैसे तंतुवोंकी अपने अवयवरूप अंशोंमें वृत्ति है उस प्रकार पटके तंतुओंसे अलग दूसरी जगह वृत्ति नहीं है। हेतु रह रहे अपने अवयवमें और पट तंतुओंसे अलग तो नहीं रहा। ये चार चीजें प्रतीत हुई-- तंतु और तंतुके अवयव, पट और पटके अवयव। ये चार स्वतन्त्र सत् न रहे याने दो पृथक आश्रय हुए और दो पृथक आश्रय हुए, ऐसी कोई चार चीजें नहीं हैं, किन्तु क्या है कि तंतु ही अपने अवयवोंकी अपेक्षासे आश्रयी कहलाते हैं और वे ही तंतु पटकी अपेक्षासे आश्रय कहलाते हैं। इस तरह यहाँ तीन ही चीजें प्रसिद्ध हैं। तब पृथकसिद्ध इसे नहीं कह सकते। तो युतसिद्धका लक्षण बताया गया है पृथक आश्रयमें रहना। सो यह युतसिद्धि तंतुपटमें पाई जाती। तो लो शास्त्रीय अयुतसिद्धि समवायमें सिद्ध हो गई ना! तब हेतुमें जो अयुतसिद्धपना विशेषण दिया गया है वह समीचीन है, असिद्ध नहीं है। हाँ, लौकिक अयुतसिद्ध हम सत्य नहीं मानते, वह तो अनुभवसे विरुद्ध है। तब अयुतसिद्ध वाले हेतुसे समवायकी सिद्धि होती है।

नित्य पदार्थोंमें पृथग्गतिमत्तारूप युतसिद्धिकी असम्भवता बताते हुए उक्त शङ्काका समाधान—उक्त शङ्काके समाधानमें स्याद्वादी कहते हैं कि विशेषवादियोंका यह कथन युक्त नहीं है। इस कथनके अनुसार तो आत्मा और आकाशादि व्यापक द्रव्य विशेषमें पृथक रहना कैसे बन सकेगा ? इसका कारण यह है कि वह व्यापक द्रव्य है और व्यापक द्रव्य किसी दूसरे आश्रयमें रहता नहीं। तब उन व्यापक विशेष द्रव्यका परस्परमें न रहना, पृथक आश्रयमें रहना ऐसा युतसिद्ध उनमें कैसे संभव होगा ? और, जो यह कहा है कि नित्य पदार्थोंमें पृथक गतिवानपना वाला युतसिद्धपना घटित होता है। याने पृथकसे कोई चीज आये तो वहाँ पृथक सिद्ध दोनों पदार्थ मालूम होते हैं, सो ऐसा युतसिद्ध व्यापक द्रव्यमें सम्भव है। जैसे चौकीपर पुस्तक आई तो पुस्तककी गति हुई और गति होकर सम्बन्ध बनता तो उससे यह सिद्ध है कि पुस्तक और चौकी भिन्न-भिन्न चीजें हैं। तो आत्मा आकाश आदिक परस्परमें भिन्न हैं, इसकी सिद्धि इस युक्तिसे नहीं हो सकती। बताओ आत्मा आया या आकाश आया ? पृथकरूपसे किसकी गति हुई है ? वह तो व्यापक द्रव्य है, किसीकी गति नहीं

होती है। इससे पृथक गति वाले युतसिद्ध व्यापक विशेष द्रव्योंमें सिद्ध नहीं होता। और विशेषणपूर्वक सुन लीजिए ! पृथक गतिमानपना दो प्रकारसे बनेगा एक तो यह कि दोमें से कोई एकपना आया याने एककी गति नहीं हुई और दूसरी गति हुई तो यह वहाँ जानें कि ये दोनों भिन्न पदार्थ हैं। जैसे चौकी तो कहीं रखी है, पुस्तक उठाकर उसमें रख दिया तो भी यह गति हुई और कभी पुस्तक भी लायी जाय, चौकी भी लायी जाय और दोनोंको एक जगह रखा जाय तो यहाँ दोनोंमें गति हुई। तो चाहे दोनोंमें गति हुई, सम्बन्ध बना तो वह भिन्नपना सिद्ध हुआ और चाहे एकमें गति होकर सम्बन्ध बनता है तो भी गतिवानपना सिद्ध होता। तो इस कथनको कुछ इन उदाहरणोंमें भी सुनो ! कि पहिले जो एककी गति बतायी है वह परमाणु और व्यापक द्रव्योंमें पायी जाती है। व्यापक द्रव्य तो वहीका वही है, स्थिर है और परमाणु गमन करके वहाँ संयोगमें आता है तो यहाँ यह मालूम पड़ जायगा कि परमाणु और आकाशमें भिन्न द्रव्य हैं। क्योंकि उन दोनोंमें किसी एककी गति हुई है, पर जो विभु द्रव्य है। आत्मा, आकाश न इसमें गति करते हैं और न आकाश गति करता है। उनमें कैसे भिन्नता सिद्ध करोगे ? अब दूसरे गतिवानपनेकी बात सुनो। दोनों ही द्रव्य गति करके मिल जायें तो उनमें पृथकपना जाहिर हो जाता है। जैसे दो परमाणु दोनों ही गति करके मिलकर स्कंध बने तो वहाँ दोनों परमाणुओंमें भिन्नता जाहिर होगी, क्योंकि दोनों परमाणुओंने जुदा जुदा गमन किया। सो इस तरह दोनों प्रकार की गतिमत्ता व्यापक द्रव्य विशेषोंमें परस्परमें सम्भव नहीं है, क्योंकि यह व्यापक है, उनमेंसे कोई भी गति करके आने वाला नहीं है, तो इसमें भिन्नता न सिद्ध हो सकेगी, अतः अयुतसिद्धका लक्षण ठीक नहीं बना। इसी तरह यहाँ भी देखिये एक द्रव्यके आश्रय गुण कर्म सामान्य रहता है। इसके पृथक आश्रयमें रहता नहीं है। जो जब पृथक आधारमें ये न हुए तो इसमें युतसिद्धि कैसे बनेगी ? अयुतसिद्धका जो लक्षण किया है उससे भिन्न चीजोंमें भिन्नता सिद्ध नहीं होती। तब युतसिद्धका लक्षण न बना तो अयुतसिद्धि कैसे सिद्ध होगी ? तो जब इन सबकी युतसिद्धि नहीं बनती तो लो, भिन्न भिन्न चीजोंमें भी अयुत सिद्धपना बन बैठेगा। और, ऐसा अयुतसिद्ध बननेपर इन सबका परस्परमें समवाय बन जायगा। सो आपको इष्ट नहीं है, क्योंकि व्यापक द्रव्योंमें और एक द्रव्यमें रहने वाले गति आदिकमें आश्रय आश्रयी भाव नहीं हैं। तो यों अयुतसिद्धका लक्षण न बना तो ईश्वर और ईश्वरज्ञानका सम्बन्ध भी कुछ सिद्ध नहीं हो कसता।

विभुद्रव्य विशेषोंमें नित्य संयोगकी मान्यतासे युतसिद्धिकी संभवताका शंकाकार द्वारा कथन—*यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि हम व्यापक द्रव्य विशेषोंका* परस्परमें नित्य संयोग मानते हैं। चर्चा यह चल रही थी कि पृथक आश्रयके रहनेपर पृथक सिद्ध माना गया है, तब तो जितने व्यापक द्रव्य हैं वे सब पृथक आश्रयमें कहाँ

रह रहे हैं ? व्यापक होनेसे वे किसी दूसरे आश्रयमें रहते ही नहीं है। तब उन्हें युत सिद्ध न माना जा सकेगा। और ऐसी स्थितिमें उनमें समवाय सम्बन्ध माननेका प्रसङ्ग आ बैठेगा। उस अभेदके निराकरण करनेके लिए वैशेषिक कह रहे हैं कि हम व्यापक द्रव्य विशेषोंका परस्परमें नित्य संयोग मानते हैं, क्योंकि वह संयोग किसीसे उत्पन्न नहीं होता। अनादिसे ही वे व्यापक द्रव्य व्यापक रूपसे ही पड़े हुए हैं। जैसे कि बताया था कि पृथक गतिमानपना तो नहीं विदित हो रहा याने किसी एककी गति हो व्यापक द्रव्यके पास यह भी बात नहीं है। जैसे कहीं ठूठ खड़ा है और वहाँ कोई पक्षी आ गया तो एक पक्षीकी गति हुई ना ? ठूठ तो वहींका वहीं है। इस तरह जितने व्यापक द्रव्य हैं उनमें ऐसा नहीं है कि कोई एक आता हो। तो किसी एककी क्रिया द्वारा जन्य संयोग नहीं है व्यापक द्रव्य विशेषका और उभय कर्म जन्य भी नहीं है। जैसे कि दो भैंसा दोनों दिशाओंसे आकर भिड़ जायें तो उनका जो संयोग हुआ है वह दोनोंकी क्रियाकोंसे उत्पन्न हुआ है। अथवा दो पहलवान लड़ जायें तो दोनोंकी गति हुई है और उन दोनोंकी क्रियावोंसे वह संयोग बना है व्यापक द्रव्योंमें ऐसा भी नहीं है और न वह संयोग संयोगजन्य है। जैसे दो तंतुवोंसे उत्पन्न हुए दो धागोंका संयोग अथवा शरीर और आकाशका संयोग इस तरह संयोग जन्य भी संयोग नहीं है। शरीरमें अनेक अवयवोंका संयोग हुआ है और फिर उस संयोगके बाद फिर आकाश का संयोग है तो इस तरह भी संयोग जन्य संयोग नहीं है। संयोगजन्य संयोगका यह अर्थ है कि पहिले तो किसी एक पदार्थ संयोगके कारण बने जैसे अपने अवयवके संयोग के कारण अवयवी बना, अब उस अवयवीका किसी दूसरे द्रव्यके साथ संयोग हुआ है तो उसे संयोग जन्य संयोग कहेंगे। सो ऐसा भी संयोग व्यापक द्रव्य विशेषोंमें नहीं है, क्योंकि वे सभी निरावयव हैं आत्मा आकाश आदिक जो व्यापक द्रव्य हैं वे अवयव रहित हैं, अखन्ड एक हैं। तो उनका अवयव संयोग पूर्वक भी परस्परमें संयोग नहीं है। तब वहाँ संयोगजन्य संयोग भी नहीं कह सकते। ये संयोग तीन प्रकारके कहे गए हैं। एक तो अनन्तर कर्मजन्य याने किसी एककी क्रियासे उत्पन्न हुआ, दूसरा उभय कर्मजन्य अर्थात् दो की क्रियासे उत्पन्न हुआ तीसरा संयोग जन्य। पहिले एक पदार्थ में अवयवोंका संयोग हुआ, फिर संयोग बनाकर किसी दूसरे पदार्थमें संयोग हुआ ये तीन प्रकारके संयोग अनित्य संयोग कहलाते हैं। यह तो नहीं है किन्तु व्यापक द्रव्यों की प्राप्ति उस ही जगह अनेक व्यापक द्रव्योंका होना यह हमेंशासे है इसलिए प्राप्ति लक्षण संयोग व्यापक द्रव्य विशेषमें है और उसे नित्य मानना चाहिए। इस तरह जब व्यापक द्रव्य विशेषोंमें संयोग सिद्ध हो गया तो वे युतसिद्ध हो गए। पृथक पृथक सिद्ध हो जाते हैं। क्योंकि जिन तिनमें भी संयोग सम्बन्ध होता है वे एक नहीं हुआ करते हैं। युतसिद्धके ही संयोग हो सकता हैं। अभिन्न तत्त्वमें संयोग नहीं होता इसके मायने यह न लगाना चाहिए कि जितने पदार्थ युतसिद्ध हैं, पृथक पृथक रहने वाले हैं उन सबके संयोग होना ही चाहिए। जैसे हिमाचल और विन्ध्याचल पर्वत ये

पृथक सिद्ध हैं, मगर इनका संयोग नहीं है। तो जो पृथक सिद्ध हो उनका संयोग हो ही यह बात नहीं है, किन्तु संयोग होगा तो वह पृथक सिद्ध पदार्थोंके ही होगा। इस ओर अवधारण है। संयोगके साथ पृथक सिद्धकी व्याप्ति है, किन्तु पृथक सिद्धके साथ संयोगकी व्याप्ति नहीं है। अब अनुमान लगा लीजिए जहाँ जहाँ संयोग होता है वहाँ वहाँ पदार्थोंमें युतसिद्ध होता ही है। जैसे कुण्डमें दधि है कुण्डमें बैर है तो यह संयोग पूर्वक युतसिद्ध है तो चूंकि संयोग है इस कारण मानना ही पड़ेगा कि ये पृथक सिद्ध पदार्थ हैं। तब दूसरी आपत्ति जो यह बतायी जा रही थी वह भी दूर हो जाती है। एक द्रव्यमें रहने वाले रूप रस आदिक गुणोंमें संयोग तो नहीं है इस कारण वे पृथक सिद्ध नहीं बनते। आपत्ति यह दी गई थी कि एकार्थ समवाय है रूप रस आदिकका। तो एक पदार्थमें एकार्थ समवाय होनेसे वे सब पृथक सिद्ध बन बैठेंगे। रूप अलग है और रस अलग है। सो यह आपत्ति भी सही नहीं है, क्योंकि यहाँ एक द्रव्यमें रहसे वाले रूप आदिक गुणोंका संयोग नहीं माना गया है इस लिए ये पृथक सिद्ध न कहलायेंगे। संयोग गुण है और गुण द्रव्यके ही आश्रय रहते हैं। तो यों गुण का द्रव्यमें संयोग न होनेके कारण वे सब युतसिद्ध नहीं बनते। साथ ही यह भी समझना चाहिए, कि ये सब अयुतसिद्ध भी नहीं हैं। जिससे कि इनमें समवाय माना जाय। समवाय इहइदं इस ज्ञानसे सिद्ध होता है, और वह वहाँ ही सिद्ध होता है जहाँ आधार आधेयभूत पदार्थ हो। लेकिन एक ही द्रव्यमें रहने वाले गुणकर्म आदिक की परस्परमें आधार आधेय भाव नहीं है याने गुणमें कर्म हो, कर्ममें गुण हो इस प्रकारका कोई आधार आधेय भाव नहीं है। हाँ उन सबका अपने आश्रयभूत द्रव्यके साथ आधार आधेय भाव रहता है तथा एक द्रव्यमें रहने वाले गुण कर्म आदिकमें इह इदं यह ज्ञान भी अबाधित नहीं बनता। जिससे कि इह इदं ऐसे बोधके कारण उन गुण कर्म आदिकमें भी समवाय सिद्ध हो जाय, क्योंकि ऐसा कोई ज्ञान नहीं कर रहा कि इसमें रूप है अथवा इस रूपमें रस है। ऐसा ज्ञान कोई करता ही नहीं, और कोई जबरदस्ती बनाये तो वह अबाधित ज्ञान नहीं बनता इसी तरह सामान्यमें कर्म है अथवा इस सामान्यमें गुण है ऐसा प्रत्यय भी अबाधित नहीं बनता। इस कारण इस प्रत्ययसे जो कि बाधित होता रहता है रसमें रूप, रूपमें रस आदिकका, ऐसा कोई प्रत्यय करे तो वह बाधित नहीं है। अब दूसरी बात यह समझिये कि जहाँ जहाँ अयुत-सिद्ध है याने अभिन्नता है वहाँ वहाँ समवाय है ऐसी व्याप्ति नहीं लगा रहे हैं, किन्तु जहाँ जहाँ समवाय है वहाँ वहाँ अयुतसिद्ध है, इस प्रकारकी व्याप्ति बनायी जा रही है। तब वैशेषिकोंका उपर्युक्त समस्त कथन निर्दोष है, ईश्वर और ईश्वरज्ञानमें अयुत-सिद्ध सम्बन्ध है, समवाय है तो इस समवायसे जब ईश्वरज्ञानकी सिद्धि होती है तो वह विश्वकी दृष्टिका कर्ता बन जाता है।

युतसिद्धके लक्षणकी अव्याप्तता बताते हुए उक्त शङ्काका समाधान-

अब उक्त प्रकारसे अपना पक्ष रखने वाले विशेषयादियोंके प्रति स्याद्वादी कहते हैं कि जो दो प्रकारकी बात कही गई है युतसिद्धके लक्षणमें कि पृथक आश्रयमें रहना सो युतसिद्ध है। दूसरा लक्षण बताया गया कि नित्यकी पृथक गतिमत्ता होना युतसिद्ध है। ये दोनों लक्षण लक्ष्यमें सही घटित नहीं होते। देखिये ! जो व्यापक द्रव्य हैं उनमें नित्य संयोग माना और उस नित्य संयोगके द्वारा पृथकसिद्धका अनुमान बनाया गया तो वहाँ जो संयोगका युतसिद्धका लक्षण किया है वे दोनों लक्षण सङ्गत नहीं बैठते। देखिये ! न तो वह व्यापक द्रव्य विशेष भिन्न आश्रयमें रहता है और न वह पृथक गतिमान है। संयोगका और युतसिद्धका यह लक्षण बताया कि पृथक आश्रयमें रहते हैं और पृथक गतिमानपना हुआ। ये दोनों ही लक्षण विभु द्रव्य विशेषमें व्याप्त नहीं हैं। इस कारण अव्याप्ति दोषसे ये दोनों ही लक्षण दूषित हैं फिर इन लक्षणों के द्वारा युतसिद्ध बताना और प्रकृत पक्षमें याने ईश्वर और ईश्वरज्ञानमें भिन्न–भिन्न मानकर भी समवाय सम्बन्ध बताना ये सब असंगत होते हैं। अब यहाँ शङ्काकार कह रहे हैं कि हम इस सिद्धिके दोनों लक्षणोंके अलावा एक लक्षण और कह रहे हैं कि जो संयोगका कारण है वह युतसिद्ध कहलाता है। इस लक्षणके मान लेनेसे अब उक्त दोष न आयगा। तो समाधानमें कहते हैं कि यह कथन भी ठीक नहीं है। देखो, कुण्ड बेर आदिकमें यद्यपि अव्याप्ति परिहार हो गया, परमाणु आकाश आदिकमें परमाणु परमाणुओंमें और मनोंमें और विभु द्रव्य विशेषोंमें परस्पर युतसिद्ध है तो युतसिद्धका जो लक्षण बनाया है सो यद्यपि निर्दोष हो गया अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव दोष वहाँ नहीं लग पाये फिर भी कर्म तो युतसिद्धको प्राप्त हो जायेंगे। इसका कारण यह है कि कर्म भी तो अदृष्ट ईश्वर काल आदिककी तरह संयोगका कारण होता है और यह बताया है कि जो संयोगका कारण हो वह पृथक सिद्ध है। तो कर्म इत्यादिकसे पृथक सिद्ध हो बैठेगा। तो यों युतसिद्धिके लक्षणके अतिव्याप्ति का परिहार नहीं किया जा सकता।

युतसिद्धिके लक्षणकी क्रियामें एवकारके अवधारणसे भी निर्दोषताकी असङ्गतता—अब यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि हम तो यहाँ अवधारण मानते हैं। संयोगका ही जो कारण है वह युतसिद्ध है। ऐसा एक जो एवकार लगा रहता है इस कारणसे अतिव्याप्ति दोष अब न बनेगा। अतिव्याप्ति दोष तो यह दिया जारहा था कि कर्म संयोगका कारण होता है। तब कर्ममें युतसिद्धिकी अतिव्याप्ति हो बैठेगी। तो जब हमने यह अवधारण किया कि जो संयोगका कारण हो वह युतसिद्ध कहलाता है, तब यह दोष न रहेगा। इसके समाधानमें कहते हैं कि यह कथन भी समीचीन नहीं है, क्योंकि इस तरहसे तो हिमाचल और विन्ध्याचल आदिकमें संयोग का कारण न होने वाली युतसिद्धि तो है तब उनमें युतसिद्धिका लक्षण बन जायगा। अब तो युतसिद्धिका यह लक्षण बनाया जा रहा है कि जो हिमवान और विंध्याचलमें

संयोगका कारण होना चाहिए तब युतसिद्धि न रही। तो इस तरह अब युतसिद्धि का लक्षण अव्याप्त बन बैठा। अब शङ्काकार कहता है कि हम क्रियामें एवकार लगायेंगे। जो संयोगका कारण ही है वह युतसिद्ध है, ऐसा अवधारण लगानेपर अतिव्याप्ति दोष न आयगा। इसके उत्तरमें संक्षेपमें इतना समझ लेना चाहिए कि इस प्रकारसे भी संयोगका कारण ही जो हो ऐसा जो कोई कर्म है वह भिन्न सिद्ध हो जायगा। सारांश यह है कि कर्म संयोगका कारण ही है, कार्य आदिक नहीं है, इससे युतसिद्धका उक्त लक्षण माननेपर कर्ममें अतिव्याप्ति दोष आ जाता है।

संयोगकारणरूप युतसिद्धिके लक्षणमें भी दोषापत्ति—और भी सुनो! जब ऐसा कहे कोई कि संयोगका ही जो कारण हो वह युतसिद्ध है, तो जो विभाग हेतु है उस युतसिद्धकी कैसी व्यवस्था बनेगी? यह तो नहीं कहा जा सकता कि जो पृथक सिद्ध पदार्थ हैं उनका संयोग ही होता है, विभाग नहीं होता, क्योंकि पृथक सिद्ध पदार्थोंमें संयोग भी होता है, विभाग भी होता है। यदि यह कहकर टाला जाय कि विभागका कारण संयोग है तो यह भी कहना मात्र है, क्योंकि संयोग विभागका विरोधी गुण है, संयोगका अर्थ मिलना है, वियोगका अर्थ बिछुड़ना है, तो संयोग विभागके नाशका ही कारण बनेगा, उत्पत्तिका कारण नहीं बन सकता, जो विरोधी होता है वह विनाश करेगा कि उसका विकास करेगा? तो जब संयोग और विभाग ये दोनों परस्पर विरुद्ध गुण हैं तो संयोग विभागके विनाशका ही कारण बना, विभाग की उत्पत्तिका कारण न बन सकेगा। विशेषवादी कहते हैं कि विभाग संयुक्त पदार्थोंका विजय करना है अर्थात् जिसमें संयोग होता है उनमें ही विभाग होते हैं। इस कारणसे संयोग विभागका कारण बताया गया है। उत्तरमें कहते हैं कि संयोग विभक्तिको विषय करता है अर्थात् जिसमें विभाग होते हैं उनमें संयोग होता है ऐसा कहकर हम यह भी तो कह सकते हैं कि विभाग संयोगका कारण होता है। तब यह बात न बनी कि संयोग विभागका कारण है। संयोग विभागका कारण है, विभाग संयोगका कारण है। तो अब विभागको उत्पन्न करने वाली या विभागके निमित्तसे सिद्ध होने वाली युतसिद्धिकी व्यवस्था नहीं बन सकती, जब कि यह व्याख्या की जाय कि संयोगका जो कारण हो सो युतसिद्ध है। यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि हमारा सिद्धान्त यह है कि किन्हीं दो विभक्त पदार्थोंमें भी उभयकर्म अन्यतर कर्म तथा अवयव संयोग नहीं रहता। और, जब ये तीनों संयोग नहीं होते तो संयोग न बना विभाग संयोगका कारण नहीं है। याने जो यह आपत्ति दी थी समाधानकर्ताने कि संयोग विभक्त पदार्थोंको विषय करता है उस कारणसे विभाग संयोगका कारण बनेगा, सो यह बात यों नहीं बनती कि जो दो विभक्त पदार्थ हैं उनमें कोई प्रकारका कर्म और संयोग नहीं है। तो जब कर्म और संयोग नहीं है तो संयोगकी सिद्धि नहीं है तो विभाग संयोगका कारण भी नहीं है। विभागसे संयोग न बना, संयोगसे विभाग

बन जाता है। इसके समाधानमें स्याद्वादी कहते हैं कि इस तरह तो किन्हीं दो संयुक्त पदार्थोंमें भी उभयकर्म अन्यतरकर्म व अवयव विभाग नहीं रहता। तो जब तीन विभाग न रहे। तीन बातें न रहीं तो विभाग भी नहीं बन सकता। तो यों संयोग भी विभागका कारण न बना। जैसे शङ्काकारने यह कहा था कि दो विभक्त पदार्थोंमें कर्म और संयोग नहीं है इससे विभाग संयोगका कारण नहीं, तो यहाँ यह भी कहा जा सकता कि दो संयुक्त पदार्थोंमें कर्म और अवयव विभाग नहीं है। तो संयोग होने पर भी अथवा कर्म और विभागके न रहनेपर भी संयोग विभागका कारण नहीं बन सकता है यों यह बात सिद्ध न हो सकेगी कि संयोग विभागका कारण होता। और, भी सुनो कि जो व्यापक द्रव्य विशेष हैं सदा ही जो मिले हुए हैं अब तक कभी अलग नहीं हुए, उनमें नित्य संयोग सिद्ध हो तो वह विभागका हेतु कैसे बन जायगा ? जो यह कहा कि संयोग विभागका कारण है तो व्यापक द्रव्य विशेषोंमें नित्य संयोग बताया ही है वह संयोग कैसे विभागका कारण बनता है ? सारांश यह है कि संयोग को विभाग हेतुक माननेपर व्यापक द्रव्योंमें नित्य संयोग नहीं बन सकता, क्योंकि व्यापक द्रव्य तो सदा एक जगह है, विभक्त नहीं है।

समर्थकारणमें ही कार्योत्पादकता होनेसे असमर्थ कारणमें संयोग विभाग कार्यके प्रश्नका समाधान—यहाँ ऐसा भी प्रश्न नहीं उठाया जा सकेगा कि उन व्यापक द्रव्योंमें विभागजनक युतसिद्धि भी कैसे सिद्ध न होगी ? देखिये ! सभी कारण कार्यको उत्पन्न कर ही दें ऐसा नियम नहीं है। सभी कारण कार्यके उत्पादक नहीं होते, किन्तु जो समर्थ कारण होते हैं वे अपने कार्यको उत्पन्न करते हैं याने सहकारी कारणोंसे सहित उपादान हो तो समर्थकारण कहलाता है। सहकारी कारणों की अपेक्षासे रहित कारण असमर्थ कारण कहलाता है। यदि ऐसा न हो तब तो यह आपत्ति आयगी कि जिस किसी कारणसे कार्यकी उत्पत्ति होने लगेगी। इस युक्तिसे यहाँ इस प्रकृत बातपर आइये कि जिस प्रकार हिमालय और विन्ध्याचलमें युतसिद्ध है तो युतसिद्ध रहते हुए भी जैसे यह युतसिद्धि संयोगको उत्पन्न नहीं करती। क्यों नहीं करती कि संयोगके सहकारी कारण हैं कर्मादिक। उनका यहाँ अभाव है अर्थात् न हिमालयमें कोई क्रिया हो रही न विन्ध्याचलमें कोई क्रिया हो रही और हैं पृथक २ सिद्ध। पर सहकारी कारण क्रिया आदिक न होनेसे जैसे उनकी युतसिद्धि संयोगको उत्पन्न नहीं करती, इसी तरह प्रकृतमें भी लगाइये कि व्यापक द्रव्य विशेषोंकी जो युत सिद्धि बनी हुई है वह भी विभागको पैदा न करेगी, क्योंकि विभाग उत्पन्न होनेमें भी सहकारी कारण किसी एककी क्रिया ही तो है। जैसे संयोग कर्मके कारण होता है ऐसे ही विभाग भी कर्म आदिकके कारण होता है। सो यों जब युतसिद्धको वैशेषिक संयोग हेतुक मानते हैं अर्थात् जिसमें संयोग हो सकता है उसे युतसिद्ध कहते हैं तो ऐसे ही युतसिद्धको विभाग हेतुक भी मान लीजिए क्योंकि दोनों हि प्रस्तावोंमें कुछ भी

विशेषता नहीं है। जब ऐसी स्थिति है कि दोनों जगह प्रश्नोत्तर समान रूपसे हो रहे हैं तो यह कहना व्यवस्थित नहीं है कि संयोगका जो कारण है वह युतसिद्ध है, क्योंकि इसके बदलेमें यह कहा जा सकता है कि विभागका ही जो कारण है वह युतसिद्ध है तो युतसिद्धका लक्षण व्यवस्थित नहीं है तो लक्ष्य भी व्यवस्थित न होगा। यहाँ लक्ष्य है युतसिद्ध। उसको साधनाकी जा रही है शङ्काकार द्वारा और लक्षण उसके नाना बताये जाते हैं ? तो जो भी लक्षण बताया है वह व्यवस्थित न रहे तो युतसिद्धि भी व्यवस्थित न हो सकेगी। जब युतसिद्धकी व्यवस्था न बनी तो अयुतसिद्धकी भी व्यवस्था नहीं बन सकती, क्योंकि अयुतसिद्ध कहनेके लिए यही कहना होता है कि जहाँ युतसिद्धका अभाव है उसे अयुतसिद्ध कहते हैं। तो यों न युतसिद्धि बन सकी और न अयुतसिद्धि बन सकी। तो दोनोंका जब अभाव हो गया तो वैशेषिक मतमें जो विडम्बना बनती है उसका निवारण न किया जा सकेगा। क्योंकि अब युतसिद्धि और अयुतसिद्धि न बननेके कारण सभी जगह न समवाय सिद्ध हो सकता, न समवाय सम्बन्ध सिद्ध हो सकता। जब किसी भी प्रकारका सम्बंध सिद्ध नहीं होता तो सम्बंध के अभावसे समस्त पदार्थोंका अभाव प्राप्त हो जाता है।

विशेषवादमें सम्बन्धकी असिद्धि होनेपर सर्वशून्यताका प्रसङ्ग— सम्बन्धकी असिद्धिमें कैसे सबका अभाव होगा ? सो सुनो ! जब संयोग न रहा तो देखिये विशेषवादमें आत्मा और मनके संयोगसे बुद्धि आदिक गुणोंकी उत्पत्ति मानी है तो अब संयोग तो रहा ही नहीं, तब बुद्धि नहीं बन सकती और जब बुद्धि न बन सकी जो सबकी व्यवस्था करनेका उपाय था, तो आत्मतत्त्व ही न रहेगा। तो इस तरह संयोग सिद्ध न होनेपर आत्मतत्त्वकी व्यवस्था नहीं बनती। इस तत्त्वको समझाये कौन ? बुद्धि ! तो बुद्धि तो उत्पन्न हो ही नहीं सकती, क्योंकि आत्मा और मनमें संयोग ही नहीं हो सकता। और, भी देखिये ! किसी भी प्रकारका सम्बन्ध न माननेपर या सम्बन्ध न बन सकनेसे आकाश तत्त्व भी असत हो जाता है। जैसे दण्ड आदिकका आकाशके साथ संयोग तो हो नहीं सकता। फिर शब्दकी उत्पत्ति न होगी। शब्दकी उत्पत्ति न होनेसे आकाश तत्त्वको माननेमें कोई उपाय न रहेगा, क्योंकि शब्द द्वारा ही आकाशके सत्त्वकी सिद्धि करते हैं विशेषवादी। तो यों संयोग न बननेपर आकाश तत्त्व भी नहीं सिद्ध हो सकता। और भी देखिये ! अवयव संयोगका भी अब सब जगह अभाव हो जायगा क्योंकि किसी भी प्रकारका सम्बन्ध कहीं भी घटित नहीं होता। तो अवयवोंका संयोग कैसे हो जायगा ? तो अवयवोंका संयोग न होनेसे अवयव विभाग भी नहीं बन सकता और जब अवयव विभाग न बना तो शब्द भी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द हो रहा विभाग निमित्तका। और भी देखिये ! यहाँ दीख रहे हैं स्कन्ध दो अणु वाले, तीन अणु वाले, असंख्यात अणु वाले। तो अब ये सब न बन सकेंगे, क्योंकि सम्बन्धका तो अभाव हो गया, परमाणुओंके संयोग

से ये स्कंध बनते थे। अब परमाणुओंका संयोग तो रहा नहीं तो द्व्यणुक आदि अवयव भी न बन सकेंगे और जब यह अवयवी न बन सकेगा तो फिर उसमें पर अपर का भी ज्ञान नहीं हो सकता। यह इससे पहिले है, यह इसके बाद है आदिक कोई पर अपरका ज्ञान नहीं हो सकता। तो पर अपरका प्रत्यय न होनेसे न तो कालकी व्यवस्था बनेगी न दिशाकी ? कालकी व्यवस्था तब ही बनती थी जब यह ज्ञान रहता था कि यह पहिले उत्पन्न हुआ, यह बादमें उत्पन्न हुआ। तो पहिले और बादमें उत्पन्न हुआ किसको कहेंगे ? जिसको कहेंगे वह ही तत्त्व सिद्ध नहीं होता। तब कालकी कहाँ व्यवस्था रही ? इसी तरह दिशाकी भी व्यवस्था नहीं बन सकती। दिशाकी व्यवस्था तब ही तो बनती थी कि जब यह ज्ञान बनता था कि यह पूरब है, यह पश्चिम है। तो कैसे बताया जाय ? पूरब पश्चिममें स्कंधकी सिद्धि ही नहीं हो रही तो यों दिशाओंकी भी व्यवस्था नहीं बन सकती। और भी देखिये ! जब सम्बन्ध नबन सकेगा तो मन भी न बन सकेगा। अभी तक बात कह रहे थे संयोग सम्बन्धकी, अब जरा समवाय सम्बन्ध न बननेकी विडम्बना देखिये ! समवाय सम्बन्ध जब न रहा तो समस्त समवायियोंका अभाव हो जायगा, याने जिसमें समवाय बनता है ऐसे पदार्थोंका अभाव हो जायगा। कुछ भी न रहेंगे। तो जब समवायी पदार्थ न रहे तो मन भी न बन सकेगा। इस तरह सम्बन्ध न बननेपर सर्व पदार्थोंका अभाव प्राप्त होता है। कुछ भी रहा तो विशेषवादका ही विनाश होगया। सारांश यह है कि युतसिद्ध और अयुतसिद्धके जो लक्षण वैशेषिकोंने बनाये हैं उन लक्षणोंपर जब विचार करते हैं तो वे निर्दोष सिद्ध नहीं होते। जब लक्षण निर्दोष न रहे तो युतसिद्धिके निमित्तसे जो संयोगकी व्यवस्था की जा रही थी वह संयोग व्यवस्था भी न बनेगी और अयुतसिद्धिके निमित्तसे जो समवायकी व्यवस्था की जा रही थी वह समवाय भी न बना। तो जब दोनों प्रकारके सम्बन्ध न बन सके तो सम्बन्धके अभाव होनेसे याने पदार्थोंमें संसर्ग न हो सकनेसे समस्त पदार्थोंकी हानिका प्रसङ्ग आता है और सब विनष्ट हो गया असत् हो गया। ऐसे कठिन प्रसंगका निवारण कर सकना अत्यन्त असम्भव होगा। तब वस्तुके सत्त्वको बतानेके लिए वैशेषियोंको युतसिद्धिकी किस तरह व्यवस्था बनाना चाहिए ? युतसिद्धि कहते किसे हैं ? अयुतसिद्धि कहते किसे हैं ? यह व्यवस्था न बनेगी, तो कोई सम्बन्ध न बनेगा, तो फिर कोई पदार्थ ही सत् न रह सकेगा। सर्व पदार्थोंका अभाव हो जायगा और फिर ईश्वर, ईश्वरज्ञान और वह शरीर इन्द्रिय आदिक की सृष्टि करता है, ये सभी बातें कहना भर भी स्वप्नकी हो जायेंगी। और तथ्य भी यही है। युतसिद्ध अयुतसिद्धका लक्षण नहीं बनता, सम्बन्ध नहीं बनता। यह बात तब नहीं बनती कि जब वस्तुस्वरूपसे विपरीत ही कोई पक्ष रखा जा रहा हो तो उसका निवास करनेके लिए सही दुनिया कहाँसे लाई जायगी? यों सृष्टिकर्ताकी व्यवस्था नहीं बनती। तब आप्त वीतराग सर्वज्ञ ही सिद्ध हो सकता है, इच्छावान प्रयत्नवान कल्पित कोई आप्त नहीं हो सकता।

युतप्रत्ययहेतुत्वात् युतसिद्धिरितीरणे ।
विभुद्रव्यगुणादीनां युतसिद्धिः समागता ॥ ४९ ॥

ततो नाऽयुतसिद्धिः स्यादित्यसिद्धं विशेषणम् ।
हेतोर्विपक्षतस्तावद् व्यवच्छेदं न साधयेत् ॥ ५० ॥

सिद्धेऽपि समवायस्य समवायिषु दर्शनात् ।
इहेदमिति संवित्तेः साधनं व्यभिचारि तत् ॥ ५१ ॥

युतप्रत्ययहेतुरूप युतसिद्धिलक्षणकी भी अव्यवस्था—शङ्काकार वैशेषिक कहते हैं कि युतसिद्धिकी हम व्यवस्था इस प्रकार करेंगे कि युत प्रत्ययका जो हेतु हो सो युतसिद्ध है अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकारसे पदार्थका ज्ञान होता है। इन प्रकारके ज्ञान में कारणपना होनेसे युतसिद्धिकी व्यवस्था बन जाती है। जैसे कि कुण्डमें बेर हैं तो कुण्ड और बेर इनमें भिन्न विज्ञान होता ही है अर्थात् कुण्डसे बेर निराले हैं। इस प्रकार भेद विज्ञान होता है, उस ही प्रकार जो व्यापक द्रव्यविशेष हैं-आत्मा आकाश दिशा आदिक उनमें तथा गुण गुणीमें, क्रिया क्रियावानमें, सामान्य सामान्यवानमें, विशेष विशेषवानमें, अवयव अवयवीमें भेद विज्ञान होता ही है। इस तरहसे युतसिद्धि अपने आप सिद्ध हो जाती है, क्योंकि सभी जगह अभिन्नताका ज्ञान नहीं होता। जहाँ भिन्नतारूपसे विज्ञान हो रहा हो वहाँ समझना चाहिए कि भिन्नताकी सिद्धि है। तो बात क्या हुई कि विभु व्यापक द्रव्य विशेषोंमें गुण गुणी आदिकमें अभिन्न प्रत्यय न बन सकेगा। यदि यहाँ वैशेषिक यह कहें कि विभु द्रव्यादिकमें तो देशभेद नहीं है, इस कारणसे उनमें भिन्नताका ज्ञान नहीं होता। तो सुनो! हवा और गर्मी ये तो पृथक देशवर्ती पदार्थोंमें हैं। जिस जगह हवा है, उसी जगहमें धूप है तब इनमें पृथक बोध न हो सकेगा लेकिन हवा और गर्मीमें पृथक बोध होता ही है। हवाका और लक्षण है, धूपका और लक्षण है। इस सम्बन्धमें यदि शङ्काकार यह कहेंगे कि हवा और धूप चूंकि भिन्न-भिन्न अवयवमें रहते हैं तो जो भिन्न-भिन्न अवयव हैं वे ही तो उनके देश हैं, इस कारण देशभेद वहाँ पाया गया और उनमें भिन्नताका ज्ञान बन गया। इसके उत्तरमें यह समझ लेना चाहिए कि जिस तरह यहाँ हवा और धूपमें भिन्न-भिन्न देशरूप अवयवोंमें वृत्ति बताकर भिन्नता सिद्ध करते हैं, इसी प्रकार फिर तंतु पटमें अथवा पटरूपमें अपने-अपने अवयवोंमें वृत्ति है तो उसमें भी भिन्नता का ज्ञान क्यों नहीं करते? उनकी भिन्नताका निषेध क्यों करते हो? वहाँ भी भिन्न भिन्न समझिये क्योंकि तंतु पटरूप आदिक भी अपने-अपने भिन्न-भिन्न आश्रयमें रहते हैं। तंतु अपने अवयवमें है, पट तंतुवोंमें है। तो भिन्न-भिन्न आश्रयमें होनेसे

पट भी भिन्न-भिन्न सिद्ध हो जाते हैं और इनमें भिन्नताका ज्ञान होना चाहिए। क्योंकि तंतु पट और ये हवा धूप इन दोनों घटनाओंके बारेमें कुछ भी विशेषता नहीं है। सो जब हवा और धूपकी तरह तंतुपटमें भिन्नताका दोष होने लगे तो उनमें अयुतसिद्धि सिद्ध नहीं होती। इस कारण अब युतसिद्धिका जो नया लक्षण बनाया है कि जो पृथक ज्ञान करानेमें कारण हो वह युतसिद्धि है याने जो भिन्नताका विज्ञान बनाता हो उसे युतसिद्धि कहते हैं, यह लक्षण भी व्यवस्थित नहीं हो सकता।

युतसिद्धि व अयुतसिद्धिकी असिद्धिमें समवायकी भी असिद्धि होनेसे ईश्वरके ज्ञानकी अव्यपदेश्यताका प्रसङ्ग—उक्त प्रकार जब युतसिद्धि सिद्ध न हो सकी, तब अयुतसिद्धि भी न सिद्ध होगी। और, जब अयुतसिद्धिका लक्षण सही न बन सका तो हेतुमें जो अयुतसिद्धत्व विशेषण दिया है वह असिद्ध हो जायगा। हेतु यह दिया था शङ्काकारने कि निर्बाधपना होनेपर अयुतसिद्धि इह इदं विज्ञान होनेका और पक्ष बनाया था कि तंतुओंमें पट है आदिक जो इह इदं विज्ञान हो रहा है वह समवाय सम्बन्धके कारण हो रहा है। सारांश यह है कि इस हेतु द्वारा समवाय सम्बन्धकी सिद्धि की है। और इस समवाय सम्बन्धके द्वारा महेश्वरमें महेश्वरज्ञानका सम्बन्ध बताया जा रहा है। आपत्ति यहां यह आरही थी कि महेश्वरसे जब महेश्वर ज्ञान भिन्न है तो उसमें हम यह बोध कैसे कर सकेंगे कि यह ज्ञान महेश्वरका है। आकाश भी यह भिन्न पदार्थ है। यह ज्ञान आकाशका है, यों क्यों नहीं कह बैठते? इसके उत्तरमें शङ्काकारको यह कहना पड़ गया कि यह सम्बन्ध बताना चाहिए कि महेश्वरमें ही महेश्वरज्ञानका सम्बन्ध है, तो वह सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध समवाय सम्बन्धके द्वारा बताया जा रहा है और समवाय सम्बन्धके कारणसे इह इदं ज्ञान हुआ करता है। इसकी सिद्धि यहां इस हेतुसे की जा रही है। तो इस हेतुका जो विशेषण अयुतसिद्धपना कहा है वह असिद्ध है और असिद्ध हेतु विपक्षसे व्यावृत्ति नहीं करा सकता। हेतुकी समीचीनता तब कहलाती है कि जब वह विपक्षसे व्यावृत्ति करा दे। सो हेतुमें अयुतसिद्धत्व विशेषण असिद्ध है। सो वह हेतु वचन साध्य सिद्धि करनेमें समर्थ नहीं है अर्थात् समवाय सम्बन्धको सिद्ध नहीं कर सकता। अब आगे और सुनो! यदि किसी तरह अयुतसिद्धत्व विशेषण सिद्ध भी मान लिया जाय तो भी समवायमें समवायका जो इह इदं प्रत्यय देखा जाता है उसके साथ हेतु व्यभिचारी बन जायगा। समवायमें समवाय है, ऐसा ज्ञान देखा जा रहा है। जैसे तंतु और पटमें जो समवाय है और यह भी तो ज्ञान किया जाता कि तंतु और पटमें समवाय है। तो समवायी जो दो पदार्थ हैं उनमें समवाय है, इस तरहका इह इदं ज्ञान होता है। तो देखिये! निर्बाध रूपसे इह इदं ज्ञान तो हुआ पर समवाय सम्बन्धके कारणसे नहीं हुआ, क्योंकि समवायीमें समवाय है। इस प्रकारका इह इदं ज्ञान यदि समवायके कारणसे बनने लगे तब फिर उस समवायका भी जो इन सब समवायियोंमें समवाय

बताया है उसके लिए तीसरा समवाय मानना । यों अनवस्था हो जायगी और सिद्धांत का विघात हो जायगा । वैशेषियोंने समवाय एक ही माना है । तो यों हेतु व्यभिचारी है और प्रथम बात तो यह है कि अयुतसिद्धि सिद्ध नहीं होती । तो जब अयुतसिद्धत्व विशेषण असिद्ध है और वह हेतु विपक्षसे व्यावृत्ति नहीं करा सकता अर्थात् संयोगमें हेतु पहुंच जाता है तथा संयोग आदिकके साथ व्यभिचार दोष आता है और अयुत-सिद्धत्व विशेषण मान लेनेपर समवायमें समवाय है, इस प्रत्ययके साथ हेतुका व्यभि-चार आता है । तब यह सिद्ध हो गया कि अबाधित इह इदं विज्ञान समवायके कारणसे नहीं है किन्तु अन्य ही सम्बन्धके कारणसे है ।

समवायान्तराद्वृत्तौ समवायस्य तत्त्वतः ।
समवायिषु, तस्यापि परस्मादित्यनिष्ठितिः ॥५२॥

तद्बाऽधास्तीत्यबाधत्वं नाम नेह विशेषणम् ।
हेतोः सिद्धमनेकान्तो यतोऽनेनेति ये विदुः ॥५३॥

तेषामिहेति विज्ञानाद्विशेषणविशेष्यता ।
समवायस्य तद्वत्सु तत एव न सिद्ध्यति ॥५४॥

विशेषणविशेष्यत्वसम्बंधोऽप्यन्यतो यदि ।
स्वसम्बन्धिषु वर्त्तेत तदा बाधाऽनवस्थितिः ॥५५॥

"समवायियोंमें समवाय" इस प्रत्ययकी अबाधितताका खण्डन करके अनवस्थादोष परिहारका शंकाकार द्वारा विफल प्रयास—अब यहाँ वैशेषिक उक्त बाधाके परिहारके लिए प्रयत्न कर रहे हैं । बाधा यह दी गई थी कि समवायमें समवाय है । यहाँ जो इह इदं ज्ञान हो रहा है इसमें तो समवाय कारण है नहीं, तब यह कैसे कहा जा सकता कि जहाँ अबाधित रूपसे इह इदं ज्ञान हो वहाँ समवाय सम्बन्ध मानना चाहिए । इस आपत्तिको दूर करनेके लिए वैशेषिक कहते हैं कि सम-वायमें समवाय है । यह विज्ञान बाधित है । अबाधित नहीं है । क्योंकि समवायमें सम-वाय है, इस प्रकारके विज्ञानमें अबाधितपना पाया नहीं जाता वह किस प्रकार नहीं पाया जाता सो सुनो ! समवायी पदार्थोंमें समवाय है, इसको यदि अन्य समवायसे वृत्ति माना जाता है तो उसको फिर और अन्य समवायसे माना । तो वहाँ अनवस्था दोष आता हैं, व्यवस्था नहीं बनती है, इसलिए समवायमें समवाय है, इस प्रकारका जो इह इदं विज्ञान है वह बाधित हो जाता है । जब बाधित हो गया तो अब यहाँ हेतु

घटित नहीं होता, याने अबाधित इह इदं ज्ञान नहीं हो रहा तब समवायके कारणसे भी वह ज्ञान न बना, यों समवाय सम्बन्धकी सिद्धिमें दोष नहीं है। इसके उत्तरमें स्याद्वादी कहते हैं कि यह समवायमें समवाय इस प्रकारके इह इदं ज्ञानको बाधित बताया जा रहा है। तो इस ज्ञानसे विशेषण विशेष्यपनेका सम्बन्ध भी सिद्ध न हो सकेगा। जैसे तंतुओंमें पट है, ऐसा जो इह इदं ज्ञान है सो इस ज्ञानके होने ही विशेषण विशेष्य सम्बन्ध तो बताया ही जा रहा है। तो विशेषण विशेष्यत्व सम्बन्धमें भी कुछ बाधा डाल देगा। वह किस तरह कि यह बतलाया कि समवायियोंमें समवाय है ऐसा जो विशेषण विशेष्यत्व सम्बन्ध है वह सम्बन्ध अपने सम्बन्धियोंमें किस सम्बन्ध के कारण रहता है? यह कहना पडेगा कि यह विशेषण विशेष्यत्व सम्बन्ध अन्य विशेषण विशेष्यत्व सम्बन्धसे बनेगा तब फिर वह विशेषण विशेष्यत्व सम्बन्ध और तीसरा विशेषण विशेष्यत्व सम्बन्ध भी बनेगा तो वहाँ भी अनवस्था दोष आयगा। यों अनवस्था दोष आनेसे समवायमें समवाय है यह विशेषण विशेष्य भाव भी मान लेना कठिन हो जायगा। लेकिन विशेषण विशेष्यत्व भाव तो प्रकट है। तो जैसे वहाँ विशेषण विशेष्यत्व सम्बन्ध निर्बाध मानना पड़ता है उसी तरह समवायमें समवाय है इस इह इदं प्रत्ययको भी निर्बाध मान लेना होगा। और, निर्बाध माननेपर फिर यह दोष आता है कि लो, इह इदं ज्ञान निर्बाध तो यहाँ बन गया, किन्तु समवाय सम्बन्ध का कारण है नहीं तब इह इदं विज्ञान समवाय सम्बन्धको सूचित करनेमें असमर्थ हो जायगा। अब यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि समवायमें समवाय है। इस ज्ञानसे यह तो सिद्ध हो जाता है कि समवाय और समवायी जुदे नहीं है। इनमें अभिन्नता है। अयुत सिद्धपना है, क्योंकि समवायको छोड़कर अन्य जगह नहीं रह रहा है। सो यों अयुत-सिद्धपना तो प्रसिद्ध है लेकिन उनमें इह इदं यह ज्ञान अबाधित नहीं है इस कारणसे समवायियोंमें समवाय है इसके साथ हमारा हेतु व्यभिचरित नहीं होता। इह इदं ज्ञान अबाधित क्यों नहीं है कि उसमें अनवस्था दोषरूप बाधक मौजूद है याने समवाय में समवाय है, इसमें होने वाला इह इदं ज्ञान यदि मान लिया जाता तो उसके लिए अन्य समवायकी कल्पना करनी पड़ती। याने समवायमें समवाय यदि अन्य समवायके कारण रहती हैं तो अन्य समवाय भी अपने सम्बन्धियोंमें अर्थात् समवाय और समवायी पदार्थ इनमें अन्य तीसरे समवायसे रहेगा। फिर वह अन्य समवायमें रहेगा। तो यों अन्य अन्य समवायियोंकी कल्पना अनिवार्य हो जानेसे अनवस्था दोष आयगा। तो समवायियोंमें समवाय है इस प्रकारका इह इदं ज्ञान बाधित हो जाता है।

सर्वथा भेदवादमें विशेषणविशेष्यत्व भावकी भी असिद्धि होनेसे ईश्वर ज्ञानकी असिद्धिका प्रसङ्ग—वैशेषिक सिद्धान्तमें यह कहा गया है कि एक ही समवाय सत्त्वकी तरह वास्तविक है। तो समवायमें समवाय इस प्रकारके ज्ञानको इह इदं प्रत्यय बताकर और उसे अबाधित माननेपर सिद्धान्त हानि भी आती है। इस कारण

से समवायमें समवाय है इस ज्ञानमें जो इह इदं बोध हो रहा है वह अबाधित नहीं है और इसी कारणसे हमारा प्रकृत अनुमान निर्बाध सिद्ध हो जाता है। प्रकृत अनुमान यह है कि तंतुओंमें पट है, इस प्रकारका होने वाला इह इदं विज्ञान समवाय सम्बन्ध के कारणसे है, क्योंकि वहाँ अबाधितरूपसे इह इदं प्रत्यय हो रहा है। उक्त शङ्काके समाधानमें स्याद्वादी कहते हैं कि वैशेषिकोंका यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि जिस तरह समवायमें समवायके इह इदं ज्ञानको बाधित बताकर इह इदं विज्ञानको असिद्ध बता दिया तो इसी तरह उनमें जो विशेषण विशेष्य भाव रूप सम्बन्ध माना है इस तरहके ज्ञान करके सिद्ध न हो सकेगा, क्योंकि वहाँ भी अनवस्था दोष आ जायगा। वैशेषिक लोग समवाय और समवायियोंमें, विशेषण विशेष्यमें भाव स्वीकार करते हैं, याने समवाय तो विशेषण है और समवायी विशेष्य है। समवायका अर्थ यह है कि जिन दो पदार्थोंका यह अभिन्न सम्बन्ध बताया जा रहा है वे दो पदार्थ विशेष्य कहलाते हैं और उनमें समवाय है, ऐसी जो विशेषता बताई जाती है उसे विशेषण कहते हैं। तो समवायी विशेष्यमें समवाय विशेषण सिद्ध नहीं होता। तो उनमें जब विशेषण विशेष्य भाव सिद्ध न हो सका तो समवायका कुछ नियम ही नहीं बताया जा सकता कि अमुकमें समवाय है, अमुकमें नहीं है। क्योंकि विशेषण विशेष्य भाव ही सिद्ध नहीं हो सका है। सो वह विशेषण विशेष्य भाव समवाय समवायियोंसे भिन्न ही माने जायेंगे, अभिन्न नहीं हो सकते, क्योंकि विशेषण विशेष्य भाव सिद्ध न हो सका अन्यथा समवायको भी समवायियोंसे अभिन्न मान लीजिए! तो इस प्रकार भिन्न रूपसे माना गया वह विशेषण विशेष्य भावका सम्बन्ध अपने सम्बन्धियोंमें अन्य विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्धसे बन सकेगा। इस तरह अनवस्था दोष उसमें प्रवर्त रहे और इस अनवस्था दोषकी बाधा आनेसे इहेदं इस ज्ञानसे विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्ध तो न बनेगा। प्रकृत चर्चा यह चल रही है कि वैशेषिक यह सिद्ध करना चाहते हैं कि समवायमें समवाय है, इस प्रकारका जो इह इदं ज्ञान है वह सही ज्ञान नहीं है। और यह सिद्ध भी इस कारण करना चाहते हैं कि कहीं समवाय अनेक सिद्ध न हो जायें और यह भी समवायके कारणसे इह इदं ज्ञान न बन जाय अन्यथा सभी इह इदं ज्ञान समवाय सम्बन्धसे माने जायेंगे। तो समवाय सम्बन्ध निर्बल पड़ जायगा, क्योंकि उसमें अतिव्याप्ति बन जायगी। जहाँ समवाय नहीं है वहाँ भी इह इदं ज्ञान बन जाता है। और इस तरह जब इह इदं ज्ञान समवायको सिद्ध करनेमें असमर्थ रहा तो ईश्वर और ईश्वरज्ञानमें भी सम्बन्ध सिद्ध न किया जा सकेगा। सो समवायियोंमें समवाय है, इस प्रकारके ज्ञानको बाधित बता रहे हैं वैशेषिक। तो आपत्ति यह आयगी कि उनमें विशेषण विशेष्य भावका सम्बन्ध भी सिद्ध नहीं हो सकता। तब विशेषण विशेष्य भाव ही न बना तो जिह्वा ही रुक जायगी फिर कुछ बोला ही न जा सकेगा। और न किन्हीं समवायोंमें समवाय होता है ऐसा नियम फिर कैसे बताया जा सकेगा? तब तो कुछ भी न कहा जा सकेगा कि कहीं आधार आधेय सम्बन्ध

बताया जाय या किसी भी प्रकारसे बाधा डाली जाय। जो भी वचन बोले जायेंगे उनमें कुछ तो प्रकट रूपसे या कुछ अप्रकट रूपसे विशेषण सिद्ध होता है। जब विशेषण विशेष्य भाव तक भी बननेकी गुन्जायश न रही तब फिर वचन व्यवहार भी नहीं बन सकता। जब ईश्वरमें ईश्वरज्ञान है, यह कैसे सिद्ध किया जा सकेगा ? और यों जब महेश्वर और ईश्वरज्ञान दोनोंकी सिद्धि नहीं होती है तब वह शरीर इंद्रियादि की सृष्टिमें कारण है, ऐसा कहना तो व्यर्थका प्रलाप ही सिद्ध होता है।

विशेषणविशेष्यत्वप्रत्ययादवगम्यते ।
विशेषणविशेष्यत्वमितप्येतेन ··· ॥ ५६ ॥

भेदवादमें विशेषण विशेषत्वके अवबोधकी अशक्यता—यदि वैशेषिक यह कहें कि विशेषण विशेष्य भाव विशेषण विशेष्यभावके ज्ञानसे जाना जाता है तो इस सम्बन्धमें भी यही दोष आयगा कि वह ज्ञान भी किसी अन्य विशेष्य विशेषण भावके ज्ञानसे जाना जायगा और इस तरह उसमें भी अनवस्था दोष आयगा। साथ ही वह विशेषण विशेष्य भाव ···· सिद्ध न हो सकेगा जैसे कि इस समवायमें समवाय है, इसको बताया गया है अनवस्था दोषसे बाधित। इस अनवस्थासे बाधित ज्ञानके द्वारा जैसे समवायका ज्ञान नहीं बनता उसी प्रकार विशेषणविशेष्यभाव भी सिद्ध नहीं हो सकता। ठीक उसी प्रकार यहाँ भी जानें कि विशेषण विशेषत्व भावके ज्ञानके द्वारा विशेषण विशेष्य भाव सिद्ध नहीं होता। क्योंकि विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्धी ज्ञान अनवस्था दोषसे बाधित हो जाता है। फिर उस विशेषण विशेष्यभाव ज्ञानके सम्बन्धमें पूछा जायगा कि वह ज्ञान कैसे बना ? तो उसके लिए कहना होगा कि यह अन्य विशेषण विशेष्य भावके ज्ञानसे बना। जो इस तरह नाना विशेषण विशेष्य भाव ज्ञान मानते जाना पड़ेगा। तब अनवस्था दोष आता है। अतः इह इदं ज्ञानके दूषण द्वारा विशेषण विशेष्य भाव ज्ञान भी दूषित हो जाता है। तो सभी जगह विशेषण विशेष्य भावसे दूषित समझ लेना चाहिए।

तस्यानन्त्यात्प्रयतॄणामाकांक्षाक्षयतोऽपि वा ।
न दोष इति चेदेवं समवायादिनाऽपि किम् ॥ ५७ ॥

गुणादिद्रव्ययोर्भिन्न द्रव्ययोश्च परस्परम् ।
विशेषणविशेष्यत्व सम्बन्धोस्तु निरङ्कुशः ॥ ५८ ॥

संयोगः समवायो वा तद्विशेषोऽस्त्वमेकधा ।
स्वातन्त्र्ये समवायस्य सर्वथैक्ये च दोषतः ॥५९॥

विशेषवादमें अनन्त विशेषण विशेष्यत्व माने जानेमें भी दोष टाले जानेकी अशक्यता—अब यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि हमने तो विशेषण विशेष्यभाव अनन्त स्वीकार किया। जब अनन्त हैं तो उनमें संतान बन जायगा। अनवस्था न आयगी। तो इस तरह विशेषण विशेष्यभावका ज्ञान सिद्ध हो जाता है। दूसरी बात यह है कि जो जानकार लोग हैं उनकी आकांक्षा कुछ दूर तक तो चलेगी, विशेषण विशेष्यभावका परिचय करते रहनेके लिए, कुछ समय बाद उनकी इस आकांक्षाका भी नाश सम्भव है। इस कारण अनवस्था दोष नहीं आ सकता। इसके समाधानमें स्याद्वादी कहते हैं कि उनका कथन यों युक्तिसङ्गत नहीं है कि इस तरह विशेषण विशेष्य भावको अबाधित मान लेनेपर अनवस्था दोषसे रहित मान लेनेपर समवाय आदिक सम्बन्ध मानना व्यर्थ ही ठहरेगा। क्योंकि सब काम विशेषण विशेष्यत्व भावरूप सम्बन्धसे ही सिद्ध हो जायेंगे। गुण आदिक और द्रव्यमें तथा द्रव्य द्रव्यमें विशेषण विशेष्यभाव मान लिया जाय उससे ही सब व्यवहार बन जायगा। अलगसे कोई संयोग और समवाय सम्बन्ध न मानना चाहिए। संयोग तथा समवाय आदिक सम्बन्धको अगर मानना ही है तो उसे विशेषण विशेष्य भावमें ही यह भेद समझ लेना चाहिए। हमारा विशेषण विशेष्य भाव इतना गहरा है कि वहाँ समवाय सिद्ध होता, कोई विशेषण विशेष्यभाव इस प्रकारका है कि जिसमें संयोग जैसा परिज्ञान होता। तो संयोग और समवाय, विशेष्यभावके ही भेद बनेंगे। यदि समवायको स्वतंत्र और सर्वथा एक माना जाता है तो उसमें अनेक दोष आते हैं। तो समवाय कोई स्वतन्त्र एक पदार्थ नहीं है, किन्तु विशेषण विशेष्यभावका ही एक भेद है। अब यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि देखिये ! विशेषण विशेष्यभाव अनन्त हैं, वे समवाय की तरह एक नहीं हैं। तो जब विशेषण विशेष्यभाव अनन्त हैं तो उसमें अनवस्था दोषकी क्या आवश्यकता ? वहां तो एक संतति चली और उस संततिमें भी जहां तक जानकार लोगोंकी आकांक्षा रही वहां तक वो परिचय चलता रहा और जहाँ यही एक जानकार लोगोंकी आकांक्षा नहीं रहती बस वहांसे आगे कोई अनवस्थाका प्रसङ्ग ही नहीं। जैसे ज्ञाताका व्यवहार समाप्त हो जाता है जहाँ पर वहाँ उसकी आकांक्षा नहीं रहती, क्योंकि यहाँ अन्य विशेषण विशेष्यभावकी आवश्यकता नहीं रहती। जाननहार पुरुषको जितना जाननेकी आवश्यकता थी वहाँ तक तो उसकी आकांक्षा चली और जहाँ अब जाननेकी आवश्यकता न रही वहाँ उसकी आकांक्षा भी नहीं रहती। तब अनवस्था दोष विशेषण विशेष्य भावके परिचयमें कहीं भी नहीं आती। इसके समाधानमें स्याद्वादी कहते हैं कि यह कथन सङ्गत नहीं है। इसका कारण यह है कि इस तरह यदि विशेषण विशेष्यभावसे ठीक व्यवस्था बना ली जाती है तो समवाय आदिक सम्बन्ध भी कोई अर्थ नहीं रखते, क्योंकि जो समवाय है उसमें भी विशेषण विशेष्य भाव स्वीकार कर लिया जायगा। तथा जो संयोगी पदार्थ हैं उनमें विशेषण विशेष्य भाव स्वीकार कर लिया जायगा।

विशेषण विशेष्यभाव बननेपर इससे ही सर्वसिद्धि कर ली जानेसे समवाय माननेकी व्यर्थता देखिये ! गुण और द्रव्यमें, क्रिया और द्रव्यमें गुणत्व और गुणमें, कर्मत्व और कर्ममें, गुणत्व और द्रव्यमें, कर्मत्व और द्रव्यमें तथा विशेष और द्रव्यमें बराबर विशेषण विशेष्य भाव प्रतीत हो रहा है। कहीं तो साक्षात् विशेषण विशेष्य भाव विदित हो जाता है और कहीं परम्परासे विशेषण विशेष्य भाव विदित हो जाता है। जैसे कि हम दो द्रव्योंमें कहीं कहीं साक्षात् निरखते हैं उस तरह विदित हो जाता है। तो सभी प्रकारके सम्बन्धोंमें विशेषण विशेष्य भाव प्रतीत होता है। उनकी प्रतीतिमें कोई बाधा नहीं आती। जैसे गुणवान और द्रव्य है वहाँ विशेषण विशेष्य भाव स्वीकार होते हैं। देखो ! यह द्रव्य द्रव्यवान है। इस द्रव्यमें गुण है, इस तरह कहते हैं उसको इस तरह कह बैठें कि यह द्रव्य गुणवान हैं, तो विशेषण विशेष्य भाव सीधा विदित हो जाता है। हाँ, द्रव्यमें गुण है, यह कहनेसे परम्परासे विशेषण विशेष्य भाव विदित होता है। और भी देखिये ! जैसे यह कहा जाता है कि द्रव्यमें कर्मका सम्बन्ध है, द्रव्यमें कर्म है, यहाँ विशेषण विशेष्य भाव परम्परासे जाने गए और इस हीको अब इन शब्दोंमें परिवर्तित करके कहेंगे कि द्रव्य क्रियावान है तो यहाँ विशेषण विशेष्यभाव साक्षात् विदित हो जाता है। और भी देखिये ! द्रव्यमें द्रव्यत्व है इसमें विशेषण विशेष्यभाव परम्परासे जाना जाता है। यहाँ विशेषण विशेष्यभाव इतना गहरा है कि उसमें समवाय सम्बन्धकी कल्पना बनानी पड़ी है और वास्तवमें तो वह विशेषण विशेष्यभावका ही रूप है। तो जैसे द्रव्यमें द्रव्यत्व है इससे विशेषण विशेष्यभाव परम्परासे जाना जाता है। जब इसको इस शब्दमें परिवर्तित कर देंगे कि द्रव्य द्रव्यत्ववान है तो यहाँ विशेषण विशेष्यभाव साक्षात् विदित हो जाता है कि लो द्रव्य तो विशेष्य है और द्रव्यत्ववान यह विशेषण है। अब विशेष द्रव्यमें पाया जाता है या द्रव्यका विशेष है, ऐसा जब कथन करते हैं तो इसमें विशेषण विशेष्य भाव परम्परासे विदित होता है और जब इस प्रकार कहेंगे कि द्रव्य विशेषणवान है तो इसमें विशेषण विशेष्यभाव साक्षात् विदित हो जाता है। यहाँ द्रव्य तो विशेष है और विशेषवान यह विशेषण है। जैसे कोई पूछे कि कैसा है द्रव्य ? तो उसके उत्तरमें कहा जायगा कि द्रव्यवान है द्रव्य। इसी प्रकार गुणमें गुणत्व है, इस कथनमें तो विशेषण विशेष्यभाव परम्परासे विदित हुआ और तब यों कहेंगे कि गुण गुणत्ववान है तो यहाँ विशेषण विशेष्यभाव साक्षात् विदित हो जाता है। इसी तरह कर्ममें कर्मत्व है इसके परिचयमें विशेषण विशेष्यभाव परम्परासे विदित होता है और जब इसे इस तरह बोलेंगे कि कर्म कर्मत्ववान है तो विशेषण विशेष्य भाव साक्षात् विदित हो जाता है। जैसे कहते हैं कि यह पुरुष दंडवान है तो यहाँ विशेषण विशेष्यवान भाव ही तो जाना गया। कैसा है पुरुष ? दंडवान है। और जैसे कहें कि यह पुरुष कुण्डल वाला है तो यहाँ विशेषण विशेष्यभाव साक्षात् स्पष्ट है। पुरुष तो विशेष्य है, कुण्डलवान विशेषण है। तो इसी तरह उन सब घटनाओंमें विशे-

षण विशेष्यभाव ही विदित होता है। जैसे कहलो कि गुण तो विशेषण है और द्रव्य विशेष्य है जहाँ गुण और गुणत्व सामने रखे गए वहाँ गुणत्व तो विशेष्ण है और गुण विशेष्य हो तो किसी कथनमें विशेषण विशेष्यभाव साक्षात् विदित होते हैं और किसीमें विशेषण विशेष्यभाव परम्पर्या विदित होते हैं, किन्तु है सभी जगह विशेषण विशेष्यभावका ही परिचय। इस कारणसे एक विशेषण विशेष्यभावसे ही सम्बन्ध मानना चाहिए। समवायका सम्बन्ध न मानना चाहिए।

संयोग व समवाय सम्बन्धके बिना भी विशेषण विशेष्यभाव बन जाने से विशेषण विशेष्यभावकी समवायामूलकताकी असिद्धि—अब यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि दण्डवान पुरुष है ऐसा उदाहरण देकर उसकी तरह सभी जगह विशेषण विशेष्यभाव जो मनवानेकी प्रेरणा की है उसके विषयमें सुनो! दण्ड और पुरुषमें जो संयोग है वह विशेषण विशेषयभावका जनक है इसी तरह अवयव अवयवीमें समवाय अथवा कहीं संयोग है वह भी विशेषण विशेष्यभावका जनक है तो सर्वत्र संयोग और समवाय ही तो भले प्रकार समझा रहे हैं, क्योंकि वहाँ विशेषण विशेष्यभाव जो बना वह संयोग और समवायके होनेपर ही बना। यदि संयोग और समवायको नहीं मानते तो विशेषण विशेष्यभावसे नहीं माना जा सकता। इस कारण विशेषण विशेष्यभाव को मानकर फिर उसके अभेद संयोग समवायको बताना ठीक नहीं है, किन्तु संयोग और समवायमें वास्तविक सम्बन्ध है। इसके निराकरणमें स्याद्वादी कहते हैं कि यह मान्यता भी ठीक नहीं है, क्योंकि संयोग और समवाय न भी हो कहीं तो भी विशेषण विशेष्यभाव पाया जाता है। तब यह बात तो न रही कि संयोग और समवाय विशेषण विशेष्यभावका जनक है। संयोग और समवाय कहीं नहीं भी होते हैं। तो भी विशेषण विशेष्यभाव वहाँ मौजूद रहता है। जैसे धर्म और धर्मीमें न संयोग है न समवाय है फिर भी विशेषण विशेष्यभाव तो है ही। इसी प्रकार भाव और अभावमें संयोग है न समवाय है, फिर भी उनमें विशेषण विशेष्यभाव विदित होता है। देखो! संयोग तो होता है द्रव्य द्रव्यमें, धर्म और धर्मी, द्रव्य और द्रव्य तो नहीं हैं। तो उनमें संयोग तो नहीं बनता। और समवाय यों नहीं बनता कि समवायका अस्तित्व स्वीकार करनेमें अन्य समवायका प्रसङ्ग आयेगा। इसी तरह भाव और अभावमें भी वैशेषिकों ने न संयोग माना न समवाय माना। यह तो उनके सिद्धान्तसे ही जाना जाता है, लेकिन भाव और अभावके प्रकरणमें भी विशेषण विशेष्यभाव केवल स्वीकार किया गया है, इस कारण संयोग और समवायके साथ विशेषण विशेष्यभावकी व्याप्ति नहीं है कि संयोग समवाय होनेपर ही विशेषण विशेष्यभाव बने, किन्तु विशेषण विशेष्य भावके साथ संयोग और समवायकी व्याप्ति कह सकते हैं अर्थात् जहाँ विशेषण विशेष्य भाव विदित होता है वहाँ संयोग और समवायकी कल्पनाकी जा सकती है। वस्तुतः विशेषण विशेष्य भावके बिना न तो संयोगकी प्रतिष्ठा बनायी जा सकती

और न समवायकी प्रतिष्टा बनायी जा सकती । हाँ यह एक दूसरी बात है कि कहीं विशेषण विशेष्य भावकी विवक्षा न हो और संयोग समवायका परखना देखा जाय तो विवक्षा न होनेकी बात तो रही, पर यह न बनेगा कि विशेषण विशेष्य भाव तो था ही नहीं और संयोग समवाय बन गया। विशेषण विशेष्य भावके बिना संयोग और समवाय नहीं बन सकता है, विवक्षा न होनेका कारण यह है कि प्रयोजन नहीं है इसलिए विशेषण विशेष्य भावरूपमें विवक्षा नहीं की जा रही है। जैसे द्रव्यमें द्रव्यत्व है। अब और प्रयोजन न होनेसे विशेषण विशेष्य भावका प्रकट रूप नही दिया गया लेकिन यह नहीं है कि वहाँ विशेषण विशेष्य भाव न हो और फिर कोई सम्बन्ध बनाया जा रहा हो संयोग अथवा समवाय इनका कुछ अविनाभाव आदिक कोई भी सम्बन्ध विशेषण विशेष्य भावके बिना नहीं बनता इसलिए वे सब विशेषण विशेष्य भावके ही भेद जानना चाहिए। कहीं संयोग और समवाय ये अलग नहीं कहे जाते। यों समवाय नामका जब कोई सम्बन्ध ही स्वतंत्र सिद्ध नहीं होता तो महेश्वर और महेश्वरज्ञानमें जो कि भिन्न भिन्न तत्त्व हैं उनमें समवाय सम्बन्धका भेद कर उसकी व्यवस्था बनाना और इस व्यवस्थाके बाद फिर सृष्टिकर्ताकी व्यवस्था बनाना ये सारी बातें असङ्गत हैं।

समवायको स्वतंत्र और एक माननेमें दोष प्रसंगकी वार्ता—यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि समवायको कैसे विशेषण विशेष्य भावका भेद कहा जा सकता है ? वह तो एक स्वतंत्र पदार्थ है। द्रव्य, गुण कर्म, सामान्य, विशेष ये स्वतंत्र पदार्थ हैं, उसी प्रकार समवाय भी स्वतंत्र है और एक पदार्थ है। उसका याने विशेषण विशेष्य भावका भेद समवायको कैसे बताया जा रहा है ? तो उत्तरमें कहते हैं कि समवाय कोई एक स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। यदि समवाय भी एक स्वतंत्र पदार्थ माना जायगा तो वहाँ अनेक दोष आ ही जायेंगे !

स्वतन्त्रस्य कथं तावदाश्रितत्वं स्वयं मतम् ।
तस्याश्रितत्ववचने स्वातन्त्र्यं प्रतिहन्यते ॥ ६० ॥

समवायिषु सत्स्वेव समवायस्य वेदनात् ।
आश्रितत्वे दिगादीनां मूर्तद्रव्याश्रितिर्न किम् ॥ ६१ ॥

समवायको स्वतन्त्र माननेमें समवायियोंमें आश्रितताका विनाश—यदि समवाय स्वतन्त्र है तो फिर आप लोगोंने उसका अनाश्रितपना कैसे कह दिया है? आश्रितपना तो स्वयं माना है कि जो समवाय समवायीके आश्रय रहता है याने सम-

वायमें रहता है तो आधार तो बना ही दिया। सो यों समवायमें समवाय रहता है, इस तरहका आश्रितपन कहनेपर वह समवाय स्वतन्त्र नहीं बन सकता। यदि यह कहा जाय कि समवायके होनेपर ही समवायका ज्ञान होता है, यों समवायमें आश्रितपना कहा जाता और इस तरह वह उपचारसे है। तो समाधानमें यह कहना पर्याप्त होगा कि इस तरह फिर दिशा आदिक पदार्थ भी अमूर्त द्रव्योंके आश्रित क्यों न हो जायेंगे ? इसका स्पष्टीकरण यह है कि वास्तवमें यदि समवाय स्वतन्त्र द्रव्य माना जाता है तो वैशेषिकोंने स्वयं ऐसा कहा है कि नित्य द्रव्योंको छोड़कर ६ द्रव्योंमें समवायका आश्रितपना है. तो यह वचन वैशेशिकोंने स्वयं कहा है। तो समवायका आश्रितपना कैसे स्वीकार कर लिया ? अगर स्वतन्त्र था तो उसे अनाश्रित ही बनाना था। तो लो उनके ही सिद्धान्तका यहाँ विरोध आ जाता है, क्योंकि "षण्णामाश्रितत्वमन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः" इस सूत्रसे तो यह प्रसिद्ध किया कि केवल नित्य द्रव्यको छोड़दे तो बाकी ६ पदार्थोंमें आश्रितपना माना गया है। तो यह सिद्धान्त विरोध तो स्पष्ट है। अब स्वतन्त्रता कहाँ रही समवायकी ? जो परके आश्रित हो उसे तो परतन्त्र कहा गया है। इसलिए समवायमें जब पराश्रितपना मान लिया तो स्वतन्त्रताका नाश तो हो ही गया। फिर समवाय स्वतन्त न रहा। इस दोष प्रसङ्गपर वैशेषिक कहते हैं कि हम आश्रितपना समवायका मान तो रहे हैं, पर वह वास्तविक धर्म नहीं है, याने समवायमें आश्रितपना है वह वास्तविक नहीं, किन्तु औपचारिक है और इसी कारण सिद्धान्तसे विरोध नहीं आता। तो समवायमें आश्रितपना उपचारसे कैसे बना ? सो सुनो ! उपचारका कारण यह है कि समवायके होनेपर समवायका ज्ञान होता है। जिस जगह समवायी न हो उस जगह समवायका ज्ञान नहीं होता। तो समवाइयोंके होनेपर ज्ञान बनता है समवाय वाला। केवल इतने मात्रसे समवायका आश्रितपना कहा है सो वह उपचार औपचारिक है। यदि वास्तवमें समवायको आश्रित मान लिया जाय तब आश्रयके नाशसे समवायका भी नाश मानना पड़ेगा। इस कारण समवाय वास्तवमें समवायियोंके आश्रित नहीं है, किन्तु समवायियोंके ज्ञान आश्रित होनेपर ही समवायका ज्ञान होता है। इस दृष्टिसे उपचारसे समवायको आश्रित बताया गया है। वास्तवमें तो असारपना इस कारण नहीं है कि यदि समवाय वास्तवमें आश्रित हो जाय तो आश्रयके नाश होनेसे समवायका भी नाश मानना पड़ेगा। जैसे गुण आदिककी बात है कि कई गुण द्रव्यके नाश होनेपर नष्ट हो जाया करते हैं। तो ऐसे ही यदि समवाय समवायीके आश्रित हो वास्तवमें तो समवायीके नाश होनेसे समवायका भी नाश मानना पड़ेगा। उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि विशेषवादियोंका उक्त प्रकारसे समवायी स्वतन्त्र सिद्ध करनेकी बात सही नहीं है यदि इस तरह समवायका आश्रितपना उपचारको बता दिया जाय और वास्तवमें उसे अनाश्रित और स्वतन्त्र मान लिया जाय तो इसी तरह दिशा आदिकमें भी तो आश्रितपनेका प्रसङ्ग आयगा। इसका कारण यों है कि जितने मूर्तद्रव्य यहाँ दीख

रहे हैं उन मूर्त द्रव्योंकी उपलब्धि होनेपर दिशा ज्ञापक बनती है। ऐसे ही यह इससे पूर्वमें है तो मूर्त द्रव्योंके होनेपर ही तो दिशाका स्पष्टीकरण कर सके हैं। इसी तरह काल भी कब बोधमें आता है? जब परत्व और अपरत्वका ज्ञान होता है याने यह इससे जेठा है, यह इससे छोटा है, इस प्रकारका जब ज्ञान होता है तो कालका बोध होता है। तो यों दिशा भी मूर्त द्रव्यके आश्रित बन गई और काल भी मूर्त द्रव्यके आश्रित बन गया। तब ऐसी स्थितिमें आपका वह सिद्धान्त नहीं रह सकता जैसा सूत्र में कहा है कि नित्य द्रव्यको छोड़कर ६ पदार्थोंके आश्रितपना है, यह सिद्धान्त क्यों न स्थिर रह सका? यों कि दिशा आदिक नित्य द्रव्य भी उपचारसे आश्रित सिद्ध हो जाते हैं और समवायका उपचारसे आश्रित माननेपर इतना ही दोष नहीं किन्तु इसके अतिरिक्त यह भी प्रसङ्ग आयगा कि सामान्य बात परमार्थ दृष्टिसे अनाश्रित हो जायगी क्योंकि जैसे विशेषवादियोंके यहाँ यह कल्पना है कि समवाय यदि वास्तवमें आश्रित हो तो समवायीके नाश होनेपर समवायका नाश हो जाना पडेगा। उसी तरह यहाँ भी कह सकेंगे कि सामान्य यदि द्रव्यके आश्रित हो तो उसका विनाश होनेपर समवाय भी विनष्ट हो जायगा, लेकिन जैसे आश्रयके नष्ट होनेपर समवायका नाश नहीं माना इसी प्रकार द्रव्यका नाश होनेपर सामान्यका भी नाश नहीं माना है। यों समवायको उपचारसे आश्रित मानना और परमार्थतः स्वतंत्र मानना यह सब आपकी मान्यतासे ही विरुद्ध पड़ जाता है।

कथं चानाश्रितः सिद्ध्येत्सम्बंधः सर्वथा क्वचित्।
स्वसम्बन्धिषु येनातः सम्भवेन्नियतस्थितिः॥ ६२॥

समवायको अनाश्रित कहनेपर उसके सम्बन्धत्वकी असिद्धि—उक्त श्लोकमें वैशेषिकोंने यह सिद्ध करना चाहा था कि समवाय परमार्थतः आश्रित नहीं है, किन्तु उपचारसे आश्रित है, इसके सम्बन्धमें कुछ दोष उपस्थित किया था उसके उत्तरमें अब और कुछ उसके सम्बन्धमें कहा जा रहा है कि यदि समवाय परमार्थ दृष्टिसे अनाश्रित है क्योंकि उपचारसे ही उसमें आश्रितपना मानते हैं तो जो परमार्थतः अनाश्रित हैं वह सम्बन्ध कैसे सिद्ध हो सकता है? क्योंकि सम्बन्ध तो उसे कहते हैं कि जिसकी अपने सम्बन्धियोंमें स्थिति सम्भव हो। अब समवायको मान लिया अनाश्रित तो उसके सम्बन्धियोंमें स्थिति नहीं बन सकती। इस तरह यह प्रमाणित किया जा सकता है कि समवाय सम्बन्ध ही नहीं है, क्योंकि समवाय सर्वथा अनाश्रित है। जो जो सर्वथा अनाश्रित होता है वह यह सम्बन्ध ही नहीं कहलाता, जैसे दिशा, काल, आकाश आदिक अनाश्रित हैं तो उनका नाम सम्बन्ध तो न पड़ा। तो जो सर्वथा अनाश्रित है, समवाय है उसको सम्बन्ध कैसे कहा जा सकता है? इस प्रकार जो सम्बन्ध इह इदं इस ज्ञानसे अनुमानित किया जाता है वह सम्बन्ध समवाय नहीं है।

क्योंकि जो अयुतसिद्ध और आधार्य आधारभूत हैं उनका भी अन्य कोई सम्बन्ध आश्रित होना चाहिए सो उनका संयोग आदिक सम्बन्ध तो सम्भव नहीं है। और, उनका यद्यपि समवाय सम्भव है लेकिन वह तो अनाश्रित है। तो जो अनाश्रित समवाय है उसके सम्बन्धियोंमें सम्बन्ध कैसे बनाया जा सकता है ? यों समवायमें सम्बन्धपनेकी बात कहना युक्त नहीं है। समवाय जब अनाश्रित है तो वह सम्बन्ध बन ही नहीं सकता। सम्बन्धका प्रकट रूप तो यह है जो अनेकके आश्रित रहता है उसे सम्बंध कहते हैं। अब समवायको आश्रित नहीं कह रहे हो उसे अनाश्रित बताया जा रहा है इस कारण समवाय सम्बन्ध ही नहीं कहलाता। और, जब समवाय कोई सम्बन्ध ही न बना तो इस स्थितिमें अयुतसिद्ध पदार्थोंमें इह इदं ऐसे ज्ञानसे ज्ञान जो हेतु बनाया गया है और उस हेतुसे ईश्वर और ईश्वरज्ञानमें समवाय सम्बन्ध सिद्ध कर पाये, ऐसा साधन ही नहीं बन सकता है।

समवाय सम्बन्धको सिद्ध करनेके लिये कुछ अघटित कथन—यहाँ विशेषवादी अपना पक्ष स्थापित कर रहे हैं कि देखिये ! हमारा अभिप्राय यह है कि स्याद्वादियोंने जो यह अनुमान बनाया है कि समवाय सम्बन्ध ही नहीं है, क्योंकि वह अनाश्रित है, तो इस अनुमानमें समवायका पक्ष बनाया है तो यह समवाय पक्ष प्रमाणसे सिद्ध है अथवा असिद्ध है ? यदि कहो कि समवाय प्रमाणसे सिद्ध नहीं है तो जो अनाश्रितपना यह हेतु बताया है वह आश्रयासिद्ध हो गया। स्याद्वादियोंका जो यह अनुमान बना था कि समवाय कोई सम्बन्ध ही नहीं कहलाता। क्योंकि वह अनाश्रित है तो अनाश्रितपना यह हेतु किसमें बताया जाय ? जिसे समवायमें बतानेकी चेष्टा कर रहे हो वह तो समवाय तो प्रमाणसे असिद्ध बतला रहे हैं। यदि समवाय प्रमाणसे प्रसिद्ध है तो समवायके खण्डन करनेके लिए जो हेतु दिया है वह दूषित हो जाता है। यदि समवाय प्रमाणसे सिद्ध है तो जिस प्रमाणसे समवाय धर्मीकी सिद्धि की है तो उसी प्रमाणसे अनुमान दूषित हो जाता है। क्योंकि प्रमाणसे समवायको सिद्ध मान लिया। अब समवायका खण्डन करनेके लिए जो हेतु दिया जा रहा है वह दूषित हो गया। जिस प्रमाणसे समवायको सिद्ध माना है उस ही प्रमाणसे यह हेतु बाधित हो गया। जो कुछ सिद्ध करना चाहते हैं वह समस्त प्रतिज्ञा बाधित हो गई। याने समवाय है यह सिद्ध हो गया फिर यह कहना अयुक्त है कि समवाय कोई सम्बन्ध ही नहीं है। दूसरा दोष यह आयगा कि यह हेतु बाधित विषय बन गया। हेतु जिसको सिद्ध करना चाहता है उसको सिद्ध यों अब नहीं कर सकते कि उसके मुकाबलेमें यह सिद्धान्त बन गया कि समवाय प्रमाणसे सिद्ध है तो निःसन्देह जिस प्रमाणसे समवायकी सिद्धि मान ली गई उसी प्रमाणसे अयुतसिद्धका याने जो अपृथक पदार्थ हैं उनका सम्बन्धपना भी ज्ञात हो जाता है, क्योंकि अयुतसिद्धके ही सम्बन्धको समवाय माना है तो समवायमें सम्बन्धपना प्रमाणसे सिद्ध है उसका खण्डन नहीं किया जा सकता।

उक्त शङ्काके समाधानमें स्याद्वादी कहते हैं कि वैशेषिकोंका उक्त कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि समवायका ग्राहक जो प्रमाण है उसके द्वारा आश्रित रूपपनेसे ही समवाय का ग्रहण होता है याने जो समवायी दो पदार्थ हैं उनमें अभिन्नरूपसे समवाय पाया जाता है इस तरह सिद्ध होता है, तो आश्रित ही सिद्ध हुआ। अब उसे कोई अनाश्रित स्वीकार करे तो उस अनाश्रित समवायमें सम्बन्धपनेका अभाव है। यह दोष दे रहे हैं, यह अनिष्टापत्ति उपस्थित कर रहे हैं। और इस अनिष्टापत्तिरूप प्रमाणसे यह सिद्ध कर रहे हैं कि समवाय कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि उसे अनाश्रित मान लिया गया है। देखिये! सभी दार्शनिक यह बात बतलाते हैं कि यदि साध्य और साधनमें व्याप्य व्यापक भाव हो और कोई दूसरा प्रतिवादी व्याप्य स्वीकार करता हो तो उसे व्याप्यका अविनाभावी व्यापक अवश्य मानना पड़ेगा। तो यहाँ अनाश्रितपनेका सम्बंध के साथ व्याप्य व्यापक भाव है और अनाश्रितपना वैशेषिक मान ही रहे हैं तो उससे सम्बन्धका अभाव अपने आप सिद्ध हो जाता है। देखिये! दिशा आदिक जो ६ द्रव्य हैं वे अनाश्रित हैं ना, तो उनमें अनाश्रितपनाके कारण व्याप्त हो रहा है और इस तरह अनाश्रितपना असम्बन्धके साथ व्याप्त है यह बात प्रकट सिद्ध है, क्योंकि कोई भी अनाश्रित हो तो वह सम्बन्ध नहीं कहलाता। इस कारण हमारे अनाश्रितपने हेतु में न अनेकांतिक दोष आता है और न विरोध दोष आता है। अनाश्रित होनेपर भी कोई सम्बन्धपनेको सिद्ध करदे ऐसा कोई अनुमान नहीं है, इस कारण सप्रतिपक्ष दोष भी नहीं होता। यों समवाय कोई सम्बन्ध नहीं बनता। जिससे कि किसीका किसी समवायीमें नियम बनाया जाय कि अमुकमें ही अमुकका समवाय होता है। जैसे ईश्वर में ही ईश्वरज्ञानका समवाय होता है। समवायका कोई स्वरूप ही नहीं बन रहा। समवाय नामका कोई सम्बन्ध ही नहीं बन रहा तो उससे किस महेश्वरमें महेश्वरज्ञान को सिद्ध किया जा सके और उसे सृष्टिकर्ता बताया जा सके, तथा कर्मभूभृतोंका भेत्ता नहीं होता कोई आप्त, यह सिद्ध किया जा सके।

एक एव च सर्वत्र समवायो यदीष्यते।
तदा महेश्वरे ज्ञानं समवैति न खे कथम्॥ ६३॥

इहेति प्रत्ययोऽप्येष शङ्करे न तु खादिषु।
इति भेदः कथं सिद्ध्येन्नियामकमपश्यतः॥ ६४॥

समवायको एक माननेपर सम्बन्धकी अव्यवस्था—यदि समवाय किसी प्रकार सिद्ध भी मान लिया जाय तो वहाँ एक यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह समवाय एक है अथवा अनेक है? यदि सर्वत्र एक ही समवाय माना जाय तो महे-

श्वरमें ज्ञानका समवाय है, आकाशमें या दिशाकालमें ज्ञानका समवाय नहीं है यह कैसे समझा जायगा ? यदि विशेषवादी यह कहें कि वहाँ जो इह इदं ज्ञान होता है उस ज्ञानसे जाना जाता है कि महेश्वरमें ज्ञान है और इस प्रकारका जो प्रत्यय होरहा है तो वह समवायके कारणसे ही होरहा है। तो यह कहना अथवा दोष देना कि समवाय ज्ञानका ईश्वरमें ही क्यों हुआ, आकाश आदिकमें क्यों नहीं हुआ ? उसका यह उत्तर है कि वहाँ ही इह इदं याने महेश्वरमें ज्ञान है, इस तरहका बोध हो रहा है, तो समवाय वहीं खुद घटित हो गया। ऐसा यदि विशेषवादी उत्तर देना चाहें तो उसमें भी यह प्रश्न होता है कि महेश्वर और ज्ञानके ही प्रसङ्गमें क्यों यह ज्ञान बन बैठे इहेदं आकाशमें क्यों नहीं ज्ञान बन बैठता ज्ञानका सम्बन्ध कि इह इदं। तो यहाँ कोई नियामक कारण नहीं है कि समवाय एक स्वतन्त्र भिन्न है तो ज्ञानका ईश्वरमें ही समवाय हो अन्य किसीमें न हो। इसी तरह जिन जिन पदार्थोंमें जिसका समवाय माना है, उसका उन पदार्थोंमें ही समवाय हो, अन्यमें न हो, यह कैसे सिद्ध किया जा सकता है ?

विशेषणभेदसे सम्बन्धके नियमकी व्यवस्थाका शङ्काकार द्वारा कथन

यहाँ विशेषवादी कहते हैं कि इह इदं इस प्रकार जो ज्ञान बना है उसका नियामक विशेषणभेद है। जैसे कि सत्ताका परिचय कराना विशेषणभेदसे बनता है। इसी तरह विशेषणभेदसे हम इह इदं इस प्रकारका ज्ञान बना लेते हैं। जैसे कि सत्ता भी एक ही है और वे द्रव्यादिक विशेषणोंके भेदसे भेद वाले देखे जा रहे हैं, क्योंकि जिस जिस द्रव्यके बारेमें बात करें उस उस द्रव्यके सत्त्वकी व्यवस्था बनाई जाती है अथवा गुण कर्म आदिकके सम्बन्धमें बात करें तो उसके सत्त्वकी व्यवस्था बन जाती है। तो विशेषणोंसे विशिष्ट होकर सत्ताका ज्ञान बने तो वह सत्ताका ज्ञान उन–उन द्रव्यगुण आदिकका सत्ता बता देते हैं। जैसे द्रव्य सत है, गुण सत् है, कर्म सत् है आदिक द्रव्यादिकके विशेषणोंसे सहित जो सत्ताका ज्ञान बना वह द्रव्यविशिष्ट सत्ता को ग्रहण करने वाला है। कोई विशिष्ट सत्ताका ग्रहण करने वाला है। तो जैसे सत्ता है पर विशेषणभेदसे द्रव्यकी सत्ता, गुणकी सत्ता, इस प्रकार नियम बन जाता, ऐसे ही समवाय भी एक है फिर भी विशेषणभेदसे कि महेश्वरके ज्ञानका समवाय आदिक विशेषणभेदसे इह इदं ज्ञानका नियम बन बैठता है। जो भी समवायी हैं उन समवायी विशेषणोंसे युक्त इह इदं इस ज्ञानमें विशिष्ट समवायकी व्यवस्था बन जाती है। याने समवायी विशेषण है और समवाय विशेष्य है। तो समवायीके भेदसे समवायका भेद पड़ जाता है और इस उपदेशसे इहेदंका परिचय परिज्ञान बन जाता है। वास्तवमें तो विशिष्ट परिज्ञानका तो उपलक्षित समवाय सिद्ध हुआ है और इस तरह यह विशेषणभेद इह इदं इस प्रकारसे नियमका कारण बन गया। उदाहरणमें देखिये ! जैसे इन तंतुओंमें वस्त्र है, तो तंतु वस्त्रविशिष्ट ही तो है। इह इदं ज्ञान है

तंतुओंमें वस्त्र है, इस तरहसे जब हमने कुछ बोध किया तो उस ही ज्ञानसे तो तंतुओं ही वस्त्रका समवाय है इस तरह भी नियम बना। कहीं उसके तंतुओंमें समवाय बना। और जब इहेदं विशेषण विशिष्ट होकर सभी लोगोंके ज्ञानमें आ रहा है तो वहाँ यह प्रश्न न किया जाना चाहिए कि वही क्यों प्रतिनियत बना? अर्थात् वह समवाय इसमें ही क्यों घटित हुआ? अन्यत्र क्यों नहीं घटित होता? इस तरहके प्रश्न उठाये जाने लगें तो कोई भी दार्शनिक अपने इष्ट तत्वको सिद्ध नहीं कर सकता क्योंकि जो भी तत्व वह सिद्ध करना चाहेगा उसके व्यवस्थापक ज्ञानमें भी यह प्रश्न लगाया जा सकता कि यह नियम कैसे बना? यों बहुत दूर जाकर भी किसी अनुभव में आया हुआ ज्ञान विशेषणका माना जाय तो अब यह प्रश्न नहीं लागू होता और उससे फिर कोई तत्वकी व्यवस्था बनाये तो ऐसा ही तो हमारा यह है—महेश्वरमें ज्ञान है इस विशेषण युक्त इह इदं ज्ञानसे समवाय महेश्वरमें ही नियमित होता है, आकाश आदिकमें नहीं यों विशेषण भेदसे समवायमें भेद है, पर वस्तुतः वह एक है।

समवायको परमार्थतः एक माननेपर विशेषणभेदसे भी नानात्व न हो सकनेसे सम्बन्धकी असिद्धि बताते हुए उक्त शङ्काका समाधान— उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि विशेषवादियोंका यह वचन यथार्थ नहीं है कि समवाय तो वास्तवमें एक है किन्तु समवायीके भेदसे याने विशेषणके भेदसे उपचारसे अनेक माने जाते हैं। यह कथन यथार्थ क्यों नहीं है? इसका कारण यह है कि जब समवाय सर्वथा एक है, वास्तवमें एक है तो वह स्वयं किसी भी तरह अनेक नहीं हो सकता है, तो नाना समवाय उसके विशेषण नहीं बन सकते! अब वस्तुतः समवाय एक ही है तो वह अनेक समवाइयोंसे विशिष्ट भी नहीं बन सकता। तथा शङ्काकारने जो ऊपर समवायके एकत्वको प्रमाणित करनेके लिए सत्ताका दृष्टान्त दिया था वह दृष्टान्त देना यों युक्त है कि सत्तापर भी अभी विचार करना पड़ा है वह भी साध्य कोटिमें है क्योंकि सत्ता भी किसी भी प्रमाणसे सर्वथा एक सिद्ध नहीं होती। जैसे प्रमाण एक सिद्ध नहीं होता उसी प्रकार सत्ता भी एक सिद्ध नहीं होती। इस प्रसङ्गमें वैशेषिक कहते हैं कि सत् सत् है, इस प्रकारका जो एक अनुगत आकार लिए हुए सामान्यज्ञान होता है और सत् सत् इस प्रकारके परिचयमें विशेष ज्ञान नहीं हो रहा तो इससे सिद्ध है कि सत्ता एक ही है। इसके उत्तरमें स्याद्वादी कहते हैं कि सत् सत् इससे अनुगताकार सामान्य प्रत्ययकी बात भी नहीं कह सकते, क्योंकि सर्वथा सामान्यज्ञान भी असिद्ध है। सत्ताको एकसिद्ध करनेके लिए वैशेषिकोंने दो हेतु दिये थे - एक तो असत् असत् इस प्रकारका सामान्यज्ञान होता है। दूसरा सत् सत् इस प्रकारके बोधमें विशेषज्ञानका अभाव है सो विचार करनेपर ये दोनों ही हेतु असंगत हो जाते हैं। न तो सर्वथा सामान्य प्रत्यय है और न सर्वथा विशेषज्ञानका अभाव ही है हाँ, कदाचित् सामान्यज्ञानकी बात सोचें तो वह भी सिद्ध हो सकती है, किन्तु किसी दृष्टिसे सामा-

न्यज्ञानकी बात सिद्ध होगी उसमें सत्तामें कथंचित् ही एकपना सिद्ध होगा, किन्तु सर्वथा एकपना सिद्ध हो सकता। देखिये ! जिस प्रकार सत्ता सामान्यकी अपेक्षा सत् है, सत् है इस ढङ्गसे सामान्य विज्ञान होता है उसी तरह सत्ता विशेषकी अपेक्षासे सत् विशेषका भी ज्ञान होता है। भिन्न भिन्न सत् विशेषोंका भी ज्ञान होता है। जैसे कि घट सत् से पट सत् है तो सत् सत् इस प्रकारसे सर्व पदार्थोंमें सत्ता सामान्यका बोध होता है। तो अर्थ क्रिया करने वाले वास्तविक सभी पदार्थोंमें ये अमुक अमुक पदार्थ सत् हैं इस प्रकार सद्विशेषका ज्ञान होता है। यह बात अनुभव सिद्ध है, सधी और सुगम है। अब अनुभव सिद्ध बात न मानकर एक अपनी कल्पना अड़ाई जाय तो यह समीचीन दार्शनिकोंका काम नहीं है। यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि घट सत् है। ऐसे प्रसङ्गमें घट पदार्थ ही तो विशिष्ट हुआ। सत्ता नहीं हुई। घट सत् है। ऐसा कहनेपर घट ही विशिष्ट बना, पर सत्ता विशिष्ट नहीं बनी। सत्ता तो एक ही है, अनेक नहीं है। वह घट विशेषण हो गया। पर सत्त्व तो एक ही है। वे नाना नहीं होते। इसके समाधानमें कहते हैं कि यदि घट सत् है, पट सत् है आदिक रूप सत प्रत्येक होनेपर भी वहाँ सत्ताको एक मानते हो तो हम कह बैठेंगे कि घट पट आदिक सब भी एक ही चीजें हैं। जैसे सामान्य घट ज्ञान होनेसे सारे घट एक हैं। केवल उन घटोंके धर्म ही विशिष्ट बनते हैं और वे धर्म जो कि विशेषण बने वे ही विशेषज्ञानके उत्पन्न करने वाले होते हैं। यद्यपि यह बात विरुद्ध है, प्रत्यक्ष बाधित है, लेकिन यह अनिष्ठ आपत्ति आयगी विशेषवादियोंके यहाँ जो कि सत्ताको एक मानते हैं। जैसे वे कहते हैं कि सत तो एक है पर घट आदिक विशेषण लग जाते हैं तो वह घट ही विशिष्ट है। सत्ता विशिष्ट नहीं होती। तो ऐसे ही यहाँ कहेंगे कि सैकड़ों घट हैं वे वास्तवमें एक ही घट हैं। सामान्य घट ज्ञान हो रहा है, पर जो ज्यादह घट मालूम हो रहे तो वह घटकी कल्पना कर रहे हो सो घटके धर्म विशिष्ट हुए और वे ही विशिष्ट ज्ञानके जनक हैं।

घटपटादिके अनेकत्वकी तरह सत्वके भी अनेकत्वकी सिद्धि— यहाँ विशेषवादी कहते हैं कि घटके विषयमें एकत्वकी आपत्तिका प्रसङ्ग क्यों दिया जा रहा है ? घटमें तो यह बात है कि यदि घट एक एक हो तो कहीं भी एक घटके नाश होनेपर जगतके समस्त घटोंका नाश बन जायेगा। अथवा कहीं घटकी उत्पत्ति होनेपर जगतमें सर्वत्र केवल घटोंकी उत्पत्ति होनी पड़ेगी। इसका बड़ा भारी प्रसङ्ग उपस्थित होता है। इससे मानना चाहिए कि घट तो अनेक हैं, एक नहीं हैं। इसके समाधानमें स्याद्वादी कहते हैं कि जैसे कि घटकी समस्या सुलझा ली है इसी तरह सत्ताकी समस्या भी सुलझा लें ! सत्ता आदिक एक हो तो किसीके जो कि पहले सत नहीं है उसकी सत्ताका सम्बन्ध बन जायगा। तो जगतके समस्त कार्योंके साथ एक साथ सत्ताका सम्बन्ध बन बैठे, क्योंकि सत्ताको तो एक मान लिया है, सो सम्बन्ध होनेपर सभी सम्बन्ध एक कहलायेंगे। अथवा और दूसरी बात देखिये ! किसी कार्य

के साथ सत्ताका सम्बन्ध नहीं रहता जिसे कि विनाश बोलते हैं तो एक भी कार्यके साथ सत्ताका सम्बन्ध न रहे तो सभीके साथ सत्ताका सम्बन्ध न रह सकेगा। तो यों सत्ताका सम्बन्ध और सत्ताका असम्बन्ध इन दोनोंमें बड़ा कठिन विरोध परस्पर होगा। विशेषवादी कहते हैं कि देखिये ! तथ्य यह है कि जो पहले असत है, जिसकी सत्ता नहीं है, जिसकी सत्ताका सम्बन्ध नहीं है, उस असतके उत्पादक कारण मिल जानेसे वह उत्पन्न हो जाता है। तो जो पदार्थ उत्पन्न होता है उसके साथ सत्ताका सम्बन्ध बन जाता है और अन्यके साथ सत्ताका सम्बन्ध यों नहीं बनता कि अन्यके उत्पादक कारण नहीं मिल रहे, तो वे उत्पन्न भी नहीं हो रहे। अन्यके साथ सत्ताका सम्बन्ध नहीं हो सकता। इस कारण सत्ताको एक माननेमें दिया गया जो दोष है वह समीचीन नहीं है। इसके उत्तरमें स्याद्वादी कहते हैं कि इस तरह तो घटको भी एक माननेमें कोई दोष न आयगा। जैसे कि शङ्काकार दोष देकर और एक आपत्तिसे बचना चाह रहे हैं। वह कैसे ? सो सुनो ! सत्ताके साथ जैसे विशेषवादियोंने कहा है कि सत्ताके उत्पादक कारण मिल जानेसे असत उत्पन्न होता है, व्यक्त होता है तो उसके साथ सत्ताका सम्बन्ध बन जाता है और अन्यके उत्पादक कारण न रहें और इसी कारण उत्पन्न नहीं हो रहे तो ऐसे अन्य पदार्थोंके साथ सत्ताका सम्बन्ध नहीं होता है, ऐसा बताया था तो वही बात हम घटके सम्बन्धमें भी कह सकते हैं कि घट के उत्पादक कारण मिल जानेसे घटमें उत्पाद धर्मका सम्बन्ध बनता है और जब उत्पाद धर्मका सम्बन्ध बना तब घटके साथ उसका सम्बन्ध बन गया। तो लो यों सत्ताकी तरह घटमें भी एक मान डालो। और भी देखिये ! कहीं विनाश कारण मिलनेसे घटका विनाश धर्म हुआ तो घटका अब उस धर्मके साथ असम्बन्ध बन गया, यही विनाश कहलाता। तो यही मानते रहो कि घटको सर्वथा एक माननेपर भी घट के उत्पाद आनिक धर्मोंका सद्भाव और अभावका नियम बन जाता है अपने ही कारणोंके नियमसे देश, काल, आकारका नियम बन जाता है। कौन घट किस देशमें है, किस कालमें है, किस आकारमें है, ये सब कारणोंसे भेद बन जाते हैं। घट एक ही है। इस तरह यहाँ भी मानना पड़ेगा। तो घट एक रहा आया उत्पाद आदिक धर्म अनेक रहे आये। उससे कल्पना यों बनेगी कि उत्पाद आदिक धर्म घटसे अभिन्न ही हों ऐसा नहीं माना है विशेषवादियोंने। उत्पाद आदिक धर्म घटसे भिन्न माना है, तो उत्पाद आदिक अनेक हो जायें तिससे घट अनेक बन बैठें, यह आपत्ति नहीं आती, यदि उत्पाद आदिक धर्म घटसे अभिन्न मान लिया जाय और यों जब सत्ता धर्मको सत्तासे भिन्न मान लिया गया तब उत्पाद आदिक धर्मोंको भी घटसे भिन्न मान लो। ऐसी स्थितिमें उत्पाद आदिक धर्म ही विशिष्ट होते हैं घट विशिष्ट नहीं होता याने सत्ताकी तरह घट एक रहता है और नाना घटोंका जो व्यवहार चलता है और कभी कोई घड़ा उत्पन्न हो, कभी कोई घड़ा नष्ट हो, यह सब बात बन जाती है। बनता कुछ नहीं है। पर सत्ताको एक मानकर जो विशेषणभेदसे सत्ताको भिन्न मानते हैं,

उनके लिए यह दोष प्रसङ्ग है कि यह भी कहा जा सकता है कि घट एक है किन्तु उत्पाद आदिक विशेषणोंसे वह बनता प्रतीत होता है।

सत्ताको सर्वथा नित्य माननेपर उत्पादादि धर्मकी असम्भवता—विशेषवादी कहते हैं कि यदि घट आदिक बनते हों तो उसमें उत्पाद आदिक धर्म कैसे बन सकेंगे ? समाधानकर्ता घटको नित्य बताकर ही तो अनिष्टापत्ति दे रहा है। उससे सिद्ध है कि घट नित्य मौके पर कहा है तो यों यदि घट नित्य हो तो उसमें उत्पाद आदिक धर्म नहीं बन सकते, क्योंकि जो नित्य होता है वह उत्पाद विनाश धर्म से रहित है। नित्यमें उत्पाद नहीं है। नित्यमें विनाश नहीं है जिसमें उत्पाद और विनाश हो वह तो अनित्य कहलायगा। इसके उत्तरमें स्याद्वादी कहते हैं कि यह बात सत्ताके बारेमें भी तो समझ लीजिए। यदि नित्य हो तो उत्पन्न होने वाले और नष्ट होने वाले पदार्थोंके साथ उसका सम्बन्ध कैसे बन सकेगा। क्योंकि वह नित्य है। और उसका उत्पन्न होनेके साथ सम्बन्ध है तो नष्ठ होनेके साथ कैसे आयगा ? और सम्बंध है तो जैसे पदार्थ उत्पन्न और नष्ठ हुए ऐसे ही सत्ता भी उत्पन्न और नष्ट हो गई, यों मानना पडेगा। तो घटमें नित्यकी कल्पना कराकर उसके एकत्वका परिहार जो किया जा रहा है तो उसकी भाँति सत्ताको नित्य मानकर पदार्थोंके साथ उनका सम्बंध न बनाया जा सकेगा। विशेषवादी कहते हैं कि पदार्थ तो अपने कारणसे उत्पन्न होता है। और अपने कारणोंसे नष्ट होता है। वह ही पदार्थ सदा ध्रुव रहने वाली सत्ताके साथ सम्बन्धित होता है। सत्ताका कहीं सम्बन्ध बनानेके लिए पदार्थोंमें नहीं जाना पड़ता। सत्ता तो एक व्यापक सदाकाल रहती है, अब जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं वे ही पदार्थ सत्ताके साथ सम्बन्ध किया करते हैं। इस कारण सत्ताकी नित्यता माननेसे सम्बन्धकी असिद्धि नहीं बताई जा सकती। इसके उत्तरमें कहते हैं कि यही बात जरा घटके साथ भी जोड़ लीजिए घट एक है, व्यापक है सदा रहने वाला है। अब अपने कारणोंसे उत्पाद आदिक धर्म ही उस एक घटके साथ सम्बंधित हो जाते हैं यों कह दीजिए। अन्यथा अर्थात् सत्ताके बारेमें तो अपने मनकी बात न माने तो यह केवल अपने मन्तव्यका पक्षपात ही कहलायगा जब बात एक समान दोनों जगह घटित हो रही है तो उसमेंसे एकको मानना, दूसरेको न मानना यह तो पक्षपात है। जैसे जो पदार्थ उत्पन्न हो रहे। और जो पदार्थ नष्ट हो रहे उनका सम्बन्ध तो सत्ताके साथ मान लीजिए और उत्पाद आदिक धर्मका सम्बन्ध नित्य घटके साथ न माना जाय तो यह तो केवल अपने मनकी कल्पना है।

सत्ताको व्यापक माननेपर प्रागभावादिका अभाव होनेसे उत्पादादि की अव्यवस्थाका प्रसंग—विशेषवादी कहते हैं कि देखिये ! एक इस दृष्टि कोणसे भी समझिये कि घट यदि व्यापक हो तो व्यापकके मायने सत्व सब जगह व्यापक

रह गया तो सब जगह घट ही तो रह गया। अब घटकी जगह अन्य पदार्थ तो कोई नहीं रह सकता। तो यों यदि घटको व्यापक मान लिया जाता है तो पट आदिक अन्य समस्त पदार्थोंका अभाव हो बैठेगा और तब उत्पाद आदिक धर्मोंके कारणोंका भी अभाव हो जायगा। जैसे घट उत्पन्न होनेमें कारण क्या है ? या यों कहो कि घटमें उत्पाद धर्मका कारण क्या है ? वे दन्डा चक्र आदिक। तो अब घट तो व्यापक मान लिया तो दंडा चक्र रहे क्या ? सारी दुनियामें घट ही घट रह गया। तो उत्पाद आदिक धर्म कैसे बन सकेंगे ? विशेषवादियोंके इस उलाहनेके उत्तरमें कहते हैं कि यह बात सत्ताके सम्बन्धमें भी समझियेगा। सत्ता भी यदि व्यापक हो तो व्यापकका अर्थ यह ही तो हुआ कि सर्वत्र सत्ता ही सत्ता है, सत्ताके विपरीत कुछ नहीं है। तो प्रागभाव प्रध्वंसाभाव अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव ये चारों प्रकारके अभाव सत्ता के प्रतिपक्ष हैं। अब मान लिया सत्ताको व्यापक तो इसका अर्थ हुआ कि सब जगह सत्ता ही सत्ता है। प्रागभाव आदिक कहीं उत्पन्न न हो सकें तब सत्ताके उत्पन्न होने वाले और नष्ट होने वाले पदार्थोंके साथ सम्बन्ध कैसे बनेगा ? याने प्रागभाव तो माना ही नहीं कि किसी कार्यका पहिले क्षणमें अभाव हुआ तो अर्थ हुआ कि सभी पदार्थ सत् हैं तो उत्पन्न होनेकी बात तो नहीं हुई, सत्ता सत्ता ही एक तो तब उत्पन्न हुआ कुछ नहीं और कोई नष्ट नहीं होता तो उन पदार्थोंके साथ सम्बन्ध कैसे बनेगा? देखिये ! प्रागभावका अर्थ है कार्यका पहिले क्षणमें अभाव होना। जैसे जिस समय घड़ा नहीं बना हुआ है किन्तु मिट्टीका एक लोंदा ही है तो उस मृत्पिण्डमें घडेका प्रागभाव कैसे जाना ? अभी घड़ा नहीं है। तो जब प्रागभाव मिटे तब तो घड़े की उत्पत्ति बने। प्रागभाव माना नहीं गया तो इसके मायने यह हुआ कि पहिले असत और पीछे उत्पन्न होने वाले पदार्थोंका सत्ताके साथ सम्बन्ध न बन सका। इसी तरह जब प्रध्वंसाभाव नहीं माना तो प्रध्वंसका अभाव होनेमें ही तो पदार्थ विनष्ट होते थे और पीछे वे पदार्थ असत कहलाते थे। तो ऐसे अब पदार्थका सत्ताके साथ सम्बन्धका अभाव कैसे बनेगा ? शङ्काकार मूलमें यह ही तो कह रहा है कि सत्ताका सम्बन्ध न रहनेसे पदार्थ असत है, तो यह बात अब न बन सकेगी। तब उस सत्ताको सर्व-व्यापक मान लिया। वहाँ कोई अजीव ही न रहा। इस प्रसङ्गमें विशेषवादी यह बतलाते हैं कि अभी समाधानकर्ता हमारे आशयको नहीं समझा। हमारा अभिप्राय यह है कि सत्ता अपने आश्रयमें रहता है इस कारण सत्ता अपने आश्रयकी अपेक्षा व्यापक है। सम्पूर्ण पदार्थोंकी अपेक्षा हम व्यापक नहीं कह रहे। जैसे आकाश। आकाशके आश्रयकी अपेक्षा सर्वत्र व्यापक है। ऐसे ही सत्ता अपने आश्रयकी अपेक्षा व्यापक है। पदार्थोंकी अपेक्षा व्यापक नहीं है क्योंकि सत्ता सब पदार्थोंमें कहाँ रह रही है ? सामान्य आदिक प्रागभाव आदिक पदार्थोंमें सत्ता कहाँ रहती ? कहाँ यह ज्ञान होता है प्रागभाव प्रध्वंसाभावके सम्बन्धमें कि इसमें सत्ता पड़ी हुई है इसी तरह सामान्यमें भी निर्बाध सत्ताका ज्ञान नहीं होता। हाँ द्रव्यादिकमें ही सत्तासे ज्ञान बन

रहा है कि द्रव्य सत् है, गुण सत् है, कर्म सत् है, तो इसके साथ ही सत्ताका सम्बन्ध प्रतीत होता है और तब यह दोष नहीं दिया जा सकता कि सत्ता सर्वव्यापक है तो अन्य कुछ न रहे। प्रागभाव रहे, सामान्य विशेष रहे और इस तरह सत्ताका सम्बन्ध द्रव्य गुण कर्मके साथ बन जायगा। इसके समाधानमें कहते हैं कि भले ही विशेषवादी ऐसा मान लें लेकिन यह उनकी जिनकी ही मान्यता है। दार्शनिक मैदानमें तो युक्तियोंसे ही बात बनती है। अपने घर बैठे कोई कुछ मान ले उससे क्या ? और चलो मान लो तो जिस तरह सत्ताके सम्बन्धमें एक अपना निजी मान्यता स्वीकार की है। तो इसी तरह घट व्यापक सिद्ध होता है। मान लीजिए कि घट व्यापक है, वह घट भी निर्बाध घट प्रत्ययके जो उत्पन्न करने वाले अपने आश्रय हैं घट उनमें रहते हैं। घट अपने आश्रयमें रहता है, इस कारणसे वह सर्व पदार्थोंकी अपेक्षा व्यापक नहीं है। घट अपने आश्रयमें सर्वत्र एक नित्य व्यापक है। और उसके अतिरिक्त पट भी बन रहे हैं। कहीं पटोंका अभाव मानना जरूरी नहीं हो जाता, क्योंकि पट आदिक पदार्थोंमें घट है यह भी ज्ञान तो नहीं है। तो अन्य पदार्थोंमें याने जो घट ज्ञान के उत्पादक नहीं हैं उन अन्य पदार्थोंमें घट नहीं रहता। घट अपने आश्रयमें ही व्यापक रह रहा है।

सत्ताको व्यापक माननेपर सामान्य, विशेष, अभाव आदिमें अव्यापकताका अनवकाश—घटके सम्बन्धमें यह भी विशेषवादी न कह सकेंगे कि एक घड़ा बीचके कपड़ा आदिक पदार्थोंको छोड़कर दूरवर्ती नाना अनेक देशोंमें एक साथ कैसे रह सकता ? यद्यपि दलील ठीक है। बात ऐसी ही है। घड़ा अनेक हैं और बीच में पट आदिक अनेक पदार्थ पडे हुए हैं लेकिन सत्ताको एक सिद्ध जिन युक्तियोंसे कर रहे हैं वे युक्तियाँ समर्थ नहीं हैं और उन युक्तियोंकी तरह घडेमें भी यही आपत्ति आती है अत: यह बात वैशेशिक न कह सकेंगे कि एक घड़ा बीचके पट आदिक पदार्थोंको छोड़कर दूरके विभिन्न अनेक देखोंमें कैसे रह जायगा ? अगर घड़ा बीचके पट आदिकको छोड़कर दूर देशमें नहीं रह सकता तो एक सत्ता सामान्य, विशेष, समवाय और प्रागभाव आदिक पतार्थोंको छोड़कर सर्व द्रव्यादिक पदार्थोंमें एक साथ कैसे व्याप सकता है ? विशेषवादियोंका यह सिद्धान्त है कि सत्ता सामान्य तो एक है और सर्वव्यापक है मगर व्यापकका भाव यह है कि सत्ता अपने आश्रय रह रही हैं अथवा द्रव्य गुण कर्ममें रह रही हैं। बीचमें जो सामान्य, विशेष, समवाय, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव पडे हुए हैं उनमें सत्ता नहीं रह सकती। तो उसी बाबत कहा जा रहा कि जैसे घट बीचके पट आदिकको छोड़कर अन्य देशमें नहीं रह सकता तो इसी तरह एक सत्ता सामान्य आदिक पदार्थोंको छोड़कर द्रव्य गुण कर्म आदिक पदार्थोंमें एक साथ नहीं व्याप सकता। यह प्रश्न तो जैसे घटमें उपस्थित किया जा सकता है। उसी प्रकार सत्‌में भी उपस्थित किया जा सकता है। कहीं यह

कहकर बचाव नहीं हो सकता कि सत्ता तो अमूर्तिक है । उसके साथ किसी पदार्थका प्रतिघात नहीं होता । याने समस्त द्रव्यादिक पदार्थोंमें सत्ता व्यापक हो जायगी । उसे कोई रोक नहीं सकता । इस तरह सत्ताको अमूर्त कहकर अगर इस दोषसे बचना चाहोगे तो घटमें भी अप्रकट आकृतिको कहकर यहाँ भी दोषसे बचा लिया जायगा । याने जिस घटकी आकृति अभी प्रकट नहीं हुई है उस घटकी किसीसे भी रुकावट नहीं है तो वे घट सारे देशमें व्याप जायेंगे । उसको भी व्यापक यों मान लेनेमें किसी प्रकारका दोष नहीं आता । सारांश यह है कि जो उत्तर सत्ताके बारेमें देंगे वह ही उत्तर घटके बारेमें दिया जा सकता । तो यो सत्ताको एक नित्य व्यापक मानना पडेगा । तो जैसे घट अनेक हैं इसी प्रकार सत्ता भी अनेक हैं । तब सत्ताकी दलील देकर समवायको एक एक सिद्ध करनेका प्रयास अनुचित है ।

व्यापकताके सम्बन्धमें सत्ताके मुकाबिलेमें घटके सम्बन्धमें समान आख्यान - प्रकरण यहाँ चल रहा है कि वैशेषिक समवायको एक नित्य और व्यापक मानते हैं, किन्तु पदार्थोंमें पदार्थके स्वरूपका कथञ्चित तादात्म्य समझा जाय इसके अतिरिक्त समवाय नामकी कोई चीज नहीं है । स्वरूप पदार्थसे अभिन्न होता है । स्वरूप पदार्थसे अभिन्न होता है स्वरूपमय ही पदार्थ होता है, स्वरूप स्वरूपवानसे कोई भिन्न चीज नहीं है । अतः समवाय सम्बन्धका कोई स्वरूप सिद्ध नहीं है । उसी प्रकरणसे सम्बन्धित यह बात चल रही है कि यदि समवायको एक नित्य व्यापक माना जाता है तो उसमें क्या क्या दोष आते हैं । उन दोषोंके परिहारके लिए विशेषवादियों का समवाय एक नित्य व्यापक सिद्ध करनेके लिए सत्ताका दृष्टान्त दिया था । जैसे सत्ता एक नित्य व्यापक है तो इसके उत्तरमें यह कहा जा रहा है कि सत्ता भी एक नहीं है । और यों सत्ताको एक माननेका आग्रह किया जाय तो यों घटको भी एक कह सकते हैं । भले ही हजारों घट हैं, पर कहा जा सकता है कि घट एक नित्य व्यापक है और उसके उत्पाद आदिक धर्म विशेषण हैं, उन विशेषणोंके भेदसे घट नाम विदित होते हैं, पर वस्तुतः घट एक घट है । इसपर वैशेषिक यह कह सकते हैं कि यदि घट व्यापक है तो सभी जगह घटका ज्ञान होना चाहिए । तो इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि सत्ता भी यदि व्यापक है तो सब जगह सत्ताका ज्ञान होना चाहिए, पर सर्वत्र सत्ताका ज्ञान नहीं माना है । जैसे प्रागभाव आदिक चार अभावों में सत्ताका ज्ञान नहीं माना जा रहा है । तो इसके उत्तरमें यदि वैशेषिक यह कहेंगे कि प्रागभाव आदिकमें तो सत्ताका तिरोभाव रहता है, यही कारण है कि प्रागभाव आदिकमें सत्ताका ज्ञान नहीं हो पाता । तो इसका समाधान सुनो ! घटके बारेमें भी यह कहा जा सकता है कि अन्य पदार्थोंमें घटका तिरोभाव रहता है, यही कारण है कि अन्य पदार्थोंमें घटका ज्ञान नहीं हो पाता । तो इस तरह घटको भी सत्ताकी तरह एक व्यापक कह डालियेगा ! और एक दृष्टिसे देखिये ! सांख्य सिद्धान्तमें तो

यह कहा ही है कि 'सर्वं सर्वत्र विद्यते" अर्थात् सब कुछ सब जगह मौजूद है। तो ऐसा कहने वाले सांख्यकी पद्धतिमें तो कुछ विरोध भी नहीं है। घट सब जगह मौजूद है। तो अनभिव्यक्ति, तिरोभाव और अभिव्यक्ति आविर्भावके द्वारा कहीं इष्टज्ञानका न होना और कहीं इष्टज्ञानका होना सिद्ध हो सकता है घटके उलहनेमें, इसमें किसी भी प्रकारका विरोध नहीं है।

व्यापक होनेपर भी घटत्वकी घटमें अभिव्यक्तिकी तरह व्यापक घटकी अभिव्यञ्जक देशमें अभिव्यक्तिका प्रत्यापादन—अब इस प्रकरणमें और भी बात सुनो ! जब वैशेषिक यह स्वीकार करते हैं कि घटत्व आदिक सामान्य घट आदिक व्यक्तियोंमें प्रकट होते हैं इसलिए उनमें घटज्ञान होता है याने घटत्व सामान्य तो एक है, नित्य सर्वव्यापक है। अब घटत्व सामान्य घटमें प्रकट है। इसलिए वहाँ घटज्ञान होता है और जहाँ घट नहीं पड़े हैं ऐसा बीचमें घटत्व अप्रकट है। अतः वहाँ घटज्ञान नहीं होता, ऐसा विशेषवादियोंका सिद्धान्त है। इसमें भी घटको तो एक नहीं मान रहे, पर घटत्वको एक मान रहे। और जब उनसे यह पूछा जाता है कि जब घटत्व एक है तो सब जगह घटज्ञान क्यों नहीं होता ? तो उनका कहना यह होता है कि घटत्वकी अभिव्यक्ति घटमें ही होती है। और, जहाँ घड़े नहीं हैं, पट आदिक पदार्थ हैं, उनमें घटत्वकी अभिव्यक्ति नहीं है। तो जैसे घटत्वको एक मानकर कहीं घट ज्ञान होना, कहीं न होना इसकी व्यवस्था बना लेते हैं तो इसी तरह यहाँ क्यों नहीं कह लेते कि घट एक है परन्तु घट अपने अभिव्यञ्जक वाले देशमें प्रकट है। अर्थात् घटका जहाँ प्रकाश है, प्रकटपना है वहाँ ही प्रकट है। तो वहाँ तो घटका ज्ञान हो जाता है, किन्तु अभिव्यंजक शून्य स्थानमें वह घट अप्रकट है, इस कारण पट आदिक पदार्थोंमें घटका ज्ञान नहीं होता, यदि ऐसा स्वीकार नहीं करते तो यह तो अपनी मनमानी ही कहलायगी। जहाँ मन चाहा वहाँ किसीको एक बना दिया, जहाँ मन न चाहा वहाँ न बनाया। तब वह पद्धति तो किसीको एक बनानेमें लगाई जा रही वह दूसरी जगह भी घटित होती है तो वहाँ क्यों नहीं उसे एक स्वीकार करते ?

विभिन्न देशोंमें उपलब्धिके कारण घटमें अनेकत्वकी सिद्धिकी तरह सत्तामें भी अनेकत्वकी प्रसिद्धि—अब यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि हमारा अभिप्राय यह है कि घडे अनेक हैं क्योंकि वे एक साथ नाना देशमें प्राप्त होते हैं। जैसे वस्त्र, चटाई आदिक अनेक पदार्थ भिन्न भिन्न देशमें पाये जा रहे हैं तो वे अनेक हुए ना। इसी तरहसे घडे भी भिन्न भिन्न जगहमें अनेक देखे जा रहे हैं, हर एक गाँवमें, हर घट एक नहीं किन्तु अनेक हैं और इस तरह घटकी एकता बताकर सत्ताकी एकता भङ्ग करनेका प्रयास करना ठीक नहीं है। घडे तो अनेक हैं क्योंकि एक साथ भिन्न

देशमें पाये जाते हैं किन्तु सत्ता एक ही है। इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि इसी युक्तिके आधारसे फिर सत्ताको भी अनेक मान लीजिए ना। सत्ताके विषयमें भी यही प्रमाण उपस्थित किया जा सकता है कि सत्ता अनेक है, क्योंकि एक साथ बिना बाधक के भिन्न भिन्न देशोंमें उसकी उपलब्धि होती है। जैसे वस्त्र, चटाई, घड़ा आदिक अनेक पदार्थ पाये जा रहे हैं इसी तरहसे भिन्न भिन्न जगहोंमें घट सत् पट सत् आदिक अनेक सत् पाये जा रहे हैं इस कारण सत्ताको भी एक न कहो। देखिये ! भिन्न २ देशमें रहने वाले जो घट पट आदिक पदार्थ हैं उनमें एक साथ सत्ता पाई जा रही है ना ! जैसे यहीं चौकी चटाई, पुस्तक आदिक पदार्थ भिन्न-भिन्न अपना-अपना रूप लिए हुए हैं और उनमें एक साथ सत्ता पाई जा रही पटकी सत्ता पटमें है, चौकी की सत्ता चौकीमें है, चटाईकी सत्ता चटाईमें है। तो जैसे यहाँ भिन्न-भिन्न देशोंमें, नाना पदार्थोंमें एक साथ सत्ता पाई जा रही है, इसी तरह घड़े भी जितने हैं और पदार्थ भी जितने हुए उन सबमें यह सत् है, यह सत् है इस तरहका ज्ञान पाया जा रहा है। उससे सिद्ध है कि सत्ता अनेक है, एक नहीं है। और, इसको सिद्ध करने वाला अनुमान प्रयोग यह हुआ कि सत्ता अनेक है, क्योंकि एक साथ निर्बाध रूपसे भिन्न-भिन्न देशमें उसकी उपलब्धि होती है।

सत्त्वको अनेक सिद्ध करने वाले अनुमानकी निर्दोषताका वर्णन— यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि उक्त अनुमान प्रयोगमें जो हेतु दिया गया है उसका आकाशके साथ अनैकान्तिक दोष आता है। अनैकान्तिक दोष उसे कहते हैं कि जहाँ हेतु पाया जाय, पर साध्य न पाया जाय। तो देखिये ! आकाशमें हेतु तो पाया गया, एक साथ भिन्न-भिन्न देशमें आकाशकी उपलब्धि हो रही है, परन्तु पक्ष नहीं पाया जा रहा। साध्य बनाया गया कि अनेक है, लेकिन आकाश तो एक है। तो एक होकर भी भिन्न-भिन्न देशोंमें उपलब्धि हो सकती है, तो इसी तरह सत्ता एक हो कर भी भिन्न-भिन्न देशोंमें पाई जा रही है, 'भिन्न-भिन्न देशोंमें निर्बाध उपलब्धि' हेतु देकर सिद्ध करनेका प्रयास अनुचित है। आपका यह हेतु आकाशके साथ अनेकान्त दोषसे दूषित है क्योंकि आकाश नाना देशोंमें उपलब्ध होता है लेकिन वह अनेक नहीं है, एक है। इसके उत्तरमें कहते हैं कि आकाश एक है और भिन्न-भिन्न देशोंमें उपलब्ध है, यह बात तो वैशेषिक कह भी नहीं सकते, क्योंकि इस तरह कहनेका क्या प्रमाण है ? देखिये ! प्रत्यक्ष तो आकाशको विषय कर नहीं सकता, क्योंकि आकाश तो इन्द्रियके द्वारा विषयभूत नहीं हो सकता, वह अतीन्द्रिय है। तो प्रत्यक्ष प्रमाणसे एक साथ भिन्न देशमें आकाश नहीं प्राप्त होता। यदि कहो कि अनुमान द्वारा आकाशके भिन्न देशमें उपलब्धि सिद्ध होजायगी। तो सुनो ! आकाश की सिद्धि करने वाला विशेषवादमें शब्द माना गया है। शब्दके द्वारा आकाशकी सिद्धि करते हैं वैशेषिक, क्योंकि आकाश गुण शब्द कहा है और शब्दको सुनकर

आकाशकी, गुणको सुनकर गुणी को प्रसिद्धि की जाती है। तो आकाशका ज्ञान कराने वाले शब्दोंकी एक साथ भिन्न-भिन्न देशमें उपलब्धि सम्भव नहीं है। इस कारण अनुमानसे भी भिन्न-भिन्न देशमें आकाशकी उपलब्धि सिद्ध नहीं की जा सकती। और जब भिन्न-भिन्न देशमें आकाशकी उपलब्धि सिद्ध न हुई तो आकाशके साथ अनेकान्तिक दोष नहीं कहा जा सकता। वहाँ हेतु ही नहीं पाया जा रहा है। अनेकान्तिक दोष तो तब हुआ कहना कि साधन पाया जाया जाय और साध्य न पाया जाय। तो सत्ताको अनेक सिद्ध करनेमें जो हेतु दिया है कि एक साथ भिन्न देशमें उपलब्धि हो रही है, यह हेतु निर्दोष है और इससे सिद्ध है कि सत्ता अनेक हैं। वैशेषिक कहते हैं कि यह कैसे कहा गया कि आकाशका ज्ञान कराने वाले शब्दोंके भिन्न-भिन्न देशमें उपलब्धि नहीं होती। देखिये ! नाना देशवर्ती आकाशज्ञापक शब्द भिन्न-भिन्न देशके पुरुषों द्वारा सुने जाते हैं। जितने गाँव हैं. सभी जगह हल्ला हो रहा है, शब्द सुनाई दे रहे होंगे तो भिन्न-भिन्न देशवासी शब्दोंको सुना करते हैं तो उससे आकाशके एक साथ भिन्न देशमें उपलब्धि सिद्ध हो जाती है और जब आकाश भिन्न देशमें एक साथ उपलब्ध हो गया और उसमें अनेकपना है नहीं तो सत्ताको अनेक सिद्ध करने वाले हेतुमें अनेकान्तिक दोष आ ही गया है। इसके समाधानमें कहते हैं सत्ताको अनेक सिद्ध करने वाले अनुमानका यह हेतु कि 'एक साथ भिन्न देशमें निर्बाध उपलब्धि हो रही है' यह हेतु अनेकान्त दोषसे दूषित नहीं है। अनेकान्तिक दोषके साथ इस हेतुको साथ लगाते जब हम आकाशके भिन्न देशमें उपलब्धि तो मानते और आकाशको अनेक नहीं मानते, लेकिन ऐसा तो नहीं कह रहे। आकाश प्रदेश भेदसे अनेक हैं। अगर एक साथ भिन्न देश वालेके द्वारा आकाशकी उपलब्धि हो रही है तो समझिये कि आकाश इतना बड़ा है अनन्त प्रदेश वाला है तो उसमें कुछ प्रदेशकी उपलब्धि कोई कर रहा, कुछ प्रदेशकी उपलब्धि कोई कर रहा। तो यों प्रदेश भेदसे आकाश अनेक माने गए हैं। जो कोई पदार्थ प्रदेश रहित होगा उसमें एक साथ भिन्न देश काल वाले समस्त मूर्तिक पदार्थोंका संयोग नहीं बन सकता। जैसे एक परमाणु एक प्रदेशी है तो उस परमाणुमें एक साथ भिन्न देश कालके पदार्थ तो नहीं संयुक्त हो सकते। लेकिन यहाँ देखिये ! आकाशमें समस्त मूर्तिमान द्रव्योंका संयोग सब लोग समझ रहे हैं। इससे सिद्ध है कि आकाश प्रदेश भेदरहित नहीं है। उसमें प्रदेश पाये जा रहे हैं तो प्रदेशभेदकी अपेक्षासे अनेक हैं तब आकाशके साथ हेतुका अनेकान्तिक दोष नहीं आता बल्कि उस आकाशको दृष्टान्तमें रख लीजिये कि एक साथ भिन्न देशमें उपलब्ध हो रहे हैं तो आकाश भी अनेक हैं। यह बात अवश्य है कि आकाश निरन्तर अनेक हैं। घड़ेकी भाँति बीचमें कोई पदार्थ न रहे उसके एवजमें और कुछ रहा इस तरह नहीं। आकाश निरन्तर व्यापक बन रहा है, पर प्रदेश भेदसे वह अनेक व्यवस्थित किया गया है।

असत्ताके समान सत्ताके भी अनेकत्वकी असिद्धि—अब सत्ताको एक

ही मानने वाले वैशेषिकोंके प्रति असत्ताकी बात रखकर सत्ताको अनेक सिद्ध करनेकी बात सुनो ! सत्ता स्वतंत्र पदार्थ नहीं है, क्योंकि सत्ता पदार्थका धर्म है। जैसे कि असत् । वैशेषिक ने स्वयं यह माना है कि अभाव स्वतंत्र पदार्थ नहीं है किन्तु वह पदार्थका धर्म है और ऐसा ही कहकर अभाव नाना प्रकारका कहा जा सकता है। तो जैसे घटकी असत्ता पटकी असत्ता इस तरह पदार्थका धर्म असत्ता विदित होरही है। और इसी कारण असत्ता कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। इसके समाधान सुनिये ! इसी प्रकार यहाँ भी तो घटित किया जा सकता है कि घटकी सत्ता, पटकी सत्ता, यों सत्ता भी पदार्थका ही धर्म विदित होता है। इस कारण सत्ता भी स्वतन्त्र पदार्थ न रहा। सत्ता और असत्ता दोनोंके सम्बन्धमें सारी बातें एक सी घटित होती जायेंगी, तब असत्ता यदि स्वतन्त्र नहीं है तो सत्ता भी स्वतन्त्र नहीं है। असत्ता एक नहीं है तो सत्ता भी एक नहीं है। असत्ताकी तरह सत्ताको ही पदार्थका धर्म मानो और जब सत्ता पदार्थका धर्म बन गया तो जितने पदार्थ हैं उनका धर्म उनके ही साथ है। तब सत्ता एक व्यापक भी न बन सका। यहाँ यदि वैशेषिक यह कहें कि घट सत् है, पट सत् है, लो इस तरहसे सब जगह एक सा ही तो सत् असत्का ज्ञान हो रहा है तो भले ही सत्ता पदार्थका धर्म हुआ फिर भी एक सा ज्ञान होनेके कारण सत्ता एक है, अनेक नहीं है। वैशेषिक यदि ऐसा कहें तो लो इसके उत्तरमें असत्ताके सम्बन्धमें भी सुन लीजिए ! असत् इस प्रकारका भी सब जगह एक सा ज्ञान हो रहा। घट असत् है, पट असत् है, इस तरह असत तो कहते जाइये मगर असत्से जो समझा गया है अभाव न होना, तो ऐसा असत्पना तो सब जगह एक सा ही समझा जा रहा है फिर असत्ताको भी पदार्थके आधीन मानकर भी एक मान लिया जाय ! जैसे सत्ताको पदार्थका धर्म स्वीकार करनेपर भी पदार्थकी भांति अनेक नहीं माना जा रहा, किन्तु एक ही माना जा रहा। इसी तरह असत्ताको भी पदार्थका धर्म मानकर भी अनेक मत मानो, अभावको भी एक मान लीजिए ! अब यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि देखिये ! असत्ता एक नहीं है, असत्ता चार प्रकारकी सिद्ध होती है—पहिले असत्, पश्चात् असत्, परस्परमें असत् और अत्यन्त असत् इस प्रकारके ज्ञान भी हो रहे हैं। जैसे जब मृत्पिण्ड है, उस समय घटकी सत्ता नहीं है तो घट पहिले असत्ता हुई ना ! जब घट छोड़ दिया गया तो उसके बाद घटकी सत्ता नहीं है, तब कहेंगे ना, कि यह पीछे असत् है। घट और पट इनमें परस्पर असत्ता है। घटकी सत्ता पटमें नहीं, पटकी सत्ता घटमें नहीं, तो इसे कहेंगे कि ये परस्पर असत् हैं। इसी तरह पृथ्वीमें जलकी सत्ता नहीं, द्रव्यमें गुणकी सत्ता नहीं। यों कभी भी सत्ता हो नहीं सकती, उसे कहेंगे अत्यन्त असत। जिसके ये चार नाम प्रसिद्ध हैं--१ प्रागभाव २ प्रध्वंसाभाव ३ इतरेतराभाव और ४ अत्यन्ताभाव। सो अभाव एक नहीं हो सकता। इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि जिस तरह असतको अनेक माना है उसी प्रकार सत्ताको भी अनेक मान लीजिये। देखिये ! सत्ता भी चार तरहकी हो गई। नाश होनेसे पहलेकी

सत्ता। इसका नाम रखो पूर्व सत्ता प्राकसत्ता। दूसरी सत्ता है उत्पत्तिके बादकी सत्ता। इसका नाम रख लीजिये पश्चात सत्त्व। तीसरी सत्ता है एक जातिके दो पदार्थोंमें किसी भी ढङ्गसे एककी दूसरेमें सत्ता। जैसे जीव-जीव दो पदार्थ हैं तो जीवत्वकी दोनों जगह सत्ता है। इसे कहेंगे इतरेतरा सत्ता और चौथी सत्ता हुई अत्यन्त सत्ता। याने तीन कालमें भी वर्तमान जो सत्ता रहती है जो अनादि अनन्त है उसे कहते हैं अत्यन्त सत्ता। जैसे कि प्रत्येक पदार्थमें उसकी सत्ता अनादि अनन्त पाई जा रही है तो उस तरह सत्ताको भी चार प्रकारसे क्यों न मान लिया जा सकेगा ? जैसे असत्ताके ज्ञान विशेष होता है उसी तरह सत्ताके भी ज्ञानविशेष हो रहे हैं। पहिली सत्ता, बादकी सत्ता, परस्पर सत्ता और अत्यन्त सत्ता। तो इस तरह सत्ताके ज्ञानमें भी कोई बाधा नहीं आती।

असत्ताको एक माननेमें शंकाकार द्वारा दिये गये अनिष्ट प्रसंगोंकी भांति सत्ताको भी एक माननेमें अनिष्टप्रसंग— वैशेषिकों द्वारा जिस प्रकार सत्ता को सर्वथा एक कहनेमें यह बाधा कही जा सकती कि यदि सत्ता एक हो तो कहीं कार्य की उत्पत्ति हो गई तो प्रागभावका विनाश हो गया। प्रागभावके विनाशका अर्थ यह है कि कार्यकी उत्पत्ति हो गई। तो कार्यकी उत्पत्ति होनेपर प्रागभावका विनाश हो जानेके कारण सभी जगह प्रागभावके विनाशका प्रसङ्ग आ जायगा। तब कुछ भी प्राक अभाव वाला न रहेगा। तब सारे कार्य अनादि हो जायेंगे। और, कोई बादकी असत्ता न रहेगी। तो सर्व कार्य अनन्त हो जायेंगे। इतरेतराभाव न माननेपर किसी का किसीमें असत्त्व ही न रहेगा तो सभी पदार्थ सबरूप हो जायेंगे और अत्यन्ताभाव न माननेपर सब जगह सब कालमें आ जायेंगे, तो सर्वशून्य हो जायगा। इस तरह असत्ताको एक माननेपर बड़ी भारी बाधा आती है। असत्ताको एक माननेमें वैशेषिक बाधा उपस्थित कर रहे हैं। असत्ता ४ प्रकारकी प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतरा भाव और अत्यन्ताभाव। प्रागभाव न माना जायगा तब तो सारे कार्य अनादि हो जायेंगे, क्योंकि किसी भी कार्यका पहिले अभाव ही नहीं। प्रध्वंसाभाव न माना जायगा तो सारे कार्य अनन्त हो जायेंगे। क्योंकि अब प्रध्वस होता ही नहीं है। इसी तरह इतरेतराभाव न माना जायगा तो सब रूप हो जायेंगे। और अत्यन्ताभाव न माना जायगा तो सदा काल सब एक हो जायगा। इस ततह असत्ताको एक माननेपर यह बड़ी बाधा आती है। इसके उत्तरमें कहते हैं कि जैसी असत्ताको एक माननेपर आपत्ति दी है ऐसी आपत्ति सत्ताको एक माननेपर भी उपस्थित की जा सकती है। देखिये ! सत्ता अगर एक होती तो एक जगह किसीका नाश हुआ तो वहाँ सत्ता न रही, तो सत्ताके न रहनेसे सब जगह सत्ताका अभाव हो जायगा। और, फिर इस स्थितिमें कोई किसीसे पहिले सत् ही न रह सकेगा। न पश्चात् सात रहेगा, न परस्पर सत् रहेगा न अत्यन्त सत् रहेगा। जब सत्ता एक है और वह किसी जगह नष्ट हो गई

तो जैसे असत्को एक माननेमें आपत्ति दी जा रही है इसी तरह सत्ताको एक माननेमें भी आपत्ति आती है। जिस आपत्तिको दूर करना कठिन होगा और इस तरह सर्व शून्यताका दोष आयगा। यदि सर्व शून्यताका दोष दूर करना है तो असत्ताकी भांति सत्ताको भी अनेक मानना पड़ेगा। इस तरह सत्ता सर्वथा एक सिद्ध नहीं होती। जैसे कि असत्ता अनेक सिद्ध हो रही है इसी तरह सत्ता भी अनेक सिद्ध होती है। तो जब सत्ता अनेक सिद्ध हो गई तो समवायको एक सिद्ध करनेके लिए सत्ताके एकत्वका दृष्टान्त नहीं दिया जा सकता है। और, जब जैसे सत्ता अनेक है इसी तरह जिस पदार्थका जो स्वरूप है वह स्वरूप उस ही पदार्थमें है, उसीका नाम समवाय रख लिया जाय तो समवाय भी अनेक है। और जैसे सत्ता प्रत्येक पदार्थकी उस ही पदार्थमें व्यापक है सर्वत्र व्यापक नहीं है इसी प्रकार स्वरूपका स्वरूपवानमें ही तादात्म्य है उससे आगे तादात्म्य नहीं है। यों प्रत्येक पदार्थ अपना अपना सत्त्व रखता है। पदार्थका जो कुछ स्वरूप है वही पदार्थ है। स्वरूपसे स्वरूपवान अलग नहीं होता। तो इस तरह समवाय नामक पदार्थकी सिद्धि नहीं होती। और, जब समवाय नामक सम्बन्ध कुछ न रहा तो महेश्वरमें महेश्वरज्ञानका समवाय सिद्ध करना और ऐसे भिन्न पदार्थोंका सम्बन्ध बनाना और फिर उस महेश्वरज्ञानको सृष्टिका निमित्त कारण कहना ये सब बातें निराधार सिद्ध होती हैं। वस्तुतः प्रत्येक पदार्थ तो अपने ही सत्त्व धर्मके कारण प्रतिसमय सभी पदार्थ अपने ही स्वभावसे उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते हैं और उत्पन्न विनष्ट होकर भी अपना मूल स्वभाव कभी भी नहीं छोड़ते हैं तो उत्पाद व्यय ध्रौव्य यह पदार्थमें ही स्वयं सिद्ध है। तो जो लोग पदार्थका ऐसा स्वरूप न मान कर और जगत किसी बुद्धिमानके द्वारा किया गया है ऐसा मानें, और उस बुद्धिमानको आप्त मानें तो उनकी कल्पना सिद्ध नहीं होती।

शंकाकार द्वारा विशेषण भेद होनेपर भी सत्ताकी एकता कल्पित किये जानेपर असत्तामें भी उसी प्रकार एकता माननेका प्रसंग—अब यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि हमारा तो यह अभिप्राय है कि किसी कार्यके नष्ट हो जानेपर सत्ताका नाश नहीं होता क्योंकि सत्ता नित्य है, कार्य अनित्य है। जो नित्य होता है वह कभी भी नष्ट नहीं हो सकता, इस कारण दूसरे पदार्थोंमें सत्ताका ज्ञान होनेसे भले ही पहले समयकी सत्ता पश्चात् समयकी सत्ता आदिक रूपसे विशेषण भेद मान लिया जाता है इतनेपर भी सत्ताभेद वाली बात नहीं है किन्तु एक ही है और ऐसा मान लेनेपर सर्व-शून्यताका दोष भी नहीं आता। सत्तामें अनेक भेदका प्रसङ्ग भी नहीं आता। सत्ता तो एक ही है किन्तु विशेषण भेदसे सत्ताके नाना रूप बता दिए जाते हैं, सो तात्पर्य यह है कि सत्ताके विशेषण भूत कार्य नष्ट हो जायें, पर सत्ताका नाश नहीं होता और सत्ताके विशेषणभूत पदार्थ नाना हैं तो भी सत्ता नाना नहीं होती। उक्त विशेषणोंका ही विनाश होगा, उत्पाद होगा, नानापन होगा, किन्तु सर्वत्र सत्ता तो एक ही है,

अनेक नहीं है। उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि विशेषवादियोंका यह अभिप्राय कि सत्ता एक ही हैं कार्योंके भेदसे कुछ भेद डाले जाते हैं पर भेद कार्योंमें ही रहेगा, सत्तामें नहीं रहता, यह कथन सही नहीं है, क्योंकि इस प्रकारके कथन करनेसे किसी कार्यकी उत्पत्ति हो जानेपर प्रागभावका अभाव नहीं हो सकता क्योंकि प्रागभाव और सत्ता ये दोनों प्रतिपक्षी धर्म हैं। सत्ता तो सद्भावको बताने वाली है। और प्रागभाव अभावको बताने वाला है। ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। तो सत्ताका नाश तो नहीं हो सकता यह माना है। तो जब सत्ता सदाकाल है तो अभावका अभाव नहीं बन सकता तो किसी कार्यकी उत्पत्ति हो जानेपर भी प्रागभावका अभाव न हो सकेगा, क्योंकि वह नित्य है और नित्य इस कारण है कि जब अन्य दूसरे पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है तो उसमें पहिले उनके प्रागभावका ज्ञान कराने वाला प्रागभाव अब भी बना है। देखिये प्रागभावका अर्थ यह है कि कार्यसे पहिले समयमें कार्यका न होना यह प्रागभाव जैसे पहिले था याने कार्य होनेसे पहिले अभाव था उसी प्रकार कार्य होनेपर भी प्राग-भावका तो अभाव न बन सका। क्योंकि सत्ता सदाकाल है। तो प्रागभाव जब विद्य-मान रहा तो कार्यकी उत्पत्ति कैसे कहलायेगी ? इस कारण उत्पन्न एक कार्यरूप विशेषणकी अपेक्षासे प्रागभावमें विनाशका व्यवहार भले ही किया जाय तिसपर भी अनेक कार्य जो उत्पन्न नहीं हो रहे उन अनुत्पन्न कार्योंकी अपेक्षासे प्रागभाव तो अवि-नाशी ही रहा। तो लो यों विशेषणभेद होनेपर भी प्रागभावमें भेद न हो सका। जैसे सत्ता एक बताते हैं विशेषवादी उस ही प्रकार प्रागभाव भी एक ही रहा, सदा रहा। तब वहाँ न एकपनेका विरोध है न शाश्वत रहनेका विरोध है। देखिये ! यह बात स्पष्ट हो गई कि उत्पत्तिसे पहिले घटका प्रागभाव पटका प्रागभाव ये विशेषण भेद हो रहे हैं पर अभाव नामका कोई जो एक तथ्य है उसमें कोई भेद नहीं हुआ। जैसे बताते हैं कि विशेषणोंके भेदसे सत्तामें भेद विदित होता है पर सत्तामें स्वयंमें कोई भेद नही है, इसी तरह प्रागभाव या अभावमें भी यह कहा जा सकेगा कि विशेषण भेद से अभावमें भेद हो गया तिसपर भी अभावमें स्वत: कोई भेद नहीं पड़ता। जैसे घट की सत्ता, पटकी सत्ता ऐसे विशेषण भेद बन जाते हैं सत्वमें, फिर भी सत्तामें भेद नहीं होता। तो इसी तरह, सत्ताकी तरह प्रागभावको भी नित्य और एक कहा जा सकता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि प्रागभावके विशेषणभूत घट पट आदिक पदार्थोंका ही नाश हुआ, प्रागभावका नाश नहीं हुआ अतएव प्रागभाव सदाकाल रहा और एक ही रहा। केवल विशेषणोंका ही विनाश और नानापनका भेद होता है, यों प्रागभाव एक सिद्ध हो जाता है। यद्यपि प्रागभाव एक नहीं है लेकिन सत्ता भी एक नहीं है। तो जो एक नित्य व्यापी स्वतंत्र सत्ता या समवाय मानते हो उनके लिए यह दूषण आ रहा है।

प्रागभावको नित्य माननेमें दी जाने वाली आपत्तियोंका सत्ताको

नित्य माननेमें भी प्रसङ्ग—अब यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि देखिये ! प्रागभावको नित्य कैसे माना जा सकता है ? यदि प्रागभाव नित्य हो तो कार्यकी उत्पत्ति ही न हो सकेगी। प्रागभावका अर्थ यह है— कार्यका कार्यक्षणसे पहिले समयमें अभाव। अब यह अभाव प्रागभाव हो गया। नित्य सदा काल रहा तो प्रागभाव सो कार्यको रोकने वाला था। जब तक प्रागभाव है तब तक कार्य नहीं है तो हो गया प्रागभाव नित्य तब कार्य प्रतिबन्धक प्रागभावके नित्य बन जानेसे घट कार्य उत्पन्न न होसकेगा। यदि कोई यह कहे कि प्रागभावको हम कार्योत्पत्तिका प्रतिबन्धक नहीं मानते याने प्रागभाव कार्यकी उत्पत्तिको नहीं रोकता तब तो कार्यकी उत्पत्तिके पहिले भी कार्य सिद्ध हो जायगा और यों अनादि हो जायगा, क्योंकि कार्यको कार्यके पहिले समयमें न होनेसे ऐसा कोई नियामक न रहा। अभी तक प्रागभावको नियामक कहा जा रहा था कि कार्यक्षणोंसे पहिले कार्यको न होने देना यह प्रागभावका काम है। लेकिन अब प्रागभावको कार्यका प्रतिबंधक माना नहीं गया तो कार्य पहिले भी हो जायगा और अनादि हो जायगा। इस कारण प्रागभावको नित्य न कहना चाहिए। और फिर सत्ताकी नित्यता मिटानेके लिए प्रागभावका दृष्टान्त देना, मुकाबला बनाना यह विपरीत कथन है। इसके उत्तरमें कहते हैं कि प्रागभावको नित्य माननेपर कार्य की उत्पत्ति न होना और प्रागभावको कार्यका प्रतिबन्धक न माननेपर कार्यका अनादि बन जाना यह दोष तो सत्ताके सम्बन्धमें भी लागू हो सकता है। देखिये ! सत्ता यदि नित्य हो तो कभी कार्यका नाश नहीं हो सकता, क्योंकि सत्ता सदाकाल रही आयगी, तो कार्य कैसे नष्ट होगा क्योंकि सत्ता कार्यनाशका प्रतिबन्धक है। और यदि सत्ताको कार्यविनाशका प्रतिबन्धक न माना जाय तो कार्यनाशके पहिले भी नाशका प्रसङ्ग आ जायगा, क्योंकि सत्ताके रहते हुए भी कार्यनाश मान लिया गया। कार्यनाशका और सत्ताका विरोध ही नहीं माना जा रहा। तो इसके मायने यह है कि कार्यनाश जिस क्षणमें हुआ है उस क्षणसे भी पहिले कार्यनाशका प्रसङ्ग होगा और उस दशामें कार्य की फिर स्थिति ही नहीं बन सकती है। देखिये बात यह थी कि कार्यकी सत्तानाशके पहिले नाशको रोकने वाली थी और इस ही तरह कार्यकी स्थिति बन सकती थी, लेकिन अब सत्ताको कार्यनाशका प्रतिबन्धक नहीं माना जा रहा तब कार्य कब हो, और उससे पहिले नहीं हो, ऐसा कोई नियम नहीं बन सकता।

कार्यनाशसे पहिले भी कार्यनाश बन जानेका एक प्रसङ्ग—अब यहाँ विशेषवादी कहते हैं कि तथ्य यह है कि नाशके बलवान कारण मिलनेपर कार्यकी सत्ता नाशको नहीं रोकता याने सत्ता तो सदाकाल है, एक है, मगर कार्यनाशके बल-वान कारण मिल जायें, जैसे कोई पुरुष मुद्गर लेकर घडेपर पटक ही दे तो यों नाश के बलवान कारण मिलनेपर कार्य विनाशको सत्ता नहीं रोकती है, लेकिन नाशके पहिले तो नाशके बलवानको रोकती ही थी। यों कार्यनाशके पहिले कार्यनाशका प्रसंग

न आयगा । सो जो समाधानकर्ताने यह बात अभावके मुकाबलेमें कही थी कि सत्ता में रहते हुए कार्य नष्ट हो तो कार्यनाशसे पहिले भी कार्यनाश बन जायगा, सो यह दोष नहीं आता। इसके उत्तरमें स्याद्वादी कहते हैं कि ऐसी ही दलील हम अभावके सम्बन्धमें भी दे सकते हैं। प्रागभाव कार्यकी उत्पत्तिको रोकता भी है और नहीं भी रोकता, जब उत्पत्तिके बलवान कारण मिल जायें तब प्रागभाव कार्यकी उत्पत्तिको नहीं रोकता। हाँ कार्योत्पत्तिके पहिले चूंकि उसकी उत्पत्तिके बलवान कारण न मिले थे तब तक प्रागभाव कार्यको रोकता था और इसी कारण कार्योत्पत्तिके पहिले भी कार्य उत्पन्न हो जाय यह दोष न आयगा। जिससे कि कार्यको अनादि बताने लगे। यों जो बात सत्ताके सम्बन्धमें कहेंगे वही बात अभावमें भी घटित होगी। तब प्रागभावको सत्ताकी तरह ही सदाकाल नित्य मान लेना चाहिए। और, जब प्रागभाव नित्य बन गया तो प्रागभाव तो सब जगह एक ही रहा। तो प्रागभाव जब सब जगह एक ही रहा, जब प्रागभाव ही सर्वत्र है तब प्रध्वंसाभाव प्रागभावसे भिन्न न रहा। वहाँ यह कहना चाहिए कि कार्य विनाशसे विशिष्ट प्रागभावको ही प्रध्वंसाभाव कहते हैं। एक प्रागभाव व्यापक हुआ तो वह ही वह है इसी तरह इतरेतर व्यावृत्तिसे विशिष्ट प्रागभावका ही नाम इतरेतराभाव है। इतरेतराभाव भी कोई पृथक अभाव नहीं है। एक ही अभाव मान लीजिए। यों अभाव सत्ताकी तरह एक मान लें इतनेसे ही सब काम चल जायगा।

अभावको अनेक माननेकी कल्पनाकी तरह भावको भी अनेक माननेकी सिद्धि—अब यहाँ विशेषवादी कहते हैं कि देखिये! कार्यके विनाशका ही नाम प्रध्वंसाभाव है। कार्य विनाशके अतिरिक्त अन्य कुछ प्रध्वंसाभाव नहीं कहलाता। तब विनाश विशिष्ट प्रागभावको प्रध्वंसाभाव कहना एक शब्दकी चतुराई रहेगी। प्रध्वंसाभाव कार्य विनाशका नाम है और प्रागभाव कार्यके पहिले न हो सकनेका नाम है। इसी तरह इतरेतर व्यावृत्ति भी इतरेतराभावसे भिन्न नहीं है और तब इतरेतरा व्यावृत्तिसे विशिष्ट प्रागभावको इतरेतराभाव नहीं कहा जा सकता। सारांश यह है कि जैसे प्रागभावका अर्थ स्वतंत्र है प्राग मायने पहिले, अभाव मायने न होना, कार्यका कार्यक्षणसे पहिले न होना प्रागभाव है। तो प्रध्वंसाभावका अर्थ यह है कि कार्यके नष्ट होनेपर कार्यका न रहना और इतरेतराभावका अर्थ यह है कि एक कार्यका दूसरे कार्यमें सद्भाव न होना तो ये सब अभाव जुदे जुदे हैं, ये कहीं किसी एकके विशेषण नहीं हैं। इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि इस तरहके विवेचनसे तो हम यह भी कह डालेंगे कि जो इस समय कार्यकी उत्पत्ति है वही प्रागभावका अभाव है, क्योंकि प्रागभाव उसे कहते हैं कि कार्यका पहिले न होना। तो जब कार्य हो गया तो उस हीका अर्थ हुआ कि प्रागभाव मिट गया। तो कार्यकी उत्पत्तिका ही नाम प्रागभावका अभाव है। उससे भिन्न प्रागभावाभाव नहीं है और इस तरहका निर्णय होने

पर फिर प्रागभावसे कार्यका प्रतिबन्ध नहीं बन सकता। याने प्रागभाव बना हुआ है इस कारण कार्य नहीं हो रहा, यह नियम नहीं बन सकता। यदि कार्य उत्पन्न होनेसे अर्थात् उस कार्योत्पादसे भिन्न माना जाय प्रागभावको कि कार्योत्पत्ति जुदी बात है और प्रागभावका अभाव जुदी बात है यों माननेपर कार्योत्पत्तिसे पहिले भी कार्यकी उत्पत्ति हो जाना चाहिए, क्योंकि अब प्रागभाव कार्योत्पादकका प्रतिबन्धक न रहा। जैसे नित्य अभावाभावके होनेपर नित्य सद्भाव माना जाता है। अन्य समय में तो अभावाभाव है मायने अभावका अभाव तो अन्य समय है और भावका सद्भाव अन्य समय है, ऐसा कालभेद मानना युक्त नहीं जचता। जैसे घटका सद्भाव जिस समयमें है उस समय घटके अभावका अभाव नहीं है, यह कैसे माना जा सकता है? घटके अभावका अभाव होना मायने घटका सद्भाव! तो यों प्रागभावका अभाव और कार्योत्पत्ति इन दोनोंको भिन्न-भिन्न कैसे कहा जा सकेगा? देखिये! सभी जगह अभावके अभावको ही भावका सद्भाव माना गया है। जैसे कि भावके अभाव का नाम अभाव रखना। ऐसे ही अभावके अभावका नाम भाव बन गया। अतएव कार्यका सद्भाव ही कार्यके अभावका अभाव है। और, कार्यका अभाव ही कार्यके सद्भावका अभाव है, यह बात तो जो कोई थोड़ी भी बुद्धि रखता हो वह भी स्पष्ट समझ सकता है। इस तरह अभाव नाशकी तरह भावका भी नाश सिद्ध होता है। विशेषवादी यह मान रहे थे कि अभावका तो नाश हो जाता है, पर सत्ताका नाश नहीं होता। और सत्ताके नाशका ही नाम अभाव है और अभावके अभावका ही नाम सत्ता है। तो यों सत्ता और असत्तामें परस्पर अविशेषता रही। सत्ता भी पदार्थका धर्म है और असत्ता भी पदार्थका धर्म है, तब सत्ता और असत्तामें कुछ भी विशेषता नहीं है। तो उनमेंसे सत्ताको ही एक और नित्य मानना, किन्तु असत्ताको नाना और अनित्य मानना यह कोरा पक्षपात ही है। अगर वैशेषिक इस पक्षपातसे दूर रहना चाहते हैं तो जैसे असत्ताको अनेक और नित्य मानते हैं उसी तरह सत्ताको भी अनेक और नित्य मान लेना चाहिये।

सत्ता और स्वभावमें एकत्व अनेकत्व नित्यत्व व अनित्यत्वका निर्णय

उक्त विवेचनके आधारपर अब ऐसा सिद्ध कर लीजिये कि सत्ता कथंचित् एक है, क्योंकि सत् असत् इस प्रकारका सर्वत्र सामान्य बोध हो रहा है तथा वही सत्ता कथंचित् अनेक है क्योंकि पहिले सत् पश्चात् सत् आदिक विशेष परिचय हो रहे हैं सत्ता के सम्बन्धमें, अतः सत्ता कथञ्चित् अनेक है वहीं सत्ता कथंचित् नित्य है, क्योंकि वहीं यह सत्ता है, इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान होता है। वही सत्ता कथंचित् अनित्य है, क्योंकि वहाँ कालभेद पाया जा रहा है। पहिले समयकी सत्ता पिछले समयकी सत्ता आदिक कालका सम्बन्ध रखकर जो सत्ताके सम्बन्धमें विशेष परिचय होरहे हैं वे सब विशेष प्रत्यय हैं। तो जहाँ विशेष प्रत्यय हो रहा, जिसमें काल भेदसे भेद नजर आ

रहा वह तो अनित्य कहलायगा । और, ये सभी ज्ञान जो कि एक अनेक, नित्य और अनित्यको सिद्ध कर रहे हैं वे सभी बाधारहित हैं । तो यों सत्ता भी कथंचित् अनित्य है, जैसे कि सत्ताको कथंचित् अनित्य माना गया है. तो यहाँ तक यह बात सिद्ध हुई कि सत्ता भी एक नित्य और व्यापी नहीं है। किन्तु जो नित्य हैं उन्हीं पदार्थोंको भेद-दृष्टिसे देखनेपर उनमें सत्ताका धर्म देखा जाता है । तो सन्निवेषरूप सत्ताका जो दृष्टान्त दिया था वैशेषिकोंने इस आपत्तिपर कि महेश्वरमें ही ज्ञानका समवाय क्यों होता है ? तो उसके प्रतिनियमका कारण समवायको बताया गया था कि वह समवायी विशेषणसे विशिष्ट 'इह इदं' इस ज्ञानका उत्पादक है । जैसे कि द्रव्यादिक विशेषणोंसे विशिष्ट सत्ता । ज्ञानमें कारण होनेसे द्रव्यादिक विशेषणोंका प्रतिनियम कराने वाली सत्ता होती है, क्योंकि द्रव्यसत्, गुणसत्, कर्मसत् । अर्थात् सत्ता एक है तो यह नियम कैसे बना ? ऐसा कोई प्रश्न करे तो उसका यही समाधान बनता है कि सत्ता तो एक है, पर विशेषणसे विशिष्ट होकर सत्तामें नानापनका बोध किया जाता और उसके प्रति नियम बनाया जाता कि यह सत्ता यहां ही है । तो इस तरह जो विशेषवादियोंने कहा था और समवायीके विशेषणसे इह इदं ज्ञानका जनक समवाय को बताया था तो उस कथनसे दृष्टान्त देना विषम है । सत्ता अब एक तो न रही. व्यापक और नित्य भी न रही । तो समवायको एक नित्य और व्यापक सिद्ध करनेके लिए जो सत्ताका दृष्टान्त दिया गया था वह दृष्टान्त विषम सिद्ध होता है क्योंकि सिद्ध करना चाहते हैं समवायको एक नित्य व्यापक और दृष्टान्त दे रहे हैं सत्ताका जो कि अनेक अनित्य और अव्यापी है । तब इस सम्बन्धमें ऐसा प्रतिपादन कर लेना चाहिए कि समवाय भी कथंचित् एक ही है, क्योंकि इह इदं इस प्रकारका समान बोध हो रहा है । समवाय कथंचित् अनेक ही है, क्योंकि नाना समवायी विशेषणोंसे विशिष्ट होकर इह इदं ज्ञान विशेष होता है याने जो समवायी है उसमें इसका समवाय है, यों विशेषणोंको उपस्थित करके समवायका ज्ञान हो रहा है, अतएव वह अनेक है, वही समवाय कथंचित् नित्य ही है. क्योंकि समवायके सम्बन्धमें वही यह है, इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान होता है । वही समवाय कथंचित् अनित्य ही है, क्योंकि भिन्न–भिन्न कालमें वह समवाय प्रतीत होता है । तो यों पदार्थके तादात्म्यरूपसे माना गया समवाय प्रयोजनवश एक है, अनेक है, नित्य है, अनित्य है । यहाँ कोई ऐसा सन्देह न करे कि एक ही जगह एकपना, अनेकपना, नित्यपना और अनित्यपना परस्पर विरोधी तत्त्व कैसे रह गए ? यह सन्देह यों न करना चाहिए कि बिना किसी बाधक प्रमाणके ये सब जगह देखे तो जा रहे हैं । जैसे कथंचित् अस्तित्व और कथंचित् नास्तित्व ये दोनों धर्म एक ही पदार्थमें समझमें आ रहे हैं । जैसे चौकी चौकीकी अपेक्षासे अस्ति है, किन्तु चटाई कपड़ा आदिक अन्य द्रव्योंकी अपेक्षासे नास्ति है । तो जैसे अस्तित्व और नास्तित्व ये दोनों एक ही पदार्थमें उपलब्ध हो रहे हैं तो ऐसे ही एकपना, अनेकपना, नित्यपना, अनित्यपना ये सब भी एक ही पदार्थमें उपस्थित हो

जाते हैं। तो यों समवायको कथंचित् नित्य, कथंचित् अनित्य, कथंचित् एक और कथंचित् अनेक देखिये ! और वे कोई भिन्न पदार्थ नहीं, किन्तु वस्तु ही है। उसके स्वरूपको जब भेददृष्टिसे निरखते हैं तो उपचारसे सम्बन्ध बनानेके लिए कहा जाता कि स्वरूपका स्वरूपवानमें समवाय सम्बन्ध है।

एक वस्तुमें परस्पर विरुद्ध धर्मोंका प्रकाशन—अब यहां वैशेषिक कहते हैं कि एक ही वस्तुमें एक साथ अस्तित्व और नास्तित्व ये दोनों सम्भव नहीं हैं, क्योंकि वे विधि और प्रतिषेधरूप हैं। जो जो विधि एवं प्रतिषेधरूप होता है वह एक जगह वस्तुमें एक साथ नहीं रह सकता। जैसे ठंढ और गर्मी तथा विधि प्रतिषेधरूप हैं ये अस्तित्व और नास्तित्व। इस कारण वे एक जगह एक वस्तुमें एक साथ नहीं रह सकते। इस अनुमान प्रयोगमें सभी शङ्काओंका समावेश है। और वैसे भी प्रसिद्ध बात है कि जो विधि और प्रतिषेधरूप चीज है वह तो भिन्न विषय वाला है, भिन्न-भिन्न आधार वाला होता है। सो जो विधि ही है सो प्रतिषेध कैसे ? तो यों समवाय के सम्बन्धमें जो बात बताई गई है कि वह एक है, अनेक है, नित्य है, अनित्य है, तो यह बात कैसे सम्भव हो सकती है ? अत: मानना चाहिए कि समवाय एक है और नित्य है। उसके साथ अनेकपना और अनित्यपना न जोड़ना चाहिए। इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि विशेषवादियोंका यह कथन सङ्गत नहीं है, क्योंकि यह नियम नहीं है कि जो विधि और प्रतिषेधरूप है वह एक जगह एक साथ नहीं रह सकता। देखिये ! अभिधेयपना और अनभिधेयपना एक साथ रह रहे हैं और हैं ये दोनों शब्द विधि और प्रतिषेधरूप। तब शङ्काकारके दिए गए समाधानमें व्यभिचार आयगा। अभिधेयपना किसे कहते हैं ? जो बात कही जा सके वाच्य बन सके। और अनभिधेयपना कहते हैं—जो वाच्य न बन सके। किसी एक वस्तुको अपने वाचक शब्दके द्वारा तो वाच्य कहते हैं और किसी अन्य वस्तुके वाचक शब्द द्वारा वह अवाच्य है, अनभिधेय है, तो लो, एक ही वस्तु अभिधेय भी बन गई और अनभिधेय भी बन गई। जैसे घट घट शब्द द्वारा अभिधेय है, पट वाचक शब्द द्वारा अनभिधेय है तो अभिधेय और अनभिधेय ये दोनों विधि प्रतिषेधरूप हैं। अभिधेयपनेमें तो विधि है और अनभिधेयपनेमें प्रतिषेध है। तो विधि प्रतिषेधरूप होकर यह अभिधेय और अनभिधेयपनेकी बात एक वस्तुमें ठहर गई। तो एक जगह अनभिधेयपना और अभिधेयपना जब एक साथ सम्भव हो गए तो तब यह कहना अयुक्त है कि जो विधि प्रतिषेध रूप होता है वह एक जगह नहीं रह सकता। सो एक, अनेक, नित्य, अनित्य, अस्तित्व, नास्तित्व ये यद्यपि विधि प्रतिषेधरूप हैं तो भी ये एक वस्तुमें एक साथ रह सकते हैं। देखिये ! जब इस तरह स्वीकार किया जारहा है कि स्वरूपकी अपेक्षासे अस्तित्व है और पररूपकी अपेक्षासे नास्तित्व है तो इसमें कौन सी बाधा आ रही है ? निर्बाध रूपसे सबके ज्ञानमें यह बात प्रसिद्ध बन रही है। तो सिद्ध हो गया ना, कि एक

जगह वस्तुमें अस्तित्व और नास्तित्व एक साथ सम्भव हो सकते हैं। हाँ, यदि इस तरह बोला जाय कि स्वरूपसे अस्तित्व और स्वरूपसे नास्तित्व तो उसका विरोध होगा। अथवा यों बोला जाय कि पररूपसे नास्तित्व और पररूपसे अस्तित्व तो इसमें विरोध आयगा। क्योंकि सर्वथा एकान्तरूप अस्तित्व और नास्तित्व धर्मका ही एक साथ एक जगह रहनेमें विरोध है। कथंचित् अर्थात् अपेक्षा लेकर अस्तित्व और नास्तित्वको बतानेमें कोई भी विरोध नहीं है। तो लो यों कथंचित् अस्तित्व और कथंचित् नास्तित्व एक जगह एक वस्तुमें प्रसिद्ध हो गए। तो जैसे अस्तित्व नास्तित्व एक साथ रह सकते हैं, इसी प्रकार एकपना, अनेकपना भी एक जगह वस्तुमें एक साथ सिद्ध हो जाते हैं। और, नित्यपना, अनित्यपना भी एक जगह वस्तुमें एक साथ सिद्ध हो जाता है। तब समवाय भी एक अनेक है और नित्य अनित्य है। इस प्रतीति में किसी भी प्रकारकी बाधा नहीं आती। यदि समवायको सर्वथा एक माना जाय तो यह बतायें कि महेश्वरमें ही ज्ञानके समवायसे वृत्ति है आकाश आदिकमें नहीं, यह व्यवस्था कैसे बन सकेगी? क्योंकि समवाय तो एक है और वह सबके लिए एक समान है। तो ज्ञानका समवाय महेश्वरमें ही क्यों हुआ? ज्ञानका समवाय आकाशमें क्यों न हो जाय? महेश्वरमें ही हो ज्ञानका समवाय आकाश आदिकमें न हो, ऐसी व्यवस्था करने वाला कोई नियम नहीं रहता। इसमें न तो समवाय एक सिद्ध होता और न महेश्वरमें ज्ञानका समवाय सिद्ध होता तब फिर महेश्वरज्ञान सृष्टिका निमित्त होता, यह बात भी सिद्ध नहीं होती।

न चाकेतनता तत्र सम्भाव्येत नियामिका।
शम्भावपि तदास्थानात्खादेस्तदविशेषतः॥ ६५॥

महेश्वर और आकाशादिकमें ज्ञान समवायके लिये विधि प्रतिषेधमें अचेतनत्व हेतुकी अनियामयकता—यहाँ विशेषवादी कर रहे हैं कि ज्ञानका समवाय महेश्वरमें ही होता है, आकाशमें नहीं होता। इस व्यवस्थाका बनाने वाला यह नियम है कि आकाश आदिक तो अचेतन हैं और ज्ञान चेतन। यह आत्माका गुण है तो ज्ञान चेतनात्मकका गुण है सो चेतनात्मक महेश्वरमें ही ज्ञानका समवाय बनेगा अचेतन द्रव्यमें ज्ञानका समवाय नहीं बनता। आकाश आदिक अचेतन द्रव्य है, ज्ञान आकाश आदिकका गुण नहीं है। तब ज्ञानका समवाय आकाश आदिकमें न बनेगा। महेश्वरमें ही बनता है तो यों आकाश आदिक पदार्थोंमें रहने वाली अचेतनता इस व्यवस्थाका नियम किया करती है। अर्थात् ज्ञानका समवाय चेतनमें ही हो सकता है, अचेतनमें नहीं हो सकता। इस आशङ्काके समाधानमें कहते हैं कि भला ये विशेषवादी यह बतलायें कि उनके महेश्वरको भी जब स्वतः अचेतन स्वीकार किया है याने महेश्वर स्वतः अपने आप चेतन नहीं है ऐसा माना है। तो अब इस दृष्टिमें महेश्वर और

आकाश आदिक तत्त्व एक समान हो गए। स्वरूपतः अचेतन आकाश आदिक भी हैं और स्वरूपतः अचेतन महेश्वरको भी माना है, तो जब दोनों एक समान हो गए तो उनमेंसे ज्ञानका समवाय महेश्वरमें हो और आकाश आदिकमें न हो, यह प्रश्न तो ज्योंका त्यों खड़ा रहता है। वैशेषिकोंका सिद्धान्त है कि महेश्वर चेतनाके समवायसे चेतन होता है तो चेतनाके समवायकी जरूरत वहीं तो हुई कि जो स्वतः अचेतन है और यह केवल फलितरूप नहीं कह रहे किन्तु सिद्धान्त भी इस तरहका बनाया गया है विशेषवादमें कि महेश्वर स्वतः अचेतन है और चेतनाके समवायसे वह चेतन होता है। तो स्वतः अचेतन होनेके नाते आकाश आदिक और महेश्वर एक समान हैं। तब वहाँ यह प्रश्न बराबर उपस्थित ही है कि ज्ञानका समवाय महेश्वरमें ही क्यों होता, आकाश आदिकमें क्यों नहीं होता? इस तरह अचेतनताको भी इस व्यवस्थाका नियामक नहीं कह सकते कि ज्ञानका समवाय महेश्वरमें ही हुआ और आकाश आदिक में नहीं हुआ।

नेशो ज्ञाता न चाज्ञाता स्वयं ज्ञानस्य केवलम्।
समवायात्सदा ज्ञाता यदात्मैव स किं स्वतः॥ ६६॥

नाऽयमात्मा न चानात्मा स्वात्मत्वसमवायतः।
सदात्मेति चेदेवं द्रव्यमेव स्वतोऽसिधत्॥ ६७॥

नेशो द्रव्यं न चाद्रव्यं द्रव्यत्वसमवायतः।
सर्वदा द्रव्यमेवेति यदि सन्नेव स स्वतः॥ ६८॥

न स्वतः सन्नसन्नापि सत्त्वेन समवायतः।
सन्नेव शश्वदित्युक्तौ व्याघातः केन वार्यते॥ ६९॥

महेश्वरको स्वतः अचेतन मानकर चेतनत्वके समवायसे चेतन मानने पर उत्तरोत्तर विडम्बनाओंका दिग्दर्शन – यहाँ विशेषवादी कह रहे हैं कि विशेषवादका यह सिद्धान्त है कि महेश्वर स्वतः चेतन है न अचेतन है अर्थात् न ज्ञाता है न अज्ञाता है किन्तु चेतनाके समवायसे वह चेतन होता है। सो यहाँ यह बात देखिये कि महेश्वर यद्यपि स्वतः अचेतन हो गया, लेकिन चेतनाका समवायसे चेतन भी तो होता है, परन्तु आकाश आदिक तो कभी भी चेतनाके समवायसे चेतन नहीं हुआ करते। तब आकाश आदिकमें और महेश्वरमें यह भेद सिद्ध हुआ ना याने महेश्वरको न तो चेतन कहा जा सकता और न अचेतन कहा जा सकता। किन्तु आकाश आदिकको

अचेतन सर्वथा कहा जा सकता है। इसका कारण यह है कि महेश्वर यद्यपि स्वतः अचेतन रहो, लेकिन चेतनाके समवायसे चेतन हो जाया करता यह एक इसमें विशेषता है लेकिन आकाश आदिक स्वतः अचेतन हैं और कभी भी इनमें चेतनाका समवाय नहीं होता। इस कारण आकाश आदिकसे महेश्वरमें भेद होता ही है। इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि विशेषवादियोंकी यह मान्यता भी समीचीन नहीं है, क्योंकि इस कथनमें महेश्वरका ज्ञान निज स्वरूप तो बताया ही नहीं गया। तो जब महेश्वरका स्वतः कोई स्वरूप निर्धारित नहीं है तो स्वरूप ही न बन गया महेश्वर। महेश्वरका कुछ भी स्वरूप न रहा। अब जब स्वरूप ही न रहा तो आकाश पुष्पकी तरह असत् ही हो गया, फिर उसकी चर्चाका अवकाश ही क्या रहेगा? जिससे उसका कोई रूप या कार्य आदि बताया जाय। वैशेषिक कहते हैं कि महेश्वरका स्वतः आत्मा रूप है, याने महेश्वरका स्वरूप यह है कि वह स्वयं अपने आप है इस कारण उसकी स्वरूप-हानि नहीं हो सकती। तो इसका समाधान इतना ही कहना पर्याप्त है कि विशेषवाद में आत्माको भी तो आत्मत्वके सम्बन्धसे आत्मा माना है तो वह स्वतः आत्मा न रहा तो महेश्वरका आत्मारूप भी सिद्ध नहीं होता। तो जब आत्मारूप भी सिद्ध न हुआ, तो स्वरूप भी कुछ न रहा और जिसका स्वरूप कुछ न रहा उसके बारेमें चेतनाके समवायसे चेतन है आदिक कहना व्यर्थकी बात है। वैशेषिक कहते हैं कि बात यह है कि महेश्वर स्वयं न आत्मा है और न अनात्मा। केवल आत्मत्वके सम्बन्धसे आत्मा है तो आत्मत्वके सम्बन्धसे आत्मा माननेपर विशेषवादी यह बतलायें कि वह स्वयं क्या है? स्वयं तो कोई स्वरूप न रहा। स्वतः मेरा क्या स्वरूप है? यदि विशेष-वादी यह कहें कि वह स्वयं द्रव्यस्वरूप है याने महेश्वर आत्माका स्वरूप द्रव्य है तो उस द्रव्यमें भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि विशेषवादके सिद्धान्तमें द्रव्यत्वके योग से द्रव्यव्यवहार बताया गया है, इस कारण महेश्वरका स्वतः द्रव्यस्वरूप भी व्यवस्थित नहीं होता। वैशेषिक कहते हैं कि हमारा इस सम्बन्धमें भी यह कहना है कि महेश्वर स्वतः न द्रव्य है न अद्रव्य है किन्तु द्रव्यत्वके योगसे भी द्रव्य होता है। तो इसका भी यह उत्तर है कि जब महेश्वर स्वयं द्रव्यस्वरूप भी नहीं है तो भी द्रव्यत्वके सम्बन्धमें द्रव्य बनता है, तब स्पष्ट बतायें तो सही कि महेश्वरका स्वयं क्या स्वरूप है?

महेश्वरको स्वतः असत् मानकर सत्ताके समवायसे सत् माननेपर विरुद्धताका दिग्दर्शन—यदि विशेषवादी यह कहें कि लो महेश्वरका स्वतः स्वरूप सत् है तो यह कथन भी यों विरोध बनता है कि विशेषवादियोंने सत्ताके सम्बन्धसे सत् सिद्ध किया है। तो सत्ताके सम्बन्धसे ही तो महेश्वर सत् बना। स्वयं क्या है, सो बताओ? यदि विशेषवादी इसपर भी यह कहें कि महेश्वर स्वतः न सत् है न असत् है, किन्तु सत्ताके समवायसे सत् है। तब इसपर क्या आपत्ति है? वह तो प्रसिद्ध ही आपत्ति है, क्योंकि इस कथनमें विरोध आता है कि महेश्वर स्वतः न सत्

है न असत् है। अरे ! सत्ता और असत्ता तो परस्पर व्यवच्छेदरूप हैं। जो सत् है सो असत् नहीं जो असत् है सो सत् नहीं। इनमेंसे किसी एकका निषेध करनेपर दूसरेका विधान मानना ही पड़ेगा। दोनोंका निषेध नहीं किया जा सकता कि महेश्वर सत् भी नहीं असत् भी नहीं। और यह यों नहीं कहा जा सकता कि महेश्वरको जब यह कहेंगे कि वह स्वतः सत् नहीं तो यह बात सिद्ध हो पडेगी कि वह स्वतः असत् है। जब यह कहेंगे कि महेश्वर स्वतः असत् नहीं, तो यह सिद्ध हो बैठेगा कि महेश्वर स्वतः असत है। दोनोंका प्रतिषेध एक साथ सम्भव नहीं हो सकता। अब यहाँ विशेषवादी कहते हैं कि यदि सत और असत दोनोंका प्रतिषेध नहीं बनता तो फिर स्याद्वाद सिद्धान्तमें सर्वथा सत्ता और सर्वथा असत्ताका प्रतिषेध कैसे कर दिया गया है? उनका भी तो विरोध आना चाहिए क्योंकि सत्ता और असत्ता परस्पर व्यवच्छेदरूप है, इस कारण जहाँ सर्वथा सत्ताका प्रतिषेध किया वहाँ सर्वथा असत्ता आ गयी। जहाँ सर्वथा असत्ताका प्रतिषेध किया वहाँ सर्वथा सत्ता आ गयी। तो यह विरोध तो स्याद्वादियोंके यहाँ भी सम्भव है। इस शङ्काके समाधानमें स्याद्वादी कहते हैं कि स्याद्वादमें सर्वथा सत्ता और सर्वथा असत्ताका प्रतिषेध करके कथञ्चित सत्ता और कथञ्चित असत्ताका विधान किया है। व्यवच्छेत रूप यह इस प्रकार है कि सर्वथा सत्ता और सर्वथा असत्ता ये तो एक कोटिमें हैं और कथञ्चिद् सत्ता और असत्ता ये मुकाबलेमें हैं। इन युगलोंका परस्पर विरोध है जहाँ सर्वथा सत्ताका निषेध किया वहाँ कथञ्चित सत्ताका विधान बना। सर्वथा असत्ताका प्रतिषेध किया तो वहाँ कथञ्चित सत्ताका विधान बना। सर्वथा सत्ता कथञ्चित सत्ताके व्यवच्छेद रूपसे है और सर्वथा असत्ता कथंचित असत्ताके व्यवच्छेदरूपसे है। तब स्याद्वाद सिद्धान्तमें सर्वथा सत्ताका निषेध करनेपर कथञ्चित सत्ताकी विधि बनती है। जैसे कहा कि सर्वथा सत नहीं है तो उसका अर्थ यह निकला कि कथञ्चित सत्त्व है। इस प्रकार जहाँ सर्वथा असत्ताका निषेध किया गया वहाँ कथञ्चित असत्ताका विधान है। जैसे कहा जाय कि सर्वथा असत्ता नहीं है तो उसका अर्थ यह है कि कथञ्चित असत्ता है। इस तरह सर्वथा सत्ता और सर्वथा असत्ताका निषेध करनेपर स्याद्वादियोंके यहाँ कोई विरोध नहीं आता। विरोध तो सर्वथा एकान्तवादियोंके ही सम्भव है और उसका परिहार किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। सर्वथा सत्ता और असत्ताके प्रतिषेध करनेमें विरोध नहीं है, क्योंकि वहाँपर विधान बनता है। कथञ्चित सत्ता और असत्ता तो जैसे महेश्वरको स्वतः न सत बताया न असत बताया तो उनका विरोध है, क्योंकि परस्पर व्यवच्छेद रूप है, इस प्रकार वैशेषिकोंने जो ऊपर श्लोकोंमें कहा है कि महेश्वर स्वतः न द्रव्य है और न अद्रव्य है तो इसका भी परस्पर व्यवच्छेद है, अतएव ऐसा कहनेमें भी विरोध है तथा जो यह बताया कि महेश्वर स्वतः न आत्मा है न अनात्मा है तो आत्मा अनात्मा ये भी परस्पर व्यवच्छेदरूप हैं, इसलिए इनमें भी विरोध है इसी प्रकार जो यह बताया गया कि महेश्वर स्वतः न चेतन है न अचेतन है, तो चेतन और अचेतन ये भी परस्पर

व्यवच्छेदरूप हैं, इस कारण इनका भी परस्पर विरोध है, याने दोनोंका प्रतिषेध करना सम्भव नहीं है। एकका प्रतिषेध करनेपर दूसरेका विधान बन जाता है। हाँ यदि वैशेषिक कथञ्चित सत्ता कथञ्चित असत्ता, कथंचित द्रव्यत्व कथंचित अद्रव्यत्व आदिक रूपसे विधान बने तो वहाँ गुंजाइस कुछ हो सकती थी कि विरोध न आये। लेकिन ऐसा तो उन्होंने स्वीकार हीं नहीं किया है।

महेश्वरका स्वत: कुछ स्वरूप न माननेपर उसमें विशेषताओंकी असिद्धि—उक्त प्रकार महेश्वरमें स्वरूपकी असिद्धि होनेके कारण ज्ञानका समवाय सिद्ध नहीं होता। और जब ज्ञानका समवाय सिद्ध न हुआ तो महेश्वर बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता। फिर यह अनुमान बनाना कि शरीर इन्द्रिय आदिक सब कुछ बुद्धिमान महेश्वरके निमित्तसे उत्पन्न हुए हैं, यह अनुमान प्रयोग गलत हो जाता है। जब महेश्वर सृष्टि निमित्तक न बना तो उसके लिए फिर यह सिद्ध करनेका प्रयास करना कि महेश्वर सदा मुक्त है, वह कर्मोंसे कभी छुवा ही नही गया है। क्योंकि कर्मोंसे छुवा हुआ होता तो सकर्म होनेकी हालतमें कोई सृष्टिकर्ता न होता और कर्म मुक्त होनेकी हालतमें भी मुक्तात्मा सृष्टिकर्ता नहीं होते। यों कर्मसे अछूता महेश्वरको माननेकी कल्पना करनी पड़ी, लेकिन यह कल्पना ठीक न उतरी और जब महेश्वर कर्मसे अछूता सिद्ध न हुआ तो इसमें विरोध डालना कि जो मोक्षमार्गका प्रणेता है, कर्मभूभृतका भेत्ता है, जो सर्वज्ञ होता है यह कर्म पहाड़ोका भेदनहार होता ही है इसका निषेध करना सङ्गत नहीं है। तो प्रकृतमें यह बात जो चल रही है कि जो मोक्षमार्गका प्रणेता है, कर्मरूप पहाड़का भेदनहार है, समग्र तत्त्वका ज्ञाता है वह आप्त होता है और उसको उन गुणोंकी प्राप्तिके लिए नमस्कार करता हूं। ऐसा आचार्यका मंगलाचरण सङ्गत हो जाता है।

स्वरूपेणाऽसतः सत्त्वसमवाये च खाम्बुजे।
स स्यात् किं न विशेषस्याभावात्तस्य ततोऽञ्जसा ॥७०॥

स्वरूपसे असत् परिकल्पित महेश्वरमें सत्त्वका समवाय माननेपर आकाशका पुष्पमें सत्त्व समवायका प्रसङ्ग—अब यहाँ ये दो विकल्प उपस्थित किए जा रहे हैं कि स्वरूपसे सत् महेश्वरमें सत्ताका समवाय माना जाता है अथवा स्वरूपसे असत्में? इसका अर्थ यह है कि महेश्वर खुद अपने स्वरूपसे कुछ नहीं है ऐसी उस सत्ताका समवाय स्वीकार किया है या महेश्वर अपनाकुछ स्वरूप रख रहा है उसमें सत्ताका समवाय स्वीकार किया जा रहा है? इन दो विकल्पोंमेंसे पहिले इस विकल्पपर विचार किया जा रहा है कि महेश्वर स्वरूपसे असत् है, नहीं है कुछ तब ही उसमें सत्ताका समवाय करना पड़ता है। इस विकल्पके विचारमें जरा युक्तियाँ

देखिये कि स्वरूपसे असत् महेश्वरमें सत्ताका समवाय माननेपर फिर यह बात ठीक आम हो जायगी कि जो स्वरूपसे असत् हो उसमें सत्ताका समवाय किया जाना योग है । तो आकाश कमल स्वरूपसे असत् है अथवा खरगोशके सींग या अनेक जो असत् हैं उसमें भी सत्ताका समवाय मान लेना चाहिए क्योंकि स्वरूपसे असत्की अपेक्षा दोनों ही समान हैं अर्थात् महेश्वर भी स्वरूपसे असत् है और आकाश कमल भी स्वरूप से असत् है । यहाँ विशेषवादी उक्त आपत्तिका निराकरण करनेका प्रयास कर रहे हैं कि देखो भाई आकाश कमलका तो अभाव है, उसका तो अत्यन्ताभाव है इसलिए उसमें सत्ताका समवाय नहीं हो सकता । लेकिन वास्तविक जो द्रव्य गुण कर्म है, जिसको सद्वर्गमें बताया गया है ऐसे सद्वर्गभूत द्रव्य गुण कर्ममें सत्ताका समवाय हो सकता है । तो महेश्वर भी आत्मद्रव्य है । द्रव्यके जो ६ भेद किए गए हैं उनमें आत्मा एक द्रव्य है और वही आत्मद्रव्य महेश्वर है तो आत्मद्रव्य विशेषरूप अर्थात् जहाँ अनेक आत्मा है नहीं किन्तु एक विभु आत्मा महेश्वर है, उसमें हम सत्ताका समवाय बताते हैं सो वह सिद्ध हो जाता है । इसके उत्तरमें स्याद्वादी कहते हैं कि यह कहना विशेषवादियोंका केवल मनोरथमात्र है मनकी कल्पना है कि कुछ कह डाला जाय । द्रव्य गुण कर्म सद्वर्गमें है । आकाश कमल यह असत है अभावरूप है, ऐसी मान्यता तो उनकी एक कल्पना है याने द्रव्य गुण कर्म भी ऐसे स्वरूपत: असत हैं, यह पक्ष चल रहा है, और स्वरूपत: असत् द्रव्य गुण कर्ममें सत्ताका समवाय बताया जा रहा । तो जो स्वरूपत: असत हैं उनसे किसीको सद्वर्गमें मान लेना, किसीको अभावमें समझ लेना यह तो कोरी कल्पना ही है । आकाशकमल स्वरूपसे असत है, उसे सद्वर्गमें न लें तो द्रव्यकर्म भी स्वरूपत: असत है, उसे सद्वर्गमें कैसे लिया जा सकता ? तो जब महेश्वरको स्वरूपत: असत मान लिया वही हुआ आत्मद्रव्य विशेष तो ऐसा स्वरूपत: असत महेश्वरको सद्वर्ग नहीं बनाया जा सकता और जब वह सद्वर्ग नहीं है स्वरूपत: असत है, सर्वथा असत है तो वह महेश्वरमें और आकाशपुष्पमें कोई फर्क न रहा । स्वरूपत: असत आकाशकमल है और स्वरूपत: असत महेश्वर है । तो यों स्वरूपसे असत महेश्वरमें सत्ताका समवाय होता है । ऐसा विकल्प स्वीकार करनेपर यह दोष आता है कि फिर सत्ताका समवाय आकाशपुष्पमें भी हो जाना चाहिए ।

स्वरूपेण सतः सत्त्वसमवायेऽपि सर्वदा ।
सामान्यादौ भवेत्सत्त्वसमवायोऽविशेषतः ॥ ७१ ॥

स्वरूपसे सत् परिकल्पित महेश्वरमें सत्त्वका समवाय माननेपर सामान्य आदिकमें भी सत्त्वका समवाय माननेका प्रसङ्ग– अब यहां विशेषवादी कहते हैं कि जो पहिले दो विकल्प बताये गए हैं कि स्वरूपत: असत महेश्वरमें सत्ताका समवाय माना जा रहा है या स्वरूपत: सत महेश्वरको सत्ताका समवाय

माना जा रहा। तो प्रथम विकल्पमें दोष देते हैं सो ठीक है, दीजिए! हम प्रथम विकल्पको नहीं मानते, किन्तु यह स्वीकार करते हैं कि स्वरूपसे सत महेश्वरमें सत्ता का समवाय होता है। इसके उत्तरमें स्याद्वादी कहते हैं कि स्वरूपसे सत महेश्वरमें सत्ता समवायकी कल्पना करनेपर समवाय आदिकमें भी सत्ताके समवायका प्रसङ्ग आयगा। यहाँ बात यह चल रही है कि ईश्वर सृष्टिकर्ता वाला यह कह रहे थे कि मोक्षमार्गका प्रणेता और कर्मभूभृत भेत्ता और विश्वतत्त्वका ज्ञाता आप्त होता है यह बात सही नहीं है किन्तु एक भी ईश्वर जो कर्मसे कभी छुवा नहीं गया अनादि काल से कर्म अलग ही हैं, ऐसा महेश्वर सही आप्त है और वही सृष्टिकर्ता है। तो उसके निराकरणमें यह पूछा गया कि बहुत-बहुत चर्चाओंके बाद जब यह पूछा गया कि पहिले यही विशेषण तो सिद्ध करलें कि महेश्वरके ज्ञान भी होता है, क्योंकि विशेष-वादियोंने जो सृष्टिकर्ता माना है उन्होंने महेश्वरको और ज्ञानको जुदे-जुदे दो पदार्थ माना है और ज्ञानके समवायसे महेश्वरको ज्ञानी माना है याने महेश्वर स्वयं अचेतन है और उसमें जब चेतनाका सम्बन्ध जोड़ा जाता तब उसे चेतना कहा है, ज्ञानी कहा है। जैसे कि लोक व्यवहारमें यों कहा है कि आत्मामें ज्ञान है, ज्ञानका सम्बन्ध है आत्मामें इसलिए आत्मा ज्ञानी है। तो लोकमें यों कह देते हैं—वहाँ विशेषवादियोंने इसे सही करार किया है कि ज्ञान अलग होता है आत्मा अलग है और ज्ञानका जब समवाय होता है तो आत्मा ज्ञानी कहलाता है। इस तरह महेश्वरमें ज्ञानका समवाय बताया गया है। तो यहाँ यह पूछा जा रहा है कि पहले महेश्वरको सिद्ध करनेके लिए यह कहते हैं कि उनमें सत्ताका समवाय है। जैसे जितने भी द्रव्य गुण कर्म ये पदार्थ ज्ञानमें आते हैं इन पदार्थोंमें सत्ताका सम्बन्ध है ऐसा विशेषवादी कहते हैं। और, वास्तविक बात यह है कि ये द्रव्य पदार्थ ये सब स्वरूपसे सत् हैं, ऐसा नहीं कि ये सत्तासे निराले हों और उनमें सत्ता सम्बन्ध किया जाय तब ये सत् बनें। तो इसी सम्बन्धमें ये दो विकल्प रखे गए थे कि महेश्वर स्वरूपसे क्या सत् है जिसमें सत्ताका समवाय कर रहे हो? या महेश्वर स्वतः असत् है? तो असत् वाले पक्षमें दोष दिया गया। अब इस पक्षपर विचार चल रहा है कि महेश्वर स्वरूपतः सत् है, उसमें सत्ता का समवाम बताया जाता है। तो स्वरूपतः सत्में सत्ताका समवाय बताया जानकर सामान्य विशेष आदिकमें सत्ताका समवाय मानना पडेगा।

स्वतः सत् व सत्तासमवायसे सत् परिकल्पित पदार्थोंका कुछ विवरण

विशेषवादी ७ पदार्थ मानते हैं— द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। इन ७ पदार्थोंमेंसे ६ पदार्थ तो सद्भावनात्मक मानते हैं और अभावको अभावात्मक मानते हैं। और उन ६ पदार्थोंमें भी द्रव्य, गुण, कर्म इनको तो सत्ताके समवायसे सत् मानते हैं और सामान्य विशेष समवाय इनमें सत्ताका सम्बन्ध नहीं मानते, किन्तु ये अपने अस्तित्वके कारण हैं। तो यहाँ यह दोष दिया जा रहा है कि

स्वरूपसे सत्में यदि सत्ताका समवाय माना जाता है तो स्वरूपसे सत् तो सामान्य विशेष समवायको भी कहा है कि वह भी अपने अस्तित्वसे है तो उनमें भी सत्ताका समवाय मान लेना चाहिए, किन्तु विशेषवादियोंका द्रव्य गुण कर्म इन तीनोंमें ही सत्ताका समवाय माना है। इन वैशेषिकोंने महेश्वरको स्वरूपतः सत् अभी कहा है तो जैसे महेश्वर स्वतः सत् है उसी प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा, आत्मा, मन, ये सभी स्वरूपसे सत् है, और जितने भी गुण हैं वे भी स्वरूपतः सत् हैं और कर्म भी स्वरूपतः सत् हैं उसी प्रकार सामान्य विशेष समवाय और प्रागभाव आदिक भी अभावात्मक भी स्वरूपसे सत् हैं। जैसे पूछा जाय कि अभाव है या नहीं तो कहते हैं कि अभाव है। तो अभावमें अस्तित्व पड़ा है तो अभावको भी स्वरूपसे सत् माना है। तो जब स्वरूपसे सत् महेश्वरमें सत्ताका समवाय बताया जा रहा तो अन्य समस्त पदार्थोंमें भी सत्ताका सम्बन्ध मानना पड़ेगा। तो यों सभी जगह सत्ताके समवायका प्रसङ्ग आता, लेकिन मान रहे यह कि द्रव्य गुण कर्ममें ही सत्ताका समवाय है, अन्यमें नहीं। तो इसकी व्यवस्था करने वाले कारण तो बतावें। अब यहाँ विशेषवादी यह कह रहे हैं कि देखिये ! द्रव्य गुण कर्ममें सत् है, सत् है। सत् है, सब है। इस प्रकार सत् सत्का निर्बाध ज्ञान बन रहा है। बस यह एक नियामक हेतु है कि द्रव्य, गुण, कर्ममें नहीं होता। इसके समाधानमें स्याद्वादी कहते हैं कि जैसे द्रव्य गुण कर्ममें सत् सत् ऐसा निर्बाध ज्ञान होता उसी प्रकार सामान्य आदिकमें भी तो यह है ऐसा सामान्यज्ञान होता है। द्रव्य सत् है गुण सत है, क्रिया सत् है, जैसे इन सबमें सत् सत्का निर्बाध ज्ञान हो रहा उसी प्रकार यह भी तो निर्बाध ज्ञान चल रहा कि सामान्य है विशेष है, समवाय है प्रागभाव है, प्रध्वंसाभाव है। तो इसमें भी सत् सत् का ज्ञान होता उनमें सत्ताका समवाय होता है ऐसा मानना पड़ेगा, तब सामान्य आदिकमें भी सत्ताका समवाय स्वीकार करना चाहिए। देखो ! सामान्य आदिकमें भी सत् है, सत है, इस प्रकारका निर्बाध ज्ञान बन रहा है, यदि सामान्य विशेष आदिकमें भी यह है, यह भी है इस प्रकार सत्त्वका ज्ञान नहीं होता तो फिर इसका अस्तित्व कैसे माना जाता ? यह चौकी है, इसलिए स्वयं सत् है।

सामान्य विशेषको सत् समवायसे सत् न मानकर स्वतः सत् मानने की युक्तियोंका शंकाकार द्वारा प्रतिपादन—यहाँ विशेषवादी उत्तर दे रहे हैं अपने पक्षको सिद्ध करनेके लिए कि देखिये ! सामान्य विशेष और अभाव ये तो अस्तित्व धर्मके सवभावसे सत् हैं, सत्ताके समवायसे नहीं, किन्तु द्रव्य गुण कर्म ये सत्ता के सम्बन्धसे सत् हैं। क्योंकि यदि कर्म आदिकमें सत्ताका समवाय मान लिया जायगा तो अनवस्था दोष आता है। यहाँ शङ्काकार कहे जा रहे हैं कि देखिये सामान्यमें अगर सत्ताका समवाय माना तो सत्ता तो सामान्य चीज है। उसका अर्थ है कि सामान्यमें दूसरे सामान्यका सम्बन्ध माना। यदि सामान्यमें दूसरे सामान्यकी कल्पना

की तो दूसरे सामान्यको सिद्ध करनेके लिए तीसरे सामान्यका सम्बन्ध मानना होगा। और इस तरह अनेक सामान्यका सम्बन्ध जुटाते रहना होगा। तो यों अनवस्था दोष आता है, कहीं भी विश्राम नहीं हो सकता। इस कारण सामान्यमें सत्ताका समवाय नहीं है। सामान्य तो अपने अस्तित्व धर्मके कारण सत् है। सामान्य तो अस्तित्व धर्म के कारण सत् है और द्रव्यादिकमें सत्ताका समवाय होनेसे सत् है। इसका सारांश क्या है ? उसमें भाव एक लोक व्यवहारकी अपेक्षासे लगा लीजिए जैसे कोई पूछे कि सामान्यका भेद लावे। सामान्यको दिखा दे। सामान्य कोई ऐसी व्यवहारकी बात नहीं है इसलिए उसकी खास सत्ता नहीं है। कल्पनामें सोचा तो सत् जचा। ऐसा जो बताया गया है अस्तित्व धर्मके कारण सत् और जिसको हम सत्ताका उडकर सद्भाव मान सकते हैं उन्हें बताया गया है सत्ताके समवायसे सत्। यहाँ विशेषवादमें अस्तित्व धर्मके होनेसे सत् और सत्ताके समयाय होनेसे सत्ताका भेद है। तो यहाँ यह दोष परिहार की बातकी जा रही है विशेषवादमें कि सामांयमें सत्ताका समवाय नहीं होता क्योंकि वहाँ अनवस्था दोष आयगा। अब आगे की और भी बात सुनो ! विशेषमें भी सत्ताका समवाय अगर माना जाय तो अर्थ तो यह हुआ ना, कि विशेषमें सामान्यका सम्बन्ध कराया गया तो विशेषमें अगर सामान्य माना जाता है तब एक सन्देहकी घटना उपस्थित हो जाती है। किस तरह सो सुनो ! अब विशेषमें सामान्य और मान लिया दो बात हो गई। विशेष भी है और सामान्य भी है तो संदेह जब कभी भी हुआ करता है लोगोंका तब इस तरह होता है कि विशेषका तो ज्ञान न होना किन्तु सामान्यका ज्ञान होना और उन दोनों वस्तुओंमें विशेषका स्मरण हो तब संशय होता है। जैसे किसीने यह संशय किया कि यह सीप है या चाँदी तो संशय कैसे उत्पन्न हुआ कि जो धर्म दोनोंमें पाये जा सकते थे। सीपमें भी फबते हों, चाँदमें भी फबते हों ऐसा धर्मका तो उसे ज्ञान हो रहा है और चाँदीमें जो खासियत है और सीपमें जो खासियत है उसका ज्ञान नहीं हो रहा और स्मरण हो रहा दोनोंका सीपका और चाँदीका तो सामान्यका ज्ञान हो विशेषका ज्ञान न हो और दोनों वस्तुओंका स्मरण हो तब संशय ज्ञान बना करता है। तो अब विशेषमें मान लिया सामान्य तो उस वक्त सामान्यका ज्ञान होनेपर विशेषका ज्ञान न होनेपर और दोनों वस्तुओंका इन दोनोंके लक्षणका स्मरण होनेपर संशय बन बैठेगा। तब उस संशयको दूर करनेके लिए फिर अन्य विशेष मानना पडेगा, फिर उस विशेषमें सामान्यका समवाय मानना होगा तो इस तरह यहाँ भी अनवस्था दोष आयगा क्योंकि अन्य अन्य विशेष, अन्य अन्य समवाय उनकी कल्पना करते ही रहनी पडेगी। यदि बहुत दूर जाकर भी किसी विशेषमें सामान्यका समवाय न माना तो पहिले ही क्यों न विशेषको समवाय सामान्य रहित मान लिया जाय ? इससे सिद्ध है कि विशेष सामान्य रहित विशेषमें भी सत्ताका समवाय नहीं होता।

समवाय व अभावोंको सत्ता समवायसे सत् न मानकर स्वतः सत्

माननेकी युक्तियोंका शङ्काकार द्वारा प्रतिपादन—अब समवाय पदार्थमें सत्ताका समवाय नहीं माना गया। इसकी युक्ति सुनो ! समवायमें सामान्यका रहना बन ही नहीं सकता, क्योंकि समवायको एक माना गया है और वह अनेकमें रह रहा है। समवाय तो एक माना गया है और समवाय कहा गया है उसे कि जो अनेकमें रहे। सो यों यदि समवायमें सामान्य मान लिया जाता तो वहां भी अनवस्था दोष आता है। समवायमें सामान्यका सम्बन्ध बनाया समवायके ही द्वारा। तो जैसे समवायके द्वारा यह सम्बन्ध बनाया उस समवायमें अन्य समवायका सम्बन्ध मानना होगा, फिर उसमें अन्य समवायका। इस तरह यहाँ भी अनवस्था दोष आता है। इससे समवाय के सम्बन्धमें एक यह बात माननी चाहिए कि सामान्य सत्ताके कारणसे सत नहीं है, किन्तु अस्तित्व धर्मके कारण सत है। विशेषवादी यहां यह सिद्धान्त बना रहे हैं कि द्रव्य, गुण कर्म तो सत्ताके समवायसे सत है और सामान्य विशेष समवाय ये मोक्ष अस्तित्व धर्मके कारणसे सत हैं। तो सामान्य विशेष समवायमें सत्ताका समवाय नही है यह बात बताई। अब सुनो कि प्रागभाव आदिक चार अभावोंमें भी सत्ताका समवाय नहीं है। क्योंकि प्रागभाव आदिकमें सत्ताका समवाय मान लेनेसे वह सत बन जायगा, अभाव नहीं रह सकता। तब ही तो अभावको अस्तित्वके कारण मानते हैं। सत मायने अभावका अस्तित्व है, लेकिन अभावमें अगर सत्ताका सम्बन्ध करदें तो वे पूरे सत बन जायेंगे। फिर अभावका अर्थ क्या रहेगा ? तो यों प्रागभाव आदिक अभावमें सत्ताका सम्बन्ध मान लेनेपर फिर उनमें अभावपनेका ही विरोध आयगा। तब प्रागभाव आदिक अभावमें जो अस्तित्वका ज्ञान होता कि है अभाव ! वह अस्तित्व धर्मके कारण जाना जाता, पर सत्ताके समवायसे नहीं जाना जाता। इस तरह अस्तित्व धर्मरूप विशेषणके सामर्थ्यसे सामान्य विशेष समवाय और अभावमें सतका ज्ञान मानना चाहिए, क्योकि अगर अस्तित्वके सम्बन्धसे सतका ज्ञान नहीं समझा जाता तो उनमें अस्तित्वका व्यवहार नहीं बन सकता। अभाव है ? हाँ है ! तो ऐसा जो अभावका हैपना बनाया वह सत्ताके सम्बन्धसे नहीं, किन्तु अस्तित्व धर्मके कारण है। तब देखिये ! अस्तित्व धर्मके कारण सत होनेमें और सत्ताके समवायसे सत होनेमें कितना बड़ा अन्तर आ गया ! तो स्वरूपतः सत होनेपर भी द्रव्य गुण कर्ममें ही सत्ताका समवाय है। सामान्य, विशेष समवाय और अभावमें सत्ताका समवाय नहीं।

सत् पदार्थोंमें स्वतः सत्त्व माननेकी समीचीनता दिखाते हुए उक्त शंकाओंका समाधान—उक्त शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि विशेषवादियोंका यह कथन करना युक्तिसङ्गत नहीं है। विशेषवादियोंने यह साबित किया है कि सामान्य, विशेष, समवाय, और अभावमें तो उपचरित सत्ता है, वास्तवमें सत्ता नहीं है किन्तु "यह है" ऐसा ख्याल बनता है इसलिए सत है। इसमें उपचरित सत्ता है। मुख्य सत्ता अगर सामान्य समवाय आदिकमें मान ली जाती तो अनवस्था आदि बाधायें

आती हैं, इसलिए उनमें वास्तविक सत्ता नहीं है, ऐसा विशेषवादियोंने कहा है। तो यहाँ यह बात विचारें कि द्रव्य, गुण, कर्ममें भी सत्ताका सम्बन्ध माननेकी आवश्यकता क्या ? उन्हें भी यह कह दीजिए कि द्रव्य आदिक भी अपने अस्तित्व धर्मके कारण सत् हैं। सत्ता सम्बन्धकी तरह अस्तित्व धर्मरूप विशेषणके समवायसे भी सत्ता बन जाती है। जैसे सामान्य आदिकसे तो यों कह दिया कि वह अस्तित्व धर्मके सामर्थ्यसे सत है और द्रव्यादिकको यों कह दिया कि वह सत्ताके समवायसे सत है तो सतपना तो अस्तित्व धर्मके सम्बन्धसे भी तो आयगा। सत्तासे अतिरिक्त अस्तित्व धर्मका ग्रहण करने वाला कोई प्रमाण नहीं है। याने सत्ता कहो या अस्तित्व कहो एक ही बात है। वहाँ ये दो भेद क्यों डाले जा रहे हैं कि कुछ है अस्तित्व धर्मके कारण सत और कुछ है सत्ताके समवायसे सत। सत्ता सम्बन्धको लेकर जो कथन किया गया है वैसा ही कथन अस्तित्व धर्मको लेकर भी किया जा सकता है क्योंकि सत्ता सम्बन्ध और अस्तित्व धर्म दोनों ही एक हैं। अस धातुसे ही सत्ता बना, अस धातुसे ही अस्तित्व बना। है का सम्बन्ध दोनोंमें है। तो उनमें भेद क्या हुआ कि कुछ है अस्तित्व भावसे सत और कुछ है सत्ताके समवायसे सत। यदि अस्तित्व धर्ममें और सत्तामें भेद डाल लिया जाता है तो अस्तित्व धर्ममें भी सत्ताका ज्ञान तो हो रहा है। जैसे सामान्यमें अस्तित्व है तो अस्तित्व भी तो है। तो अस्तित्वमें भी तो अस्तित्वका ज्ञान बन रहा है याने अस्तित्व धर्ममें भी सतका ज्ञान चल रहा है। तब अस्तित्वमें दूसरा अस्तित्व मानना पड़ेगा। फिर उस दूसरे अस्तित्वमें भी सतका ज्ञान है तो उसमें फिर तीसरा अस्तित्व मानना होगा। इस तरह वहाँ अस्तित्वकी कल्पना करते जाइये, कहीं विश्राम न मिलेगा। इससे मानलो कि अस्तित्व भी वही है और सत्त्व भी वही है।

किसी सत्में उपचरित अस्तित्व माननेपर अस्तित्वमें भी उपचरित अस्तित्व माननेसे अनवस्थाका प्रसङ्ग—उक्त आपत्तियोंके निराकरणके ध्यानसे शङ्काकार कह रहा है कि अस्तित्व धर्ममें तो उपचरित अस्तित्व है। आपत्ति यह दी गई थी कि अस्तित्व धर्मके कारण सामान्य आदिकको सत माना जा रहा है तो उस अस्तित्वमें भी तो 'है' का बोध होता है। तो उस अस्तित्वमें अस्तित्वका बोध करनेके लिए अन्य अस्तित्व मानना होगा। उस आपत्तिको दूर करनेके ध्येयसे शङ्काकार यह कह रहा है कि अस्तित्व धर्ममें जो अस्तित्वका बोध होता है वह उपचरित है, अस्तित्व मुख्य है। इसके उत्तरमें कहते हैं तब तो सामान्य आदिकमें भी उपचरित अस्तित्व मानें, क्योंकि सामान्य आदिकमें भी मुख्य अस्तित्वके माननेमें बाधायें आती हैं। सभी जगह यह ही ··· है कि मुख्यमें बाधा होनेसे ही उपचारमें परिणति हुआ करती है। और जब यों सामान्यमें विशेष समवायमें उपचरित अस्तित्व मानना पड़ा तो यों ही प्रागभाव आदिकमें मुख्य अस्तित्वके स्वीकार करनेमें बाधा आ रही है। इस कारण प्रागभाव आदिक अभावमें भी उपचारसे अस्तित्वका व्यवहार मानना चाहिए। और,

यहाँ तक ही बात नहीं रहती। देखिये ! द्रव्य, गुण, कर्ममें भी सत इस प्रकारका जो ज्ञान होता है उसे आप सत्ताके निमित्तसे होता है, यह कैसे सिद्ध कर सकेंगे, क्योंकि उसमें भी बाधक मौजूद है। बाधा यह है कि स्वरूपसे असत हैं वे द्रव्यादिक या स्वरूपसे सत हैं ? जिसमें कि सत्ता सम्बन्ध माना जा रहा है। जैसा विकल्प महेश्वरके सम्बन्धमें किया गया था महेश्वर स्वरूपसे सत है या असत है ? जिसमें कि ज्ञानका समवाय कराया जा रहा है उसी प्रकार यहाँ भी यह विकल्प होता है कि द्रव्य गुण कर्म स्वरूपसे सत् हैं या असत् जिसमें कि सत्ताका समवाय कराया जा रहा है ? यदि कहोगे कि स्वरूपसे असत् हैं वे द्रव्य गुण कर्म, जिनमें सत्ताका सम्बन्ध माना जा रहा तो स्वरूपसे असत्में सत्ताका सम्बन्ध माननेपर यह प्रसङ्ग आता कि जब द्रव्य गुण कर्म भी स्वरूपसे असत् हैं। और आकाश पुष्प भी स्वरूपसे असत् है फिर सत्ताका सम्बन्ध द्रव्य गुण कर्म आदिक ही क्यों हुआ ? आकाश पुष्पमें क्यों नहीं हो जाता ? क्योंकि स्वरूपसे असत् होनेकी बात दोनोंमें समान है। तो यों स्वरूपसे असत् द्रव्य गुण कर्ममें सत्ताके समवायकी कल्पना नहीं बन पाती। यदि कहो कि वे द्रव्य, गुण, कर्म स्वरूपसे सत् हैं उनमें सत्ताका सम्बन्ध होता है, तो यों माननेपर अनवस्था दोष आता है, क्योंकि सत्ता सम्बन्ध भी तो सत् है। तो सत्ता सम्बन्धसे सत् समझनेके लिए अन्य सत्ता सम्बन्धकी कल्पना की जायगी। द्रव्यमें तो सत्ताके सम्बन्धसे सत्त्व है और सत्ता सम्बन्धमें अन्य सत्ता सम्बन्धसे सत्त्व है। उसमें अन्य सत्ता सम्बन्धसे यों अनेक सत्ता सम्बन्ध मानने होंगे और अनवस्था दोष आयगा। यहाँ विशेषवादी कहते हैं कि सत्ता सम्बन्धमें और सत्ता सम्बन्ध नहीं माना जाता, क्योंकि अन्य सत्ता सम्बन्ध मानना व्यर्थ है। वह तो सत्ता ही है। इसके उत्तरमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि स्वरूपसे सत्तामें भी फिर सत्ताका सम्बन्ध मत मानो। जो स्वरूपसे सत है वह सत है ही। अब उसमें सत्ता सम्बन्ध माननेकी क्या आवश्यकता ? सत्ता सम्बन्ध मानना व्यर्थ है यह द्वितीय पक्ष चल रहा है कि स्वरूपसे सत द्रव्य गुण कर्ममें सत्ताका सम्बंध होता है। अरे जब वह स्वयं स्वतः सत है तो और सत्ता सम्बन्धकी बात क्यों उठे ? क्या कमी थी ? वह तो सत है ही। तो उनमें सत्ता सम्बन्ध मानना व्यर्थ है।

असाधारण सतोंमें अनुगत प्रत्यय बनानेके लिये सत्ता समवाय मानने की समीक्षा—यदि शङ्काकार यह कहे कि द्रव्य गुण कर्म इनमें जो स्वरूपसे सत्त्व माना है वह असाधारण सत्त्व है। जैसे वह व्यक्ति है वही असाधारण सत्त्व है तब उन असाधारण सत्त्वोंसे सत सत इस प्रकारका सामान्य अनुगत प्रत्यय नहीं बनता। सब सत हैं इस प्रकारका अनुगत प्रत्यय नहीं बनता। क्योंकि स्वरूपसे सत तो हैं वे द्रव्य, गुण, कर्म, मगर वह स्वरूप सत्त्व असाधारण है और उनसे अनुगत प्रत्यय न बन सकेगा इस कारण द्रव्य, गुण, कर्ममें असाधारण सत्ताके सम्बन्धकी कल्पना करनी पड़ी। क्योंकि द्रव्य गुण कर्म इनमें सामान्यतया सत है। ये सभी सत हैं।

इस प्रकार अनुगत प्रत्यय बन रहा है, सामान्य प्रत्यय बन रहा है। तो सामान्यतया सत्त्वके ज्ञानका कारणभूत है सामान्य सत्ताका सम्बन्ध। तो यों द्रव्य गुण, कर्ममें साधारण सत्ताके सम्बन्धकी कल्पना करना व्यर्थ नहीं है। इसके उत्तरमें कहते हैं कि ऐसी भी मान्यता शङ्काकारकी ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्य गुण कर्ममें जो सादृश्यमें इसका स्वरूप सत्त्व है स्वरूप जो सदृश था, जिस दृष्टिमें पाया जा रहा है उस सादृश्यात्मक स्वरूप सत्त्वसे ही सब सत इस प्रकारका सामान्य बोध बन जायगा क्योंकि जो कुछ भी साधारण और असाधारण सत प्रत्यय होता है वह सदृश और विसदृश परिणामोंकी सामर्थ्यसे ही होता है। द्रव्य गुण कर्ममें जिन जिन बातोंसे सदृशता पायी जा रही है उन दृष्टियोंसे सत सामान्यका बोध हो जायगा और जिन जिन लक्षणोंसे असाधारणता पायी जा रही है याने द्रव्यके जो खास लक्षण हैं उनसे वह द्रव्यकी ही सत्ता है अन्यकी सत्ता नहीं है। यों असाधारण सत्त्वका भी बोध होता है। तो सदृश और विसदृश परिणामोंके ही बलसे द्रव्य गुण कर्ममें साधारण और असाधारण सत्त्व प्रत्यय होता है। हाँ सर्वथा भिन्न हो कोई सत्ताका सम्बन्ध तो उसके बलसे सत यह सामान्य प्रत्यय हो नहीं सकता है। पदार्थ स्वरूपसे सत है और जब सभी पदार्थ स्वरूपतः सत हैं तो उनमें अनेक दृष्टियाँ ऐसी मिलेंगी कि जिनमें सबमें एक रूपसे सत्त्वका बोध होता है और कुछ दृष्टियाँ ऐसी मिलेंगी कि जिनमें असाधारण सत्त्वका बोध होता है। जो द्रव्यका सत्त्व है सो गुणका नहीं आदिक अन्य-व्यवच्छेद पूर्वक सत्त्वका बोध होता है। तो यह जो कुछ भी बोध होता है, तो यह जो कुछ भी बोध हुआ वह भिन्न सत्ताके सम्बन्धसे नहीं हुआ किन्तु वह स्वरूपसे ही सत है। उसमें फिर सत प्रत्ययका बोध होता है।

सत्ताके सम्बन्धसे सत् माननेपर "सत्" यह बोध न होकर 'सत्तवान्' ऐसे दो विधिके होनेका प्रसङ्ग—यदि सर्वथा भिन्न ही सत्ताका सम्बन्ध हो, और उसके बलसे फिर सामान्य सत प्रत्ययको माना जाय तो बात तो यही कही ना कि सत्ताके सम्बन्धसे सत बना। अरे सत्ताके सम्बन्धसे सत क्यों कहा ? सत्तावान द्रव्य कहें। द्रव्यमें सत्ताका सम्बन्ध है तो द्रव्य सत नहीं हुआ किन्तु सत्तावान हुआ। गुणमें सत्ताके सम्बन्धसे सत्व है तो गुणसत यों न कहें किन्तु सत्तावान गुण ऐसा कहना होगा। कर्ममें सत्ताका सम्बन्ध है तो यह कहना चाहिए कि सत्तावान कर्म है, फिर सत द्रव्य, सत गुण, सत कर्म, इस तरहका ज्ञान न होना चाहिए। लोकमें भी देख लो—कोई गाय उजाड़ करने वाली होती है तो लोग उसके गलेमें घंटा बाँध देते हैं ताकि यह विदित होता रहे कि यह गाय इस तरफ है। खेतमें नहीं है। तो गायके गलेमें कोई घंटा बाँध दे तो घंटाके सम्बन्धसे गायके प्रति ऐसा ही तो ज्ञान होता है कि घंटा वाली गाय न कि घंटा है यह गाय। घंटा गलेमें डाल दिया तो उस गायका ही नाम घंटा है, ऐसा कोई नहीं कहता किन्तु यह गाय घंटा वाली है यों ज्ञात होता

है। इसी तरह द्रव्य गुण कर्ममें सत्ताका सम्बन्ध माना जाय तो यों ज्ञान होना चाहिए कि सत्तावान द्रव्य, सत्तावान गुण व सत्तावान कर्म है, फिर वहाँ सत् द्रव्य आदिक रूपमें बोध न होना चाहिए।

लाठीके सम्बन्धसे पुरुषको लाठी कहे जानेकी तरह सत्ताके सम्बन्धसे सत् न कहकर 'सत्ता' ऐसे बोधका प्रसङ्ग व उपचरित सत्त्वका प्रसङ्ग— यदि शङ्काकार यह कहे कि देखो ! लाठीके सम्बन्धसे पुरुषको भी 'लाठी है' इस प्रकारका कह दिया करते हैं। तो इसी तरह सत्ताके सम्बन्धसे द्रव्य गुणमें भी ऐसा ज्ञान हो जायगा। इसके उत्तरमें कहते हैं कि यदि पुरुष और लाठीके दृष्टान्त माफिक यह ज्ञान करना चाहते हो तो सत्ताके सम्बन्धसे उपचरित ढङ्गसे द्रव्यको सत्ता कहना चाहिए, न कि सत् ! जैसे लाठीके सम्बन्धसे पुरुषको लाठी कहा जाता इसी तरह सत्ताके सम्बन्धसे द्रव्यको सत्ता ऐसा कहना चाहिए। वहाँ इसी तरह ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि पुरुष और लाठीके उदाहरणमें भेदका उपचार ही तो किया गया है। लाठी और पुरुष ये भिन्न भिन्न दो चीजें हैं, उनमें अभेदका उपचार किया है याने पुरुषको ही लाठी कह दिया है तो ऐसे ही भिन्न है सत्ता और भिन्न है द्रव्य। तो इन दो भिन्न पदार्थोंमें सत्ताका सम्बन्ध बताकर अभेदका उपचार करेंगे तो सत्ता इस तरहका ज्ञान होना चाहिए याने द्रव्यको, गुणको, कर्मको सत्ता कह देना चाहिये, पर सत् कह देनेकी बात तो सिद्ध नहीं होती और फिर इस स्थितिमें भी द्रव्य गुण कर्म जो सत्ताका नाम दिया गया सो उपचारसे ही बनेगा परमार्थसे नहीं। जैसे लाठी के सम्बन्धसे पुरुषको लाठी यह जो नाम दिया गया सो उपचारसे ही तो नाम बना, परमार्थसे नाम नहीं बना। इसी तरह भिन्न सत्ताके सम्बन्धसे जो द्रव्यमें सत्ताका नाम सो वह भी उपचारसे बना, परमार्थसे नहीं बना। अब यहाँ विशेषवादी कहते हैं कि देखिये ! हमारा अभिमत यह है कि जिस तरह सत्ता शब्द सत्ता सामान्यका वाचक है उसी तरह सत्ता शब्द भी सत्ता सामान्यका वाचक है। सत्ता बोलकर ज्ञान किसका हुआ ? सत्ता सामान्यका, न कि किसी खास चीजका ! इसी तरह सत्ता बोलकर भी बोध किसका हुआ ? सत्ता सामान्यका न कि किसी व्यक्ति का ! तो उसके मायने यह हुआ कि चाहे सत्ता शब्द कहो या असत्ता शब्द कहो, या कुछ भी कहकर सत्ता अर्थ निकाले या असत्ता अर्थ निकाले, इसमें कोई फर्क नहीं आता। वहाँ इस तरह भी कह दीजिये कि सत्ताके सम्बन्धसे द्रव्य सत् है, गुण सत् है, कर्म सत् है इस प्रकार व्यपदेश होता है। यहाँ सत् शब्द तो है भाववानवाची और सत्ता शब्द है भाववाची, तो भाववान वाचक शब्दको कहकर भी भावका कथन होता है। ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे। जैसे कहा गया है कि बिसाढ़ी, कुकुदवाली, यह गायपनेमें चिन्ह है तो यहाँ बोला गया है भाववान वाचक शब्दोंसे मगर बोध किसका हुआ ? भावका। गायमें कंधावानपना है, तो भाववान वाचक शब्द बोलकर भी भावका बोध किया जाता तो

इसी तरह भाववान वाचक शब्द है सत्, तो सत्को कहकर भी सत्ताका बोध हो जायगा। सारांश यह है कि यद्यपि सत् द्रव्य सत्तावानका याने भाववानका बोधक है फिर भी सत् शब्द भावका भी याने सत्ताका भी बोधक है। इस कारण सत्के संबंध से द्रव्य सत् है, गुण सत् है, इस प्रकारका विज्ञान उत्पन्न हो जाता है। उक्त शङ्काके समाधानमें स्याद्वादी कहते हैं कि सत्ता (सत्)के सम्बन्धसे किसी भी तरह उपचारत: सत मान लिया जाय तो वह उपचारसे ही सत् रहेगा। जैसे कि लाठीके सम्बन्धसे पुरुषमें लाठी है, इस प्रकारका जो बोध होता है वह उपचरित बोध है। कहीं पुरुष लाठी बन गया है ? लाठीका सम्बन्ध है, उसका ही नाम लाठी रख दिया है, पर वह उपचरित नाम है। जैसे कोई केला बेचने वाला केला लिए जा रहा है—केला लो, केला लो, इस तरह कहते हुए जा रहा है। अब जिसे केले लेनेकी जरूरत है वह प्राय: यों ही पुकारता है कि ऐ केला, यहाँ आओ ! तो केलावानमें जैसे केलाके सम्बन्धसे उस पुरुषको ही केला कह दिया है तो क्या वास्तवमें वह केला बन गया है ? वह तो उपचारसे केला यह संज्ञा रख रहा है। तो इसी तरह लाठीके सम्बन्धसे पुरुषको लाठी कहना यह भी उपचरित है। इसी तरह सत्के सम्बन्धसे द्रव्य, गुण, कर्मको सत् कहना यह भी उपचरित है।

सत्ता समवायसे सत् माननेपर अन्य दोष प्रसङ्गका दिग्दर्शन—अब यहाँ वैशेषिक कहते हैं कि देखिये ! लाठी और पुरुषमें तो संयोग सम्बन्ध है इस कारण पुरुष लाठी है, इस तरहका जो ज्ञान होता है उसे उपचरित मानना सही है, भिन्न वस्तु है, संयोग हुआ है। ऐसे पुरुषको लाठी कहा जाता, यह उपचरित ही बात है। लेकिन द्रव्य, गुण, कर्ममें जो सत्ताका ज्ञान होता है—द्रव्य सत् है, गुण सत् है, क्रिया सत् है, उसे उपचरित नहीं माना जा सकता क्योंकि द्रव्यादिकमें सत्ताका समवाय है, संयोग नहीं है। तो जहाँ संयोग हो वहाँ तो उपचार कथन कहा जा सकता, लेकिन जहाँ समवाय है वहाँ तो वास्तविकता है तो द्रव्य, गुण, कर्ममें सत्ताका समवाय है अत: उसे सत् कहना यथार्थतया है, उपचारसे नहीं है। इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि इस समवायके कारण वहाँ अनुपचरित बोध भी कर लिया जाय तो भी बोध इस तरह होना चाहिये कि जैसे अवयवमें अवयवीका समवाय है तो अवयवोंमें अवयवी है, यह इस तरहका बोध होना चाहिए, क्योंकि अवयवोंका सम्बन्ध किया गया ना, फर्क तो यह रहा कि उपचरित बोध न हुआ, अनुपचरित रहा। मगर बोधमें मुद्रा तो वह रहेगी। जैसे उपचरितमें वैसे ही अनुपचरिता, क्योंकि अन्यके सम्बन्धका बोध किया जा रहा है। जैसे लाठीके सम्बन्धसे पुरुषको लाठी कह दिया तो लाठी ही तो कहा। रहा वह उपचरित ज्ञान और अवयवोंमें अवयवीके समवायसे क्या कहा जायगा ? अवयवीमें जिसका सम्बन्ध कराकर ज्ञान किया गया है उसका ही तो नाम लिया जायगा। हाँ, यह बात शङ्काकारकी कल्पनासे हम मान लेंगे कि वह उपचरित

ज्ञान नहीं किया। यथार्थतया है, लेकिन नाम तो वह रखा जायगा जिसका सम्बन्ध बनाया जा रहा हो। तो इसी प्रकार द्रव्यको गुणका समवाय करके गुण नाम रखना चाहिए, गुणी नाम न रखना चाहिए। जिसका सम्बन्ध किया वही नाम रहेगा। भले ही वह उपचरित नहीं है। इतना भी मान लो, पर नामकी मुद्रा तो वह रहेगी कि जिसका सम्बन्ध कराया जा रहा है। इसी प्रकार कर्मका समवाय होनेसे ही कर्म यह नाम होना चाहिये। तो इस दशामें अवयवोंमें अवयव ज्ञान गुणोंमें गुण ज्ञान, क्रियावानमें क्रियावान इस तरहसे ज्ञान नहीं बन सकता जिसका सम्बन्ध कराया उसका ही नाम आयगा अवयवोंमे अवयवीके सम्बन्धसे यह अवयवी है, यह बोध होना चाहिए। द्रव्यमें गुणके समवायसे यह गुण है ऐसा बोध होना चाहिए। तो इस तरह सत्ता और समवायको सर्वथा भिन्न मानने वाले विशेषवादियोंके यहाँ स्वयं सिद्धान्तका विरोध आता है।

स्वतः सतो यथा सत्त्वसमवायस्तथास्तु सः।
द्रव्यत्वात्मत्वबोद्धृत्वसमवायोऽपि तत्त्वतः ॥ ७२ ॥

द्रव्यस्यैवात्मनो बोद्धुः स्वयं सिद्धस्य सर्वदा।
न हि स्वतोऽतथाभूतस्तथात्वसमवायभाक् ॥ ७३ ॥

स्वयं सत् द्रव्य, आत्मा, ज्ञाता मान लेनेकी अनिवार्यता—उक्त प्रकरणोंमें जब यह बात सिद्ध हुई कि सत्ता और समवाय भिन्न मानकर सत्तारहित, समवाय रहितमें सम्बन्ध मानना सिद्धान्तसे विरोध है तो उस निर्णयसे यह स्वीकार कर लेना उचित होगा कि स्वयं सत् पदार्थमें ही सत्ताका समवाय होता है और यों प्रकरणमें लगाओ कि स्वयं सत् महेश्वर हुआ, उसके ही सत्ताका समवाय माना जा सकता है क्योंकि जो सत् नहीं है उसमें सत्ताके समवायकी ठानी जाय तो यह प्रश्न खड़ा होता है कि स्वयं सत् महेश्वर नहीं, स्वयं सत् आकाश पुष्प नहीं, फिर सत्ताका समवाय या ज्ञानका समवाय महेश्वरमें ही क्यों लगाया जा रहा ? आकाश पुष्पमें क्यों नहीं लगाया जाता ? तो स्वयं सत् हुआ, उसमें यद्यपि सत्ताका समवाय माननेकी जरुरत नहीं है। फिर भी जो सत्ता समवाय माननेपर उठे हुए हैं उनका भी स्वयं सत् महेश्वर स्वयं सत् पदार्थकी सत्ताका समवाय स्वीकार करना चाहिए और इस तरह स्वयं द्रव्य हुआ। उसमें द्रव्यत्वका समवाय मानना चाहिए। स्वयं आत्मा है तो आत्मत्वका समवाय होगा। स्वयं ज्ञाता है, तो उसमें ज्ञातृत्वका समवाय होगा। याने समवाय तब ही माना जा सकता है किसी पदार्थमें कि जब वह पदार्थ स्वरूपतः वैसा ही हो। देखिए ! जो कथञ्चित सत् स्वभावसे परिणत है उसीकी ही सत्ताका समवाय बन सकता है, और जो कथञ्चित सत् स्वभावसे परिणत नहीं है उसमें सत्ताका सम-

वाय माननेमें बाधा आती है । बाधा यह आती कि जो सत् स्वभावसे परिणत तो है ही नहीं और उसमें सत्ताका समवाय माना जाता तो जो कुछ भी सत् स्वभावसे परिणत नहीं होता उनमें भी सत्ताका समवाय मान लेना चाहिए । तो जो सत् स्वभावसे परिणत है उसमें ही सत्ताका समवाय मानना उचित होता है । तो जिस तरह स्वतः सत् परिणतके सत्ताका समवाय माना है उसी प्रकार स्वयं द्रव्य गुणसे परिणतके द्रव्यत्वका समवाय मानना चाहिए । इसी प्रकार स्वयं आत्मरूपसे परिणतके आत्मत्व का समवाय मानना चाहिए और स्वयं ज्ञानरूपसे परिणत महेश्वरके ज्ञानका समवाय मानना चाहिए । जैसे नीलरूपसे परिणत जो नीलत्वका समवाय माना है उसी प्रकार जो स्वयं सत् स्वरूपसे परिणत हो उसमें सत्ताका समवाय मानना उचित है, उसी प्रकार महेश्वरमें जो ज्ञानका समवाय कहा जा रहा है वह एक स्वयं ज्ञानरूपसे परिणत महेश्वरके ही माना जा सकता है । बात तथ्यकी यह है कि जो उस प्रकारसे परिणत नहीं है वह सत्ता समवायसे युक्त होकर भी बन नहीं सकता है । यदि सत्ता स्वभावसे अपरिणतमें भी सत्ताका समवाय माना जाय तो प्रागभाव आदिक या आकाश पुष्प आदिक इनमें भी सत्ताका समवाय मान बैठना चाहिए । यह भी सत् स्वभावसे परिणत नहीं है । अतः प्रमाणसे यह सिद्ध बात हुई कि महेश्वरके सत्त्व द्रव्यत्व और आत्मत्व जैसे स्वयं उस रूपसे परिणतके माना जा सकता है उसी प्रकार स्वयं ज्ञानरूपसे परिणत महेश्वरके ज्ञातृत्वका समवाय माना जायगा और इस तरह बात यह सीधी सिद्ध हुई कि महेश्वर स्वयं ज्ञाता है । तो जब स्वयं ज्ञानरूपसे परिणत है तो उसमें ज्ञानका समवाय मानना भी व्यर्थ है । ज्ञानका समवाय करके उसे ज्ञाता मामनेमें कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । क्योंकि वह तो स्वरूपसे ज्ञाता है ।

स्वयं ज्ञाता महेश्वरमें ज्ञानके समवायकी कल्पनाकी निरर्थकता— यहां विशेषवादी कहते हैं कि महेश्वर स्वरूपसे ज्ञाता रहा आये फिर भी ज्ञातृत्वका समवाय माननेसे यह प्रयोजन पुष्ट होता है कि महेश्वर ज्ञाता है, इस प्रकारका व्यवहार बन जाता है । तो महेश्वर स्वयं ज्ञाता है फिर भी ज्ञानका समवाय उसमें इस कारण माना जा रहा है कि ज्ञानका समवाय मान लेनेके कारण महेश्वरमें ज्ञाताका व्यवहार बनने लगता है । इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि जब महेश्वर स्वतः ज्ञाता है तो स्वतः ही उसमें ज्ञाताका व्यवहार बन जायगा, क्योंकि जिसका जो अर्थ प्रसिद्ध है वहाँ उसका व्यवहार बनता ही है. यह बात अपने आप देखी ही जा रही है । जैसे आकाश प्रसिद्ध है तो आकाशमें सब लोग आकाश ऐसा व्यवहार बनाते हैं । कहीं आकाश तत्त्वका सम्बन्ध तो नहीं बनता । तो इसी तरह महेश्वर ज्ञाता है तो महेश्वर में ज्ञातापनका व्यवहार भी उसी परिणतिके कारण बन जाता है । कहीं ऐसा नहीं है कि महेश्वर ज्ञाता है फिर भी अज्ञ न कहा जाय इसलिए समवायकी कल्पना हो । यदि इस तरहका सन्देह रखा जाय तो आकाशमें भी आकाशत्वका समवाय मानना कि

कहीं अनाकाशको भी कोई आकाश न कह बैठे, इसलिए आकाशमें आकाशत्वका समवाय मानना पड़ेगा। सारांश यह है कि महेश्वर स्वयं ज्ञाता है इसलिए उसमें स्वयं ज्ञाताका व्यवहार बनता है। ज्ञानका समवाय माननेकी आवश्यकता नहीं है। यहाँ विशेषवादी कहते हैं कि आकाश तो एक है, तब आकाशमें आकाशत्व सम्भव नहीं है, तब आकाशकी व्यावृत्तिके लिए आकाशत्वका समवाय माननेकी कल्पना व्यर्थ है। स्वरूप निश्चयसे ही आकाशमें आकाश व्यवहार बन जाता है। इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि फिर तो स्वरूप निश्चयसे ही ज्ञाता ईश्वरमें ज्ञाताका व्यवहार बन जायगा वहाँ भी ज्ञान समवायकी कल्पना करना व्यर्थ है। वास्तविकता तो यह है कि जो ज्ञान पर्यायसे परिणत हो उसको ज्ञाता कहा जाता है। कहीं खुद तो ज्ञानरहित हो और भिन्न ज्ञानका समवाय हो तब उसे ज्ञाता कहा जाय, यह उचित नहीं है। यदि कोई ऐसा ही मानकर चलता है कि महेश्वरमें भिन्न अभेदज्ञानके समवायसे महेश्वर ज्ञाता होता है तब तो उसे ज्ञानसमवाय वाला कहो, ज्ञाता नहीं कह सकते। ज्ञाता तो वही होगा जो स्वयं ज्ञानरूपसे परिणत हो रहा हो। वास्तवमें यह बात प्रत्यक्षसे तो नहीं जानी जा रही कि आत्मा और ज्ञान ये सर्वथा अभिन्न हैं और सर्वथा भिन्न ज्ञानकी उत्पत्ति होनेपर आत्मा ज्ञाता बनता हो तथा सर्वथा भिन्न स्मरणके उत्पन्न होनेपर स्मरण करने वाला बनता हो, यह बात किसीको भी प्रतीत नहीं हो सकती। ज्ञाता वही है जो ज्ञानरूपसे परिणम रहा हो। भला कोई आत्मा स्मरण चीज हो और इस भिन्न स्मरणका सम्बन्ध जुटाया जाय तो उसे स्मरण वाला तो कह दो ! जैसे लाठीका सम्बन्ध जुटा दो तो लाठी वाला कह दो। तो ऐसे ही स्मरण ज्ञान और भोग इनका सम्बन्ध जुटानेपर इसे स्मरण वाला ज्ञान समवाय वाला, भोग समवाय वाला यों तो बक दीजिए, परन्तु उस आत्माको ज्ञाता कर्ता और भोक्ता नहीं कह सकते। जो उस ज्ञानरूपसे परिणत होगा वही ज्ञाता है जो स्मरणरूपसे परिणत है वही आत्मा कर्ता है। वास्तविकता यह है कि प्रतीतिके आधारपर ही तत्त्वकी व्यवस्था बनती है। कहीं कायदा कानून अलग बना लें और उससे व्यवस्था बनायें, सो बात नहीं होती। जितनी भी निर्बाध प्रतीति हो रही है वह सब वास्तविक प्रतीतिके आधारपर ही होती है और ऐसी वास्तविक प्रतीति करने वाले लोग यथार्थ व्यवहार करते हैं। ऐसे लोगोंको ही तत्त्वज्ञ समझना चाहिए। तो अब निष्कर्षमें इतनी बात समझ लीजिए कि महेश्वर ज्ञाता व्यवहारके योग्य है, क्योंकि वह प्रमाणसे ज्ञाता स्वरूप प्रतीत हो रहा है, सो जिस रूपसे प्रतीत हो उसको उसी प्रकारसे व्यवहारमें लाना चाहिए। जैसे सामान्य आदिक स्वरूपसे प्रतीत हो रहे सामान्य आदिक को उस तरहसे उपयोगमें ला रहे हों, उसी तरह ज्ञाता रूपसे परिणत हो रहे महेश्वर को ज्ञाता रूपमें मानना चाहिए। इस स्थितिमें ज्ञाता है महेश्वर, ऐसा व्यवहार करनेके लिए कहीं भिन्न ज्ञानके समवायकी कल्पनाकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु वह आत्मा ही स्वयं उस ज्ञ स्वरूपसे रह रहा है। तो यों समवाय कुछ न रहा, न ज्ञानका सम-

वाय करना पड़ा, किन्तु आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है और वही कर्मभूभृतोंको भेदकर विश्वका ज्ञाता बनता है।

तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानतादात्म्यमृच्छतः ।
कथञ्चिदीश्वरस्याऽस्ति जिनेशत्वमसंशयम् ॥७५॥
स एव मोक्षमार्गस्य प्रणेता व्यवतिष्ठते ।
सदेहः सर्वविन्नष्टमोहो धर्मविशेषभाक् ॥७६॥
ज्ञानादन्यस्तु निर्देहः सदेहो वा न युज्यते ।
शिवः कर्त्तोपदेशस्य सोऽभेत्ता कर्मभूभृताम् ॥७७॥

स्वपर प्रकाश ज्ञानात्मक ईश्वरके जिनेशत्व व मोक्षमार्ग प्रणेतृत्वकी सिद्धि—जब महेश्वर स्वयं ज्ञाता सिद्ध हो जाता है तो ज्ञानके समवायसे ज्ञानकी कल्पना करना निरर्थक हो गया, अतः स्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञानका अर्थात् स्वपरका निश्चय करने वाले ज्ञानको महेश्वरसे कथञ्चित अभिन्न मानना चाहिए और ऐसा मानना होगा। क्योंकि अयथार्थ मानकर कब तक चला जा सकता है ? युक्तियाँ अनुभूति उसका खण्डन कर देगी। तो यहाँ अब महेश्वरको उस ज्ञानसे अभिन्न मानना चाहिए और जब ऐसा मान लिया कि महेश्वर स्वपर प्रकाशात्मक ज्ञानसे अभिन्न है, तब विवाद ही क्या रहा ? केवल नाम ही दूसरा रख लिया गया। अब तो उस महेश्वरमें जिनेश्वरपना आ गया। चाहे महेश्वर कहो अथवा जिनेश्वर कहो, स्वरूप एक हो गया अर्थात् स्वपर प्रकाशक ज्ञानसे अभिन्न रहने वाला विशुद्ध आत्मा है, उस ही का नाम महान ईश्वर अथवा रागादिकका विजेता जिनेश्वर है, ऐसा ही जिनेश्वर मोक्षमार्गका प्रणेता होता है। चाहे महेश्वर कहो, ऐसा ही महेश्वर मोक्षमार्गका गमक सिद्ध होता है और वह सशरीर सर्वज्ञ वीतराग और धर्म विशेष वाला होना चाहिए। तब यहाँ कितनी बात सिद्ध हुई ? प्रथम तो यह बात माननी होगी कि कि महेश्वर जिनेश्वर वे पवित्र आत्मा ज्ञानसे भिन्न नहीं हैं। ज्ञानसे भिन्न माननेपर चाहे वह महेश्वर शरीर सहित हो या शरीर रहित हो, मोक्षमार्गके उपदेशका कर्ता नहीं हो सकता। क्योंकि वह कर्मपहाड़का भेदने वाला नहीं है, रागादिक कर्मोंका नाश करने वाला नहीं है। तब क्या मानना होगा कि जो वीतरागी है और सर्वज्ञ है और साथ ही शरीर वाला है, तीर्थंकर नामकर्मका भी जिसके उदय है, ऐसा पुरुष ही मोक्षमार्गका उपदेशक हो सकता है। यदि ऐसा मानते हो तब तो है वह मोक्षमार्गका प्रणेता, चाहे वह किसी भी नामसे कह लेवें।

स्वार्थ परिच्छेदक ज्ञानात्मक संदेह धर्मविशेषाभ्युदयी परमपुरुषके

मोक्षमार्गंप्रणेतृत्वकी सिद्धि प्रमाण बलमे यह बात सिद्ध हुई कि ज्ञान होता है स्वपर प्रकाशक। ज्ञान भी कहीं ऐसा नहीं है कि केवल स्वका प्रकाशक हो और परका प्रकाशक न हो, अथवा परका ही निर्णय करने वाला हो, स्वका निर्णय न करता हो। ज्ञान भी स्वपर प्रकाशक है और ऐसे ज्ञानसे अभिन्न ही आत्मा है। आत्माका स्वरूप ही है ऐसा ज्ञान जो स्वपर प्रकाशक है तो महेश्वरका उस ज्ञानसे सर्वथा भेद नहीं है। उस स्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञानसे महेश्वरको कथञ्चित अभेद स्वीकार करना चाहिए। जिसे समवाय कह रहे हो वह समवाय और है ही क्या? कथञ्चित तादात्म्यरूप हो वही समवाय कहलाता है। तब नाममें विवाद भले ही रहे पर अर्थमें विवाद न रहा। जो स्वार्थ निर्णयिक ज्ञानसे अभिन्न हो ऐसा जो भी पावन आत्मा है उसे चाहे जिनेश्वर कहो अथवा महेश्वर कहो, उसकी ही यहाँ चर्चा है कि वह मोक्षमार्गका प्रणेता होता है। तब कथञ्चित स्वपर प्रकाशक ज्ञानका तादात्म्य मान लिया तो ऐसे पुरुषके जिनेश्वरपना निश्चित होता है। महान ईश्वर है अतएव महेश्वर है तो नामका ही अन्तर रहा, अर्थमें कोई भेद न रहा, क्योंकि लक्ष्य तो यहाँ यह बना कि स्वपर प्रकाशक ज्ञानसे यह पावन आत्मा कथञ्चित अभिन्न है और इस कारण हम कह सकते हैं कि स्वपर प्रकाशक ज्ञानसे जो कथञ्चित अभिन्न है ऐसा पुरुष विशेष जिनेश्वर ही मोक्षमार्गका प्रणेता हो सकता है, क्योंकि वह सदेह और धर्म विशेष वाला तथा सर्वज्ञ वीतराग है। मोक्षमार्गका प्रणयन करनेके लिए धर्म विशेष जैसे तीर्थंकर प्रकृतिका उदय वहाँ मानते हैं ऐसे धर्म विशेष वाला होना ही चाहिए और जो ऐसे धर्म विशेष वाला है वह सदेह होगा। जो मोक्षमार्गका मुख्य प्रणेता नहीं है वह सही नहीं है, जैसे मुक्त जीव सिद्ध परमेष्ठी विशेषवाद सम्मत मुक्त आत्मा वह मोक्ष मार्गका प्रणेता नहीं है, संदेह भी नहीं है अथवा धर्म विशेष वाला भी नहीं है। जैसे अंतकृत केवली। तो जो धर्म विशेष वाला नहीं है वह भी मोक्षमार्गका प्रणेता नहीं है वह सर्वज्ञ वीतराग भी नहीं है। जैसे नगरोंमें गलियोंमें फिरने वाले अनेक लोग। अब यहाँ देखिये! कि जो सदेह हो धर्म विशेष वाला हो, सर्वज्ञ वीतराग हो वही मोक्षमार्गका प्रणेता हो सकता, यदि ऐसे महेश्वरको स्वीकार करें तो कोई आपत्ति नहीं है। चाहे महेश्वर कहो अथवा जिनेश्वर कहो, नाम भेद रहा मगर स्वपर प्रकाशकसे भिन्न माने किसी आत्माको, उसे चाहे महेश्वर नाम दो चाहे सदेह कहो या निर्देह कहो, वह मोक्षमार्गका प्रणेता हो ही नहीं सकता। मूल बात तो यह है कि कोई भी आत्मा हो वह ज्ञानके साथ तादात्म्य रखने वाला ही हो सकता है ऐसा कोई पुरुष जो कि ज्ञानसे भिन्न माना गया हो वह मोक्षमार्गका प्रणेता नहीं क्योंकि वह कर्म पर्वतको भेदने वाला भी नहीं हो रहा। जो कर्म पर्वतको भेदे नहीं वह सर्वज्ञ वीतराग भी नहीं। जैसे आकाश अथवा अभव्य जीव या संसारी आत्मा। तो जब वैशेषिकोंने महेश्वरको कर्मोंसे अछूता माना भेदन करने वाला नहीं माना तो वह सर्वज्ञ वीतराग नहीं हो सकता और इसी कारण वह मोक्षमार्गका प्रणेता भी नहीं हो सकता।